"HINDI KI DALIT AATMKATHAON MEIN ABHIVYAKT PARIVAR EVAM SAMAJ"

A Thesis submitted to the University of Hyderabad in partial fulfillment
of the requirement for the award
of
Doctor of Philosophy
in
Hindi
submitted

By

BIJAY KUMAR PRASAD

DEPARTMENT OF HINDI
SCHOOL OF HUMANITIES
UNIVERSITY OF HYDERABAD
HYDERABAD - 500046
TELANGANA, INDIA
JUNE, 2016

D E C L A R A T I O N

I, BIJAY KUMAR PRASAD, hereby declare that this thesis entitled "**HINDI KI DALIT AATMKATHAON MEIN ABHIVYAKT PARIVAR EVAM SAMAJ**" (हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त परिवार एवं समाज) submitted by me under the guidance and supervision of **DR. BHIM SINGH** is a bonafide research work. Which is also free from plagiarism. I also declare that it has not been submitted previously in part or full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in Shodhganga/INFLIBNET

Date: Name : **BIJAY KUMAR PRASAD**

(Signature of the Student)
Regd. No. 10HHPH13

Signature of Supervisor

C E R T I F I C A T E

This is to certify that the thesis entitled "**HINDI KI DALIT AATMKATHAON MEIN ABHIVYAKT PARIVAR EVAM SAMAJ**" (हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त परिवार एवं समाज) submitted by BIJAY KUMAR PRASAD Bearing Reg. No. 10HHPH13 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in Hindi is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance which is a plagiarism free thesis.

As far as I know the thesis has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Head of the Department

Signature of the Supervisor

Dean of the School of Humanities

भूमिका

किसी भी चेतना अथवा क्रांति के विकास में उसकी भावधारा की बहुत बड़ी भूमिका होती है। यह विचार और भावना के स्तर पर क्रांति की पहली तैयारी होती है। दलित साहित्य एक ऐसा ही साहित्य है, सामाजिक-क्रांति है। यह क्रांति उस ब्राह्मणवादी रीति-रिवाज, परम्परा और संस्कृति के खिलाफ है जिसने सदियों से धर्म के नाम पर वर्ण और जाति श्रेष्ठत्त्व के आधार पर दलितों को हाशिये पर धकेलकर बहिष्कृत एवं अपमानित जीवन जीने के लिए मजबूर किया है।

वर्तमान वैचारिक बहसों में जिन मुद्दों ने हिन्दी साहित्य की दिशा और दशा बदली है उनमें दलित-विमर्श प्रमुख है, जो अब तक मुख्यधारा के साहित्य से अलग हाशिये पर रखा गया था। हम सभी इस बात से भली-भाँती परिचित हैं कि भारत में सदियों से भारतीय समाज-व्यवस्था में धार्मिकता की ओट लेकर ब्राह्मणवादी सवर्ण तबके के लोग दलितों पर अनेक प्रकार से शोषण और अत्याचार करते आ रहे हैं, जो अब भी उसी जीवन्तता के साथ जारी है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्हें प्रताड़ित, अपमानित और शोषण का शिकार बनाया गया है और मानवीयता तथा सामाजिक समानता के अधिकारों से उन्हें वंचित किया गया है। साहित्य में दलित-विमर्श या दलित-क्रांति की शुरुआत बहुत पहले ही आदिकाल में सिद्धों एवं नाथों के द्वारा हो चुकी थी। जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था, बाह्याडम्बरों एवं जातिगत भेदभाव का प्रखर रूप में विरोध किया था। आगे यह रैदास, कबीर, ज्योतिबा फुले, रामास्वामी पेरियार तथा डॉ. आंबेडकर से होते हुए आज के दलित साहित्यकारों के माध्यम से वर्तमान समय में एक ज्वलंत प्रश्न के रूप में हमारे सामने उपस्थित है।

दलित साहित्य का लक्ष्य दलितों में चेतना पैदा करना एवं सामाजिक अस्मिता को प्राप्त करना है। देखा जाय तो यह हिन्दू जाति-व्यवस्था से एक लड़ाई भी है। यह लड़ाई केवल अपने ऊपर हो रहे शोषण के विरोध तक ही सीमित नहीं है बल्कि अपने सामाजिक हक एवं अधिकारों के प्रति भी है जिसे अब तक दलितों से छिनकर रखा गया है। डॉ. आंबेडकर ने संविधान में दलितों के सामाजिक, आर्थिक-विकास के लिए आरक्षण के अधिकार निर्मित किये, बावजूद इसके दलित अपने अधिकारों से आज भी वंचित है। इसलिए जरुरी है कि दलितों में चेतना का विकास हो जिससे अपने दिए गए स्वयं के

अधिकारों के लिए लड़ सके और यह चेतना शिक्षा के बगैर असंभव है। इसीलिए डॉ. आंबेडकर ने कहा था कि- 'शिक्षित बनो, संगठित होओ और संघर्ष करो'। शिक्षा ही वह मुख्य हथियार है जिससे दलितों का विकास संभव है। दलित चेतना के सम्बन्ध में प्रसिद्ध दलित चिंतक ओमप्रकाश वाल्मीकि का मानना है कि- "दलित व्यथा, दुःख, पीड़ा, शोषण का विवरण देना या बखान करना ही दलित चेतना नहीं है या दलित पीड़ा का भावुक और अश्रु-विगलित वर्णन, जो मौलिक चेतना से विहीन हो, चेतना का सीधा सम्बन्ध दृष्टि से होता है जो दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक भूमिका की छवि के तिलस्म को तोड़ती है। वह है-दलित-चेतना। दलित मतलब मानवीय अधिकारों से वंचित, सामाजिक तौर पर जिसे नकारा गया हो। उसकी चेतना यानी दलित चेतना है।"

भारतीय समाज-व्यवस्था बहुलतावादी है। इस समाज-व्यवस्था को पुख्ता आधार प्रदान करने में- विवाह, नातेदारी एवं परिवार-व्यवस्था की विशिष्ट भूमिका रही है। जिसके लिए वंश, कुल, गोत्र एवं जाति-व्यवस्था को धर्म के सांगठिक आधार से और सुदृढ़ किया गया। भारतीय समाज-व्यवस्था इस रूप में विभेदमूलक और विषमता को जन्म देने वाली है।

दलित साहित्य की बात करें यह ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था की ही देन है। जो दलितों की सम्पूर्ण वेदना, उत्पीड़न, वंचना, पीड़ा से उत्पन्न अभिव्यक्ति से सवर्ण समाज की व्यवस्था, संस्कृति व हिन्दू धर्म से ऊपजी मानसिकता का विरोध करता है। फलस्वरूप दलित साहित्य में इसका सशक्त विरोध सबसे पहले आत्मकथाओं के रूप में ही उभरकर लोगों के सामने आया है। इन आत्मकथाओं में दलितों के सामाजिक और पारिवारिक जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है। इन आत्मकथाओं में प्रमुख रूप से मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' और 'संतप्त', प्रो० श्यौराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', माता प्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन', डॉ. डी. आर. जाटव की 'मेरा सफ़र मेरी मंजिल', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द', रूपनारायण सोनकर की 'नागफनी', डॉ. धर्मवीर की 'मेरी पत्नी और भेड़िया', नवेन्दु महर्षि की 'इंसान से ईश्वर तक' (भाग-1), 'मेरे मन की बाइबिल' (भाग-

2), 'रुकी हुई रोशनी' (भाग-3), प्रो० तुलसीराम की 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका', डॉ. रमाशंकर आर्य की 'घुटन' आदि को देखा जा सकता है।

उपर्युक्त ये तमाम दलित आत्मकथाएँ न केवल एक दलित व्यक्ति की जीवन की कथा है बल्कि उसके अपने पूरे समाज की सच्चाई है। इन आत्मकथाओं की भावभूमि समाज में वर्चस्ववादी ताकतों द्वारा हाशिए पर धकेल दिए गए जीवन की यातनाओं की पहचान की चेतना से निर्मित होती है। इन आत्मकथाओं में समाज के उस भयावह एवं यातनापूर्ण वातावरण का चित्रण है जो अब तक हिन्दी साहित्य से लगभग अछूता रहा है। जिसके परिचय से एक बहुत बड़ा वर्ग जो अपने आप को अत्यधिक विवेकशील और प्रगतिशील समझता है तथा अपनी ही भलाई में पूरे समाज एवं देश की भलाई समझता है, अनजान बना हुआ है। एक दलित व्यक्ति को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विकास में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है? जाति का दंश उसके इस विकास में कैसे बाधक बनता है? यह किसी से छुपा नहीं है। दलित कितना भी शिक्षित हो जाए किन्तु आजीवन उसे जाति का अभिशाप भुगतना ही पड़ता है। दलित किस तरह आज भी धार्मिक-अंधविश्वासों, परम्पराओं, रूढ़ियों, ईश्वर में विश्वास करने जैसी इत्यादि पाखंडों से घिरा हुआ है, ये सब दलित आत्मकथाओं में आईने की तरह साफ-साफ देखा जा सकता है। ऐसा नहीं है कि दलित जीवन को लेकर हिन्दी साहित्य में रचना नहीं हुई। प्रेमचंद, निराला, फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन, जगदीशचंद्र, गिरिराज किशोर, मन्नू भंडारी आदि साहित्यकारों के लेखन में बखूबी यह देखा जा सकता है। लेकिन सब कुछ सतही-सा लगता है, इनमें वह वास्तविकता नजर नहीं आती जो इन दलित आत्मकथाओं में आती है। दलित आत्मकथाओं के लेखक अपनी जीवन कथा के माध्यम से इस खोखले समाज को बदलने के लिए, लोगों में समानता तथा भाईचारा का भाव पैदा करने के लिए क्रांति की प्रेरणा देते हैं। अज्ञेय का कथन है कि-'सच्चा साहित्यकार अपनी रचनाओं से संवेदना का विस्तार करते हुए समाज को बदलने के लिए क्रांति की प्रेरणा देता है और सामाजिक-क्रांति को प्रभावित करने के लिए रचनाएँ करता है। आज इस सामाजिक-क्रांति की महती आवश्यकता है।' आज के दलित साहित्यकार अपनी लेखनी से यही काम करते हुए दिखाई देते हैं जो सोवियत रूस में गोगोल, टालस्टाय, गोर्की, चेखव आदि ने, फ्रांस की राज्य क्रांति के लिए रूसो,

वाल्टेयर, मांटेस्क्यू ने, अमेरिका में दासों की मुक्ति के लिए मार्टिन लूथर किंग ने, अफ्रीका में नेल्सन मंडेला ने एवं भारत में महात्मा ज्योतिबा फुले और डॉ. आंबेडकर ने किया।

दलित-लेखकों ने अपनी आत्मकथाओं में बिना किसी अतिरिक्त भावावेश या काल्पनिक समाधान का सहारा लिए दलित जीवन के निर्मम यथार्थ को वस्तुपरक ढंग से प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि इन लेखकों की आत्मकथाएँ नकली विद्रोह और क्रांति की बात न करते हुए दलित राजनीति के प्रतिगामी चेहरों एवं संभ्रांत सवर्णों का दलितों के प्रति नकारात्मक व्यवहारों का चित्रण करती है। देखा जाय तो वर्तमान समय में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में दलित विमर्श से सम्बंधित कई मुद्दों पर विवाद की स्थिति है। मसलन दलित साहित्य किसे कहा जाय? दलित साहित्य के प्रतिमानों के निर्धारण का आधार क्या है? गैर-दलित लेखकों ने दलितों के बारे में सहानुभूति और पक्षधरता के साथ जो लिखा है उसके इस विमर्श का नजरिया कैसा होना चाहिए? क्या दलित-अस्मिता को सवर्ण समाज के विरोध में खड़ा करके ही परिभाषित किया जा सकता है? क्या दलित-विमर्श अखिल भारतीय स्तर पर दलितों की अस्मिता और उसकी पीड़ा को अभिव्यक्ति दे पा रहा है? आदि-आदि। दलित-विमर्श के सन्दर्भ में इन प्रश्नों पर विचार करना वर्तमान समय में प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण अर्थ रखता है। प्रस्तावित शोध-प्रबंध में इन्हीं विषयों पर विचार करते हुए हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में चित्रित दलित परिवार एवं समाज तथा उसकी चेतना पर विचार किया गया है।

भारत में हो रहे सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विकास से दलित समाज कितना और किस रूप में प्रभावित हो रहा है और अपने अधिकारों एवं अस्मिता की पहचान को लेकर अब भी किस प्रकार से जूझ रहा है? इस संकट की व्यापक पड़ताल इस शोध-कार्य का प्रमुख लक्ष्य है।

इसलिए अपने शोध-विषय 'हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त परिवार एवं समाज' को मैंने शोध-कार्य की दृष्टि से पाँच अध्यायों में विभक्त किया है।

प्रथम अध्याय है- 'भारतीय समाज-व्यवस्था और दलित'- इस अध्याय के अंतर्गत परिवार और समाज का अर्थ, अवधारणा और स्वरुप की चर्चा की गई है और साथ ही भारत में परिवार और समाज का स्वरुप कैसा है? इसकी व्यापक पड़ताल की गई है। साथ ही भारतीय समाज की संरचना और

स्थिति विभिन्न कालों में कैसी रही है? तथा उन कालों में दलित कहे जाने वाले समाजों की स्थिति कैसी रही? इस पर भी प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय है 'दलित साहित्य : अवधारणा एवं स्वरुप'- इसके अंतर्गत दलित कौन हैं या किसे कहा जाय? जिसके सम्बन्ध में अब भी विवादास्पद स्थितियाँ बनी हुई है इस पर विचार किया गया है। वहीं दलित साहित्य और उसके लेखन, दलितों के सवाल एवं विमर्श तथा दलित वैचारिकता का विकास पर भी प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय है- 'आत्मकथा की संस्कृति और हिन्दी आत्मकथाओं की प्रकृति'- इस अध्याय में आत्मकथा की संस्कृति की परम्परा पर विचार किया गया है। आत्मकथा के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण पर विचार किया गया है। साथ ही हिन्दी में आत्मकथाओं की आजादी के पहले और आजादी के बाद प्रकृति कैसी रही है? इसकी भी जांच-पड़ताल की गई है। और हिन्दी में दलित आत्मकथाओं की पृष्ठभूमि एवं उनका परिचयात्मक-विवेचन इस अध्याय के अंतर्गत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय है- 'दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त परिवार एवं समाज'- इस अध्याय में दलित-परिवार और समाज का चित्रण जो इन आत्मकथाओं में हुआ है वह किस हद तक और कितना यथार्थ है? इसका अध्ययन भी इसमें किया गया है। दलितों की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्थितियाँ कैसी रही हैं? और उनमें समय के साथ क्या-क्या परिवर्तन हुआ है? इसकी जाँच-पड़ताल की गई है। दलितों की पारिवारिक एवं सामाजिक-स्थिति क्या वैसी ही है जैसे पहले थी या उनमें बदलाव भी हुआ है? अगर हुआ तो वह कितना हुआ है? उनके साथ सामाजिक भेदभाव का व्यवहार क्या अब भी हो रहा है या नहीं? इन सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों की खोज इन आत्मकथाओं के माध्यम से की गयी है।

पंचम अध्याय है- 'हिन्दी दलित आत्मकथाओं का वैशिष्ट्य'- इसके अंतर्गत आत्मकथाओं की सामाजिक-यथार्थ के स्तर पर क्या भूमिका है और वह साहित्य और समाज को किस हद तक एक-दूसरे से जोड़ती हैं? इस पर विचार किया गया है| साथ ही नव्य इतिहास लेखन की संभावनाओं,

नामकरण की सार्थकता, आम-आदमी का चित्रण, सोद्देश्यपरक लेखन, कथा कहने की शैली, भाषिक स्तर पर सामाजिक प्रयुक्तियाँ और शिल्प आदि जैसी विशेषताएं आत्मकथाओं को प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त करने में सक्षम हो पा रही हैं की नहीं? इन बिन्दुओं पर भी विचार किया गया है।

प्रस्तावित शोध-कार्य पर अनुमति प्रदान करने के लिए मैं विभाग की शोध सलाहकार समिति एवं सभी प्राध्यापकों का आभारी हूँ। वर्तमान विभागाध्यक्ष प्रो. आर. एस. सर्राजु जी, डॉ. एम. श्यामराव जी एवं डॉ. गजेन्द्र कुमार पाठक जी ने जो महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये, इसके लिए मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

शोध-विषय के निर्धारण से लेकर शोधकार्य पूर्ण होने तक मेरे शोध-निर्देशक डॉ. भीमसिंह जी ने मेरी जो सहायता की वो मेरे लिए अविस्मरणीय है।

अपने शोध-कार्य के दौरान मुझे अभिषेक प्रताप सिंह और प्रमोद शर्मा जैसे मित्र मिले जिनकी मित्रता इस शोध-ग्रन्थ की भांति मेरे लिए उपलब्धि है। जो मेरे जीवन के सुख-दुःख में ये बराबर के हिस्सेदार रहें। इनकी मित्रता मुझे समय-समय पर मानसिक संबल प्रदान करती रही। इनसे ये आशा करूँगा कि ये अपना प्रेम और स्नेह मेरे ऊपर सदैव बनाए रखे। इन मित्रों के अतिरिक्त बीरेन्द्र, राकेश, विवेक सिंह, सुरेन्द्र, विवेक दुबे और जनार्दन भैया जैसे मित्रों ने भी मेरे शोध-कार्य में मुझे सहायता पहुँचाई। इन सबका मैं हृदय से आभारी हूँ।

अंततः मैं अपने माता-पिता और अपने परिवार का ऋणी हूँ जिनके आशीर्वाद और विश्वास के कारण मैं सभी प्रकार की चिंताओं से मुक्त होकर अपने शोध-कार्य को पूर्ण अंजाम दे सका।

अनुक्रमणिका

पृष्ठ सं.

भूमिका i - vi

प्रथम अध्याय : भारतीय समाज-व्यवस्था और दलित **1 - 67**

1.1 परिवार : अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप

1.2 भारत में परिवार-व्यवस्था

1.2.1 विवाह

1.2.1.1 अंतर्विवाह

1.2.1.2 बहिर्विवाह

1.2.1.3 अनुलोम विवाह

1.2.1.4 प्रतिलोम विवाह

1.2.2 नातेदारी

1.2.2.1 रक्त-सम्बन्धी नातेदारी

1.2.2.2. विवाह सम्बन्धी नातेदारी

1.3 समाज : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

1.4 भारत में समाज-व्यवस्था

1.5 परिवार और समाज का अन्तःसंबंध

1.6 भारतीय सामाज-व्यवस्था के आधार-तत्व

1.6.1 प्रजाति

1.6.2 वर्ण

1.6.3 जाति

1.6.4 वर्ग

1.6.5 लैंगिक

1.7 भारतीय समाज-व्यवस्था एवं दलित

1.7.1 सिंधु घाटी सभ्यता में समाज

1.7.2 वैदिक कालीन समाज

1.7.3 उत्तर-वैदिक कालीन समाज

1.7.4 जैन और बौद्ध काल में समाज

1.7.5 मध्यकालीन समाज

1.7.6 ब्रिटिश काल में समाज

1.7.7 आजादी के बाद का समाज

1.7.8 भूमंडलीकरण के दौर में समाज

द्वितीय अध्याय : दलित साहित्य : अवधारणा और स्वरुप 69-89

2.1 दलित कौन ?

2.2 दलित-लेखन और दलित-साहित्य

2.3 दलितों के सवाल एवं विमर्श

2.4 दलित वैचारिकता का विकास

तृतीय अध्याय : आत्मकथा की संस्कृति और हिन्दी आत्मकथाओं की प्रकृति 91-115

3.1 आत्मकथा की संस्कृति

3.1.1 आत्मकथा सम्बन्धी पाश्चात्य दृष्टिकोण

3.1.2 आत्मकथा सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोण

3.2 हिन्दी आत्मकथाओं का परिचयात्मक : विवेचन

3.2.1 आजादी-पूर्व आत्मकथा-लेखन

3.2.2 आजादी-पश्चात आत्मकथा-लेखन

3.3 हिन्दी दलित आत्मकथाओं की पृष्ठभूमि

3.4 हिन्दी दलित आत्मकथाओं का संक्षिप्त परिचय

चतुर्थ अध्याय : हिन्दी दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त परिवार एवं समाज 117-220

4.1 पारिवारिक -स्थिति

4.1.1 ग्रामीण-परिवार

4.1.2 शहरी-परिवार

4.1.3 परिवार में स्त्रियों की स्थिति

4.1.4 परिवार में बालकों की स्थिति

4.1.5 परिवार में शिक्षा की स्थिति

4.1.6 दलित समाज में वैवाहिक -स्थिति

4.1.6.1 बाल-विवाह

4.1.6.2 विधवा-विवाह

4.1.6.3 वैवाहिक संबंध विच्छेद

4.1.7 दलित समाज में गोत्रीय-प्रणाली और रिश्तेदारी

4.1.8 पारिवारिक-विघटन तथा पलायन

4.1.9 आर्थिक आधार पर परिवार एवं समाज की स्थिति

4.1.9.1 अतिनिम्नवर्गीय परिवार

4.1.9.2 निम्नवर्गीय परिवार

4.1.9.3 निम्नमध्यवर्गीय परिवार

4.1.9.4 मध्य-मध्यवर्गीय परिवार

4.2 दलित समाज की सामाजिक-स्थिति

4.2.1 सामाजिक-परिवेश

4.2.2 शैक्षणिक-स्थिति

4.2.3 आर्थिक-सुरक्षा का अभाव

4.2.4 स्वास्थ्य-सुविधा का अभाव

4.2.5 जागरूकता का अभाव

4.2.6 सांस्कृतिक-परिवेश

4.2.7 हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री की सामाजिक-स्थिति

4.3 हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त दलित समाज की आर्थिक-स्थिति

4.4 हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त राजनीतिक समाज की स्थिति

4.5 हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त धार्मिक और सांस्कृतिक समाज

पंचम अध्याय : हिन्दी दलित आत्मकथाओं का वैशिष्ट्य 222-242

5.1 यथार्थ के स्तर पर

5.2 सामाजिक यथार्थ का चित्रण

5.3 नव्य-इतिहास लेखन की असीम संभावनाएँ

5.4 नामकरण का वैशिष्ट्य

5.5 परम्परागत धार्मिक पूर्वाग्रह की भर्त्सना

5.6 आम-आदमी का चित्रण

5.7 सोद्देश्यपरक-लेखन

5.8 साहित्य और समाज के अन्तःसम्बन्ध

5.9 रचना की संरचना में समाज अन्तर्निहित

5.10 प्रस्तुति या कथा कहने की शैली

5.11 भाषिक स्तर पर सामाजिक प्रयुक्तियाँ

5.12 शिल्प

उपसंहार **244-250**

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची **252-259**

1. आधार-ग्रंथ

2. सहायक-ग्रंथ

3. पत्र-पत्रिकाएँ

4. वेब-सामग्री

प्रथम अध्याय

भारतीय समाज-व्यवस्था और दलित

प्रथम अध्याय

भारतीय समाज-व्यवस्था और दलित

भारतीय समाज-व्यवस्था विश्व की प्राचीनतम समाज-व्यवस्थाओं में से एक है। भारत में आज जो लोग मौजूद हैं वे किसी एक प्रजाति अथवा सभ्यता के नहीं हैं, बल्कि विभिन्न जगहों से आकर बसे हुए लोग हैं। जिसमें नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़, आर्य, यूनानी, शक, आभीर, हूण, मंगोल, मुस्लिम और तुर्क इत्यादि जातियाँ शामिल हैं। डॉ० अम्बेडकर कहते हैं कि "सुविख्यात नृ-शास्त्रियों के मतानुसार भारतीय समाज आर्यों, द्रविड़ों, मंगोलों और सिथियनों का मिश्रण हैं। ये लोग सदियों पहले जब कबायली जिंदगी व्यतीत कर रहे थें, तब अपनी-अपनी संस्कृतियों के साथ भारत पहुंचे। अपने से पहले आये लोगों को पराजित कर इन जातियों ने अपने लिए जगह बनाई और काफी लड़ाई-झगड़े के बाद शांति-प्रिय पड़ोसियों की भाँति बस गए।"[1] इस मिश्रण समाज में विभिन्न धर्म, संप्रदाय और संस्कृतियों को मानने वाले लोग एक साथ रहते हैं। जहाँ सबकी अपनी अलग-अलग परम्पराएँ हैं, रूढ़ियाँ हैं, रीति-रिवाज हैं। विभिन्न धार्मिक मतों एवं सम्प्रदायों के लोगों के होने के बावजूद भी भारत देश हिन्दू राष्ट्र (देश) के रूप में जाना जाता है।

हिन्दू समाज-व्यवस्था का जो स्वरुप हमें आज दिखाई दे रहा है वह बहुत कुछ अपने प्राचीन अर्थों से बदल चुका है। लेकिन वास्तविक रूप से इस समाज-व्यवस्था की नींव पूरी तरह वेद, पुराण, स्मृतियों तथा हिन्दू ब्राह्मण धर्म ग्रंथों पर टिकी हुई है। जहाँ समाज को वर्ण और जातियों में विभाजित किया गया है। विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ 'ऋग्वेद' के पुरुष सूक्त में चार वर्णों का उल्लेख किया गया है, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में जाने जाते हैं। जहाँ श्रेष्ठता के क्रम में ब्राह्मण सबसे ऊपर तथा शूद्र सबसे नीचे माना जाता है। एक ऐसी व्यवस्था जिसमें समानता के सिद्धांत का कोई स्थान ही नहीं है। यह वह व्यवस्था है, जिसमें वर्णों को एक-दूसरे के ऊपर श्रेणीबद्ध किया गया है। यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें वर्णों की प्रतिष्ठा तथा कार्य-निर्धारण निश्चित है। हिन्दू समाज-व्यवस्था एक कठोर व्यवस्था है।

[1] डॉ. अम्बेडकर के भाषण, पृष्ठ सं.- 8

उसे इस बात से कोई लेना-देना नहीं है कि "किसी व्यक्ति के पद और प्रतिष्ठा में अपेक्षाकृत परिवर्तन हो, लेकिन वह जिस वर्ण में पैदा हुआ है, उस वर्ण के सदस्य के रूप में उसकी सामाजिक स्थिति दूसरे वर्ण के दूसरे व्यक्ति के सन्दर्भ में किसी भी तरह से प्रभावित नहीं होगी। उच्च वर्ण में जन्में और निम्न वर्ण में जन्में व्यक्ति की नियति उसका जन्मजात वर्ण ही है।"[2] ऐसे में वर्ण का सिद्धांत आज भी इस वैश्वीकरण और पूंजीवाद के दौर में अपनी जड़ें मजबूती के साथ जमाए हुए है।

भारतीय समाज में दलितों की सामाजिक स्थिति आज भी कुछ वैसी ही है जो हजारों साल पहले थी। चाहे वह वैदिक काल हो, सामंती काल हो, मुग़ल काल हो, ब्रिटिश काल या फिर आजादी के बाद का समय ही क्यों न हो। आजादी के फलस्वरूप संविधान में मिले आरक्षण के द्वारा दलित पढ़-लिख कर नौकरियों में आने लगे हैं, यहाँ तक की भारत के राष्ट्रपति, राज्यों के मुख्यमंत्री भी बने हैं, लेकिन गाँवों में दलितों की स्थिति में आज भी कोई विशेष बदलाव नहीं हुआ है। राजनीति के क्षेत्र में, शिक्षा के क्षेत्र में, नौकरियों के क्षेत्र में अब भी वे बहुत पीछे ही हैं। ऐसा नहीं की वे इसके योग्य नहीं है बल्कि सवर्णों द्वारा जान-बूझकर उन्हें पीछे रखने की साजिश लगातार रची जा रही है। जमींदारी उन्मूलन के बावजूद भी आज सवर्णों के पास सैकड़ों एकड़ जमीन है, जबकि दलित के पास औसतन 2-3 बीघे भी नहीं। ऐसे में वह आज भी भूख की समस्या से जूझ रहा है और वह गांवों में सवर्णों के यहाँ गुलामी करने के लिए मजबूर है। वैश्वीकरण और पूंजीवाद के दौर में हम यह कह सकते हैं कि परिस्थितियाँ बहुत बदली है। जो एक हद तक ठीक भी है। लेकिन क्या लोगों की मानसिकता दलितों के प्रति अब भी बदल पाई हैं? सामाजिक समानता के दौर में लोग अब भी सजातीय विवाह के पक्षधर हैं। अपनी ही जातियों में विवाह को प्राथमिकता देते हैं। गाँवों में खाने-पीने से लेकर रीति- रिवाजों तक में एक-दूसरे से भेदभाव किया जाता है। धार्मिक-व्यवस्था का पालन आज भी उसी दृढ़ता के साथ किया जाता है। लोकतांत्रिक समाज में शहरों में एक हद तक बदलाव स्वीकार कर भी लिया जाय, तो भी गाँवों की स्थिति लगभग उसी परम्परा के आधार पर चल रही है।

[2] बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय (खण्ड-6), पृष्ठ सं.- 146

1.1 परिवार: अर्थ, परिभाषा और स्वरूप- किसी भी समाज की संरचना मानवीय समूहों जो एक पारिवारिक इकाई के रूप में रहते हैं, से मिलकर बनता है। इस सामाजिक निर्माण में कई तरह के तत्त्व शामिल होते हैं। जिसमें आपसी सहयोग, प्रेमभाव, एक-दूसरे के सुख-दुःख बाँटने की प्रवृत्ति और आपसी समानता एवं स्वतंत्रता का भाव होना अति आवश्यक होता है। यह एक तरह से मानव समूह के अंतर्गत व्यक्तियों के सम्बन्धों की व्यवस्था होती है। परिवार सामाजिक जीवन की सबसे छोटी, महत्त्वपूर्ण और प्राथमिक इकाई होती है। अतः परिवार मानव समाज के संगठन की प्राथमिक इकाई होने के नाते उसके समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को समझना भी बहुत जरुरी है।

'परिवार' शब्द अंग्रेजी के 'Family' का हिन्दी रूपान्तर है। यह शब्द मिडिल इंग्लिश के शब्द 'Familie' से बना है जिसका उद्गम लैटिन शब्द 'Familia' से हुआ है। 'परिवार' के कई अर्थ लगाये जाते हैं। लेकिन परिवार का सीधा-सीधा अर्थ माता-पिता और उसकी संतानों से लगाया जाता है। जो एक स्थान पर अथवा अलग रहते हों से लगाया जाता है। साथ ही यह एक ऐसी सामाजिक इकाई के रूप में भी जानी जाती है जिसमें कुछ मनुष्य एक साथ मिलकर परस्पर सहयोग भाव के साथ रहते हैं। जिसमें दादा-दादी, माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि कई तरह के आपसी रिश्ते होते हैं। लेकिन इन रिश्तों के बावजूद भी परिवार का मुख्य आधार विवाहित स्त्री-पुरुष का संबंध ही माना जाता है। इस प्रकार एक परिवार में पति-पत्नी और उनकी सन्तान प्रमुखतः होती है।

परिवार के सन्दर्भ में कई विद्वानों ने अपने- अपने विचार व्यक्त किये हैं-

'मैकाइवर और पेज' के अनुसार - "परिवार पर्याप्त निश्चित यौन-सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।"[3] ये परिवार को एक सीमित दायरे में ही देखते हैं जहाँ केवल पति-पत्नी और उसके बच्चे के संबंधों तक ही उसका दायरा रहता है।

'बर्गेस' तथा 'लॉक'के अनुसार - "परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह कहा जा सकता है जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेने के संबंधों द्वारा संगठित है, एक छोटी-सी गृहस्थी का निर्माण करते हैं और

[3] ग्रामीण समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-219

पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन के रूप में परस्पर अन्तःक्रियाएँ करते हैं अथवा अपने-अपने सामाजिक कार्यों के रूप में एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं तथा एक सामान्य संस्कृति को बनाते हैं और उसकी रक्षा करते हैं।"[4]

आगबर्न तथा निमकॉफ कहते हैं कि - "परिवार लगभग एक स्थायी समिति है जो पति-पत्नी से निर्मित होती है। चाहे उनके संतान हों या नहीं हों। परिवार किसी एक पुरुष या एक स्त्री के अकेले का भी हो सकता है बशर्ते कि उसके अपने बच्चे साथ हों।"[5]

'मजूमदार' के अनुसार - "परिवार उन व्यक्तियों का एक समूह है, जो एक ही छत के नीचे रहते हैं, जो मूल तथा रक्त सम्बन्धी सूत्रों से सम्बद्ध होते हैं तथा स्थान, हित और कृतज्ञता की अन्योन्याश्रितता के आधार पर जाति की जागरूकता रखते हैं।"[6]

'क्लेयर' के अनुसार - "परिवार से हम सम्बन्धों की वह व्याख्या समझते हैं, जो माता-पिता और उनकी सन्तानों के बीच पाई जाती है।"[7]

'रॉल्फ' के अनुसार - "परिवार मानव जाति के उदय के साथ-साथ ही अस्तित्व में आया- नई पीढ़ी के पालन-पोषण के लिए, स्त्री जाति की सुरक्षा के लिए तथा पति-पत्नी के पारस्परिक साहचर्य के लिए।"[8]

'ए. डी. रॉस' परिवार के संदर्भ में अपनी कृति 'हिन्दू फेमेली इन इट्स अरबन सेटिंग' में लिखते हैं कि परिवार की समाजशास्त्रीय परिभाषा ऐसी होनी चाहिए जो एकाकी तथा संयुक्त दोनों प्रकार के परिवारों को परिभाषित कर सके। इसलिए परिवार की परिभाषा में कहते हैं कि- "परिवार मनुष्यों का एक समूह है, सामान्यतया एक विशेष प्रकार के बन्धुत्व सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं, जो एक गृहस्थी में रह भी सकते हैं और उनकी एकता कर्त्तव्य और अधिकार, भावना और सत्ता के प्रतिमानों में विद्यमान है।"[9]

---

[4] ग्रामीण समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-219

[5] ग्रामीण समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-219

[6] www.sahityakunj.net/Pustak/SamajAurSanskriti_Amrit/03_paarivaarik_jeevan

[7] www.sahityakunj.net/Pustak/SamajAurSanskriti_Amrit/03_paarivaarik_jeevan

[8] www.sahityakunj.net/Pustak/SamajAurSanskriti_Amrit/03_paarivaarik_jeevan

[9] ग्रामीण समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-220

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम देखते हैं कि परिवार के अन्दर सामूहिकता, मान्यता प्राप्त सम्बन्ध, विवाह-सम्बन्ध, रक्त सम्बन्ध, गोद सम्बन्ध, बन्धुत्वता आदि जैसे तत्व होना आवश्यक है। इसलिए हम कह सकते हैं कि 'परिवार एक ऐसी संस्था है जिसमें व्यक्तियों का समूह होता है जो विशिष्ट बन्धुत्व सम्बन्धों (विवाह, रक्त और गोद) से सम्बंधित होते हैं जो समाज द्वारा मान्य-प्राप्त होते हैं, वे साथ-साथ अथवा अलग-अलग भी रह सकते हैं, सदस्यों में परस्पर यौन-संबंधों की व्यवस्था, प्रजनन, समाजीकरण, सामाजिक नियन्त्रण, कर्त्तव्य और अधिकार, भावना एवं सत्ता के प्रतिमान आदि से सम्बंधित सम्बद्धता होती है।

इन सब विद्वानों के विचारों को देखते हुए तथा अपने अनुभव व चिन्तन के आधार पर हम परिवार की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं – 'मानव हृदय की भावनाओं व उसके संस्कारों पर आधारित, परिवार सीमित आकार वाला एक ऐसा स्थायी व सार्वभौम संगठन है, जो पति-पत्नी, उनकी सन्तान व निकट सम्बन्धियों की उत्तरदायित्व की भावना से पल्लवित होता है तथा सामाजिक जीवन की एक ऐसी महत्वपूर्ण इकाई के रूप में जिसपर सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचा आधारित होता है, सन्तानोत्पत्ति, विवाह व वंश नाम के आधार पर व्यवस्थित व स्थाई होता है'।

विश्वस्तर पर परिवार के कई रूप पाए जाते हैं और यह स्वरूप समय और परिस्थितियों के हिसाब से बदलता रहा है। जिससे परिवार के वर्गीकरण के कई आधार बन जाते हैं। समाजशास्त्री जे.पी. सिंह ने परिवार के वर्गीकरण के निम्नलिखित आधार बताये हैं-

"(1) निवास के आधार पर - (क) मातृस्थानीय परिवार, (ख) पितृस्थानीय परिवार, स्थानीय परिवार,(घ) मातुल स्थानीय परिवार।

(2) वंशक्रम के आधार पर- (क) मातृवंशीय परिवार, (ख) पितृवंशीय परिवार।

(3) प्रभुत्त्व के आधार पर- (क) मातृसत्तात्मक परिवार, (ख) पितृसत्तात्मक परिवार।

(4) विवाह के आधार पर- (क) एक-विवाही परिवार, (ख) बहुविवाही परिवार।

(5) आकार के आधार पर- (क) दाम्पत्य या मूल परिवार, (ख) संयुक्त परिवार, (ग) विस्तृत परिवार।"[10]

अतः परिवार के स्वरूप का निर्धारण बहुत कुछ उपरोक्त आधारों पर ही निर्भर करता है।

1.2 भारत में परिवार-व्यवस्था- भारत में परिवार के आधुनिक काल में दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं। एक रूप वह जिसमें परिवार के समस्त सदस्य मिलकर एक साथ एक ही छत के नीचे रहते हैं। ऐसे परिवार 'संयुक्त परिवार'कहलाते हैं। दूसरे वे परिवार जिनमें एक परिवार के व्यक्ति किन्हीं विशेष कारणों से अन्य सदस्यों से अलग दूसरे घर में रहने लगते हैं। ऐसे परिवार सम्बन्ध टूट जाने के कारण 'असंयुक्त या एकल परिवार'कहलाते हैं। इस प्रकार हमें परिवार के दो रूप दिखाई देते हैं - (1) एकल परिवार (2) संयुक्त परिवार।

भारतीय समाज में दोनों परिवारों का स्वरुप देखा जा सकता है। लेकिन महत्ता प्राचीनकाल से ही संयुक्त परिवार की रही है, जिसे आज भी देखा जा सकता है। ग्रामीण समाज में अभी भी संयुक्त परिवार की ही बहुलता है। वैश्वीकरण के दौर में मनुष्य की महत्वाकांक्षाओं ने संयुक्त परिवार को तोड़कर एकल परिवार को जन्म दिया है। फिर भी संयुक्त परिवार की महत्ता उतनी ही मानी जाती है जितनी की प्राचीनकाल में थी। संयुक्त परिवार में रहते हुए परिजनों के कार्यों का वितरण आसान हो जाता है। साथ ही भावी पीढ़ी को सुरक्षित वातावरण एवं स्वास्थ्य पालन-पोषण द्वारा मानव का भविष्य भी सुरक्षित होता है तथा उसके विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।

आज भी संयुक्त परिवार को ही सम्पूर्ण परिवार माना जाता है। वर्तमान समय में एकल परिवार को एक मजबूरी के रूप में ही देखा जाता है। हमारे देश में आज भी एकल परिवार को मान्यता प्राप्त नहीं है। यह बात सही है कि औद्योगिक विकास के चलते आज संयुक्त परिवारों का बिखराव हो रहा है। परन्तु आज भी संयुक्त परिवार का महत्त्व कम नहीं हुआ है। फिर भी संयुक्त परिवार के बिखरने के कुछ कारण भी हैं। संयुक्त परिवारों के बिखरने का मुख्य कारण है रोजगार पाने की आकांक्षा। बढ़ती जनसंख्या

[10] समाजशास्त्र के मूलतत्व, पृष्ठ सं.- 74

तथा घटते रोजगार के कारण परिवार के सदस्यों को अपनी जीविका चलाने के लिए गाँव से शहर की ओर या छोटे शहर से बड़े शहरों को जाना पड़ता है। परंपरागत कारोबार या खेती-बाड़ी की अपनी सीमायें होती हैं जो परिवार के बढ़ते सदस्यों के लिए सभी आवश्यकतायें जुटा पाने में समर्थ नहीं होती। अतः परिवार को नए आर्थिक स्रोतों की तलाश करनी पड़ती है। जब अपने गाँव या शहर में नयी सम्भावनायें कम होने लगती हैं तो परिवार की नयी पीढ़ी को रोजगार की तलाश में अन्यत्र जाना पड़ता है। अब उन्हें जहाँ रोजगार उपलब्ध होता है वहीं अपना परिवार बसाना होता है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं होता की वह नित्य रूप से अपने परिवार के मूल स्थान पर जा पाए। कभी-कभी तो सैंकड़ो किलोमीटर दूर जाकर रोजगार करना पड़ता है। संयुक्त परिवार के टूटने का दूसरा महत्वपूर्ण कारण नित्य बढ़ता उपभोक्तावाद है। जिसने व्यक्ति को अधिक महत्वकांक्षी बना दिया है। अधिक सुविधाएँ पाने की लालसा के कारण पारिवारिक सहनशक्ति समाप्त होती जा रही है, और स्वार्थपरता बढ़ती जा रही है। अब वह अपनी खुशियाँ परिवार या परिजनों में नहीं बल्कि अधिक सुख साधन जुटा कर अपनी खुशियाँ ढूंढता है, और संयुक्त परिवार के बिखरने का कारण बन रहा है। एकल परिवार में रहते हुए मानव भावनात्मक रूप से विकलांग होता जा रहा है। अनेक मजबूरियों के चलते हो रहे संयुक्त परिवारों के बिखराव के वर्तमान दौर में भी संयुक्त परिवारों का महत्त्व कम नहीं हुआ है। बल्कि उसका महत्व आज भी बना हुआ है। उसके महत्त्व को एकल परिवार में रह रहे लोग अधिक अच्छे से समझ पाते हैं। उन्हें संयुक्त परिवार के फायदे नजर आते हैं। क्योंकि किसी भी वस्तु का महत्त्व उसके अभाव को झेलने वाले अधिक समझ सकते हैं।

दूसरी तरफ संयुक्त परिवार के लाभ भी हैं। परिवार के प्रत्येक सदस्य की सुरक्षा की जिम्मेदारी सभी परिजन मिलजुल कर निभाते हैं। अतः किसी भी सदस्य की स्वास्थ्य समस्या, सुरक्षा समस्या, आर्थिक समस्या पूरे परिवार की होती है। कोई भी अनापेक्षित रूप से आयी परेशानी सहजता से सुलझा ली जाती है। जैसे यदि कोई गंभीर बीमारी से जूझता है तो भी परिवार के सब सदस्य अपने सहयोग से उसको बीमारी से निजात दिलाने में मदद करते हैं और इस तरह उसे कोई आर्थिक समस्या या रोजगार की

समस्या आड़े नहीं आती। ऐसे ही गाँव में या मोहल्ले में किसी को उनसे पंगा लेने की हिम्मत नहीं होती, संगठित होने के कारण पूर्णतया सुरक्षा मिलती है। व्यक्ति हर प्रकार के तनाव से मुक्त रहता है।

परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक होने के कारण कार्यों का विभाजन आसान हो जाता है। प्रत्येक सदस्य के हिस्से में आने वाले कार्य को वह अधिक क्षमता से कर पाता है। और विभिन्न अन्य जिम्मेदारियों से भी मुक्त रहता है। अतः तनाव मुक्त होकर कार्य करने में अधिक ख़ुशी मिलती है। उसकी कार्य क्षमता अधिक होने से कारोबार अधिक उन्नत होता है। परिवार के सभी सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति अपेक्षाकृत अधिक हो सकती है और जीवन उल्लास पूर्ण व्यतीत होता है।

संयुक्त परिवार में बच्चों के लिए सर्वाधिक सुरक्षित और उचित शारीरिक एवं चारित्रिक विकास का अवसर प्राप्त होता है। बच्चे की इच्छाओं और आवश्यकताओं का अधिक ध्यान रखा जा सकता है। उसे अन्य बच्चों के साथ खेलने का मौका मिलता है। माता-पिता के साथ-साथ अन्य परिजनों विशेष तौर पर दादा-दादी का प्यार भी मिलता है। जबकि एकाकी परिवार में कभी-कभी तो माता-पिता का प्यार भी कम ही मिल पाता है यदि दोनों ही कामकाजी हैं तो। दादा-दादी से प्यार के साथ ज्ञान और अनुभव भी भरपूर मिलता है। उनके साथ खेलने तथा समय बिताने से मनोरंजन भी होता है उन्हें संस्कारवान बनाना, चरित्रवान बनाना एवं स्वस्थ बनाने में अनेक परिजनों का सहयोग प्राप्त होता है। एकाकी परिवार में यह सब संभव नहीं हो पाता।

आर्थिक व्यय के सन्दर्भ में देखा जाय तो बाजार का नियम है कि यदि कोई वस्तु अधिक परिमाण में खरीदी जाती है तो उसके लिए कम कीमत चुकानी पड़ती है। अर्थात् संयुक्त रहने के कारण कोई भी वस्तु अपेक्षाकृत अधिक मात्र में खरीदनी होती है अतः बड़ी मात्रा में वस्तुओं को खरीदना सस्ता पड़ता है। दूसरी बात अलग अलग रहने से अनेक वस्तुएं अलग-अलग खरीदनी पड़ती है जबकि संयुक्त रहने पर कम वस्तु लेकर काम चल जाता है।

किसी विपत्ति के समय, परिवार के किसी सदस्य के गंभीर रूप से बीमार होने पर पूरे परिवार के सहयोग से आसानी से पार पाया जा सकता है। जीवन के सभी कष्ट सब के सहयोग से बिना किसी को विचलित किये दूर हो जाते हैं। कभी भी आर्थिक समस्या या रोजगार चले जाने की समस्या उत्पन्न नहीं होती क्योंकि एक सदस्य की अनुपस्थिति में अन्य परिजन कारोबार को देख लेते हैं।

संयुक्त परिवार में सभी सदस्य एक दूसरे के आचार-व्यवहार पर निरंतर निगरानी बनाए रखते हैं, किसी की अवांछनीय गतिविधि पर अंकुश लगा रहता है। अर्थात् प्रत्येक सदस्य चरित्रवान बना रहता है। किसी समस्या के समय सभी परिजन उसका साथ देते हैं और सामूहिक दबाव भी पड़ता है कोई भी सदस्य असामाजिक कार्य नहीं कर पाता।

अतः कुल मिलाकर देखा जाय तो भारतीय परिवार संयुक्त और एकल दोनों रूपों में मौजूद है। लेकिन प्रधानता संयुक्त परिवारों की ही है। संयुक्त परिवार से टूटकर एकल परिवार होने के बावजूद भी पिता-पुत्र में एक आत्मिक रिश्ता बना होता है, तथा सुख-दुःख में वे हमेशा एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं।

भारतीय समाज के अन्तर्गत प्राचीनकाल से पारिवारिक संस्था का अत्यधिक महत्त्व रहा है। यह समाज की एक ऐसी महत्वपूर्ण इकाई मानी जाती है, जो समाज के स्थायित्व, वृद्धि और अस्तित्व का प्रमुख आधार है। इसी ने व्यक्तियों को परस्पर विभिन्न सम्बन्धों में बाँटा तथा उनके हृदय में समाजवाद और मानवतावाद जैसी भावनाओं को जन्म दिया। क्योंकि अपने सुख का त्याग दूसरे के लिए, व्यक्ति सर्वप्रथम परिवार में ही सीखता है। इसके अतिरिक्त परिवार व्यक्ति को धार्मिक, मानसिक शान्ति और सुरक्षा भी देता है।

परिवार की संरचना में जो दो तत्व प्रमुख भूमिका निभाते है, वे हैं- विवाह और नातेदारी। बिना विवाह के या नातेदारी के एक परिवार की कल्पना लगभग असंभव सी है। अगर हम सर्वप्रथम विवाह की बात करें तो विवाह एक तरह का स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध है। और नातेदारी का अर्थ सीधा-सीधा घर-परिवार में रहनेवाले लोगों के बीच का सम्बन्ध। यह सम्बन्ध उन परिवारों के बीच भी होता है जहाँ दो परिवार शादी-विवाह द्वारा आपसी रिश्ते कायम करते हैं।

1.2.1 विवाह- विवाह की बात करें तो "विवाह शब्द संस्कृत भाषा के 'उद्‌ह' शब्द से बना है जिसका अर्थ है वधू को वर के घर ले जाना।"[11] लेकिन विभिन्न समाजों में विवाहों का सामान्य रूप में जो अर्थ लगाया जाता है वह भारतीय समाज के विवाह से कुछ भिन्न है। इसे हम निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं-

बोगार्डस के अनुसार – " 'विवाह स्त्रियों और पुरुषों को पारिवारिक जीवन में प्रवेश करवाने की एक संस्था है'। डब्लू. एच. आर. रिवर्स कहते हैं कि- 'जिन साधनों द्वारा मानव समाज यौन-संबंधों का नियमन करता है, उन्हें विवाह की संज्ञा दी जाती है'।"[12]

मजूमदार और मदान मानते हैं कि- "इसमें (विवाह में) कानूनी या/और धार्मिक आयोजनों के रूप में उन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है जो दो विभिन्न लिंगियों को यौन-क्रिया और उनसे सम्बंधित सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों में सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करती है।"[13]

इस आधार पर कह सकते हैं कि विवाह समाज और कानून द्वारा दिया हुआ वह अधिकार है जिसके माध्यम से स्त्री-पुरुष परिवार की स्थापना करते हैं। साथ ही यौन इच्छा की पूर्ति, संतान की उत्पत्ति, बच्चों का पालन-पोषण और पति-पत्नी तथा संतानों में परस्पर सामाजिक, आर्थिक, कानूनी अधिकार एवं कर्त्तव्य की भावना होती है।

विवाह की संस्था प्रत्येक देशों एवं उनके समाजों में अलग-अलग हैं उनका उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न है, भारत में भी ऐसा ही है। लेकिन जब भारतीय समाज में विवाह की बात की जाती है तो अक्सर लोग इसका अर्थ हिन्दू-विवाह से लेते हैं। क्योंकि भारत में "हिन्दू जातियों की संख्या सबसे अधिक है, लेकिन इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि हिन्दू विवाह ही भारतीय विवाह है। इस तरह का भ्रम दूर हो जाना चाहिए।.....यदि इस देश में हिन्दू जातियाँ निवास करती हैं तो यहाँ सिख भी हैं, मुसलमान भी हैं, आदिवासी भी हैं, पारसी भी हैं, जैन भी हैं और न जाने और कितने ही एथनिक समूह हैं। प्रत्येक एथनिक

[11] ग्रामीण समाजशास्त्र पृष्ठ सं.-246
[12] ग्रामीण समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-246
[13] ग्रामीण समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-246

समूह की अपनी एक पृथक् संस्कृति होती है और इसी पृथकता के आधार पर विवाह की पद्धति भी बदल जाती है। कहीं विवाह एक धर्म विधि है, कर्मकांड है, कहीं विवाह एक समझौता मात्र है, और कहीं पर विवाह अदालत की मोहर का मोहताज है।"[14] विवाह की इतनी विविधताओं के बावजूद भी समाज में विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना जाता है। हिन्दू हो, इसाई हो, मुस्लिम हो, सिक्ख हो, यहूदी हो आदि सभी धर्मों में विवाह का सम्बन्ध धर्म या धार्मिक ग्रंथों से ही होता है।

हिन्दू समाज में विवाह की महत्ता को प्रमुख माना गया है। धर्मशास्त्रों के अनुसार उसी व्यक्ति को पूर्ण माना जाता है जो वैवाहिक रिश्तों द्वारा गृहस्थी बसाकर पति-पत्नी के रूप में अपने बच्चों के साथ रहता हो, और जो ऐसा नहीं करता वो अपवित्र और अधूरा माना जाता है। हिन्दू विवाह के संदर्भ में के. एम. कापड़िया जी मानते हैं कि हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है। जो जन्म-जन्मान्तर तक चलने वाला एक अटूट सम्बन्ध है। इसलिए वे कहते हैं कि- "विवाह प्राथमिक रूप से कर्तव्यों की पूर्ति के लिए होता है, इसलिए विवाह का मौलिक उद्देश्य धर्म हैं। हिन्दुओं में काम-वासना को कभी भी महत्त्व नहीं दिया जाता है जैसा कि पश्चिम के समाजों में होता है। हिन्दू विवाह में धर्म का स्थान प्रथम है, पुत्र प्राप्ति का द्वितीय और काम वासना (रति) का तृतीय। हिन्दुओं में विवाह एक अत्यावश्यक धार्मिक संस्कार एवं कर्त्तव्य माना गया है।"[15] अतः हम देख सकते हैं कि हिन्दू समाज में विवाह का प्रमुख उद्देश्य धर्म, पुत्र-प्राप्ति, रति, व्यक्तित्व का विकास, सामाजिक कर्तव्यों का पालन, पारिवारिक उत्तरदायित्व आदि हैं।

शास्त्रकारों ने हिन्दू विवाह के कई प्रकार माने हैं। जिनमें ब्रह्म विवाह, दैव विवाह, आर्ष विवाह, प्रजापत्य विवाह, असुर विवाह, गन्धर्व विवाह, राक्षस विवाह, पैशाच विवाह आदि माने जाते हैं। इस तरह की विवाह पद्धति धर्म ग्रंथों में देखा जा सकता है जो प्राचीन काल में भी रही होगी। लेकिन इन विवाह पद्धति के अलावा हिन्दू समाज जो जातियों में विभक्त है उनके कुछ निश्चित नियम भी हैं। जाति द्वारा निर्धारित ये नियम अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं, जिसके द्वारा विवाह साथी को चुना जाता है। और

[14] भारतीय समाज : संरचना एवं परिवर्तन, पृष्ठ सं.-187

[15] भारतीय समाज : संरचना एवं परिवर्तन, पृष्ठ सं.-190

इसका पालन कठोरता से किया जाता है। विवाह के इन नियमों को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है-

1.2.1.1 अंतर्विवाह- इस नियम के अंतर्गत एक व्यक्ति जिस विशिष्ट समूह का सदस्य है वह उसी समूह में विवाह कर सकता है। उस समूह से बाहर विवाह नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए- ब्राह्मण जाति का व्यक्ति अपनी ही जाति में, और शूद्र जाति का व्यक्ति अपनी ही जाति में विवाह करेगा।

1.2.1.2 बहिर्विवाह- बहिर्विवाह से तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति अपने निकट सम्बन्धियों के समूह से के बाहर विवाह करे। अर्थात् "अपने गोत्र, पिण्ड और प्रवर से बाहर के समूहों में विवाह करना। सिद्धांत यह है कि अपने ही रक्त समूह में विवाह करना संतति को विघटन की ओर ले जाता है।"[16]

लेकिन कहीं-कहीं बहिर्विवाह के समूह का निर्धारण धर्म और क्षेत्र के अनुसार अलग-अलग भी होता है। जैसे कि- उत्तर भारत और दक्षिण भारत। बहिर्विवाह के दो नियम माने गए है- (क) बहिर्गोत्र विवाह, और (ख) बहिर्सपिण्ड विवाह।

(क) बहिर्गोत्र विवाह- बहिर्गोत्र विवाह मतलब है कि अपने गोत्र से बाहर विवाह करना अर्थात् एक गोत्र के लोग आपस में विवाह नहीं कर सकते। क्योंकि यह माना जाता है कि एक ही गोत्र के सभी सदस्य एक ही पूर्वज के वंशज होते हैं और इस कारण उनके बीच भाई-बहन का सम्बन्ध होता है।

(ख) बहिर्सपिण्ड विवाह- सपिंड का अर्थ है- जीवित सदस्यों और उनके दिवंगत पूर्वजों के बीच सम्बन्ध। क्योंकि "कुछ लोग मानते हैं कि पिता पक्ष के सात पीढ़ियों के सदस्यों और माता पक्ष की पाँच पीढ़ियों के सदस्यों के बीच विवाह नहीं होना चाहिए। कुछ अन्य लोगों ने पिता पक्ष की पाँच

[16] भारतीय समाज : संरचना और परिवर्तन, पृष्ठ सं.-196

पीढ़ियों तक और माता पक्ष की तीन वर्जित पीढ़ियों के सदस्यों के बीच विवाह का निषेध किया है।"[17] उत्तर भारत में तो नहीं लेकिन दक्षिण भारत में ममेरे/फुफेरे संतानों के बीच विवाह की अनुमति है।

1.2.1.3 अनुलोम विवाह- इस प्रकार के विवाह में वर और वधू की सामाजिक श्रेणी, जाति, वर्ण, कुल आदि देखे जाते हैं। इसमें पति का स्थान पत्नी के स्थान से हमेशा ऊँचा ही रहता है। अर्थात् वर की सामाजिक स्थिति उच्च और वधू की निम्न होती है। उदाहरण के रूप में- अगर ब्राह्मण लड़के का विवाह क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र लड़की से होता है तो ऐसा विवाह अनुलोम विवाह कहलाता है। ऐसे विवाह प्राचीन काल में मान्य थे, जो अभी नहीं है।

1.2.1.4 प्रतिलोम विवाह- यह अनुलोम विवाह के ठीक विपरीत होता है। इसमें वधू उच्च श्रेणी की और वर निम्न श्रेणी का होता है। जैसे कि –ब्राह्मण लड़की का विवाह क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र लड़के से। स्मृतिकारों ने समाज में इस प्रकार के विवाहों को कभी मान्यता नहीं दी है। लेकिन शिक्षा ने आजकल के लोगों के बीच ऐसे नियमों का निषेध कर दिया है।

आज के आधुनिक समाज में उपर्युक्त विवाह की पद्धतियों का पालन बहुत कम हो रहा है। शहरों की बात करें तो इया प्रकार की विवाह पद्धतियाँ बहुत कम दिखाई देती है। लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में अब भी वही प्राचीन पद्धति अपनाई जाती है और उसे अपनाने पर जोर दिया जाता है। अपनी ही जाति और गोत्र में शादी करने की परंपरा समाज में अब भी प्रचलित है।

1.2.2 नातेदारी- 'नातेदारी' का अर्थ परिवार या समाज में व्यक्तियों के बीच आपसी रिश्तों का सम्बन्ध। जैसाकि- परिवार में माना जाता है की भाई, भाभी, चाचा-चाची, मौसा-मौसी, नाना-नानी आदि सबका एक-दूसरे से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध होता हैं। ये सम्बन्ध ही नातेदारी कहलाती है। इनमें "हमारे कुछ नातेदार हमसे रक्त (Blood) से जुड़े हैं और दूसरे नातेदार विवाह (Marriage) से जुड़े हुए हैं। हमारा भाई और उनके बच्चे हमसे रक्त से जुड़े हैं। इन्हें हम रक्त सम्बन्धी

[17] भारतीय समाज : संरचना एवं परिवर्तन, पृष्ठ सं.- 197

नातेदारी (Blood Kinship) कहते हैं। दूसरी ओर हमारी भाभी हमारी नातेदार तो है लेकिन उसके साथ हमारा सम्बन्ध विवाह के कारण हुआ है। हमारे भाई उनसे विवाह करके हमारे यहाँ लाये हैं। वह हमारी विवाह नातेदार (Marital Kin) है।"[18] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि नातेदारी दो तरह की होती है- (क) रक्त सम्बन्धी नातेदारी, और (ख) विवाह सम्बन्धी नातेदारी।

1.2.2.1 रक्त सम्बन्धी नातेदारी- नातेदारी में प्रथम प्रकार का सम्बन्ध रक्त-सम्बन्ध है जो सामाजिक या कानूनी आधार पर मान्य होता है। इसे रक्त सम्बन्धी नातेदारी कहते हैं। परिवार में भाई-बहन, माता-पिता और दादा-दादी रक्त सम्बन्धों से जुड़े होते हैं। इस प्रकार के सम्बन्ध जैविकीय होते हैं परंतु इनमें समाज की मान्यता होना भी आवश्यक है, जैसे – नैतिक तथा अनैतिक संतान तथा गोद ली गई संतान इसके उदाहरण है।

1.2.2.2 विवाह सम्बन्धी नातेदारी- इस प्रकार के सम्बन्ध वैवाहिक होते हैं जो सामाजिक या कानूनी आधार पर मान्य होते हैं। इसे ही विवाह सम्बन्धी नातेदारी कहते हैं। और इनसे सम्बंधित सम्बन्धियों को विवाह सम्बन्धी स्वजन कहते हैं। इन सम्बन्धियों को परस्पर सम्बोधित करने वाली कड़ी या बंधन विवाह ही होता है न की रक्त-सम्बन्ध। जब एक पुरुष का विवाह होता है तो उसका अन्य अनेक व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जैसे- पति, दामाद, जीजा, फूफा, मौसा, साढू, बहनोई आदि। ठीक इसी प्रकार स्त्री का भी पत्नी, बहू, भाभी, चाची, मामी, देवरानी आदि का सम्बन्ध लोगों से बन जाता है।

किसी भी परिवार के लिए नातेदारी का होना बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। इसीलिए एक अच्छे परिवार के लिए स्वस्थ नातेदारी का होना बहुत ही अनिवार्य है। नातेदारी की संरचनात्मक प्रणाली में कई अन्तर देखने को मिलते हैं। जैसे कि- उत्तर भारत और दक्षिण भारत में विवाह के नियम और सम्बन्ध में कई अन्तर हैं। जिसके संदर्भ में इरावती कर्वे, शोभिता जैन आदि सामाजिक मानवशास्त्रियों ने कई तरह के विवेचन एवं विश्लेषण किये हैं और उदाहरण के तौर पर बताया कि- "उत्तर भारत में अनुलोम विवाह

[18] भारतीय समाज : संरचना और परिवर्तन, पृष्ठ सं.- 221

के सिद्धांत का जहाँ तक संभव हो पालन किया जाता है। इसका अर्थ है कि लड़की वाले लड़के वालों से निम्न प्रस्थिति के हैं। दक्षिण भारत में ऐसा नहीं है। यहाँ मातृवंशीय और कभी-कभी पितृवंशीय ममेरे-फूफेरे भाई बहिनों में और कभी-कभी अंतः पीढ़ी (मामा और भांजे के बीच) विवाह अधिमान्य विवाह माना जाता है।"[19] इस अन्तर के बावजूद भी दोनों में समानताएं भी हैं जैसे दोनों जगहें नातेदारी व्यवस्था में एकल वंश परम्परा प्रचलित है।

अतः नातेदारी का स्वरुप भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के परिवारों एवं समाजों में भले ही अलग-अलग हो। लेकिन उनके बीच कहीं न कहीं रक्त का सम्बन्ध या वैवाहिक सम्बन्ध जरुर होता है।

1.3 समाज : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप- समाज एक से अधिक लोगों के समुदाय को कहते हैं जिसमें सभी व्यक्ति मानवीय क्रियाकलाप करते हैं। मानवीय क्रियाकलाप में आचरण, सामाजिक सुरक्षा और निर्वाह आदि की क्रियाएं सम्मिलित होती है। समाज लोगों का ऐसा समूह होता है जो अपने अन्दर के लोगों के मुकाबले अन्य समूहों से काफी कम मेलजोल रखता है। किसी समाज के अंतर्गत आने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति परस्पर स्नेह तथा सहृदयता का भाव रखते हैं। दुनिया के सभी समाज अपनी एक अलग पहचान बनाते हुए अलग-अलग रस्मों-रिवाजों का पालन करते हैं। लेकिन खेद की बात यह है कि समाज जैसे महत्त्वपूर्ण शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों के बीच काफी मतभेद है। अभी तक समाजशास्त्र में समाज की कोई सर्वमान्य परिभाषा उपलब्ध नहीं है। किसी ने समाज शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह के लिए किया है, तो किसी ने समुदाय के लिए, तो किसी ने समस्त राष्ट्र के लिए किया है और किसी ने तो समस्त मानव जाति के लिए भी किया है। कुछ लोगों ने समाज को अमूर्त व्यवस्था माना है तो वहीं कुछ लोगों ने मूर्त भी माना। कभी-कभी समस्त मानव सभ्यता के लिए भी समाज शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। कभी तो यह शब्द बहुत ही विशिष्ट अर्थ में प्रयोग होता है, तो कभी सामान्य अर्थ में भी।

[19] भारतीय समाज : संरचना एवं परिवर्तन, पृष्ठ सं.-232

समाज को लेकर विद्वानों ने कई तरह के विचार व्यक्त किये हैं, जिसे हम निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं-

समाजशास्त्री 'गिन्सबर्ग' के अनुसार - "समाज ऐसे व्यक्तियों का संग्रह है जो कुछ संबंधों अथवा व्यवहार की विधियों द्वारा आपस में बंधें हुए हैं और उन व्यक्तियों से भिन्न है जो इस प्रकार के संबंधों द्वारा आपस में बंधें हुए नहीं हैं, अथवा जिनके व्यवहार उनसे भिन्न है।"[20]

'जी. डी. एच. कोल' के अनुसार- "समाज समुदाय के भीतर संगठित समितियों एवं संस्थाओं की जटिल व्यवस्था है।"[21]

' पारसन्स' के अनुसार- "समाज को उन मानवीय संबंधों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो साधन और साध्य के सम्बन्ध द्वारा क्रिया करने से उत्पन्न होते हैं चाहे वे यथार्थ हों या प्रतीकात्मक।"[22]

'लीकॉक' के अनुसार- "समाज में केवल व्यक्तियों को परस्पर बाँधने वाले राजनीतिक सम्बन्ध ही शामिल नहीं हैं, बल्कि मानवीय संबंधों एवं सामूहिक गतिविधियों का सम्पूर्ण क्षेत्र सम्मिलित है।"[23]

'हॉर्किन्स' के अनुसार- "समाज मनुष्यों, स्त्रियों एवं बच्चों का स्थायी अथवा अविच्छिन्न समूह है, जो अपने सांस्कृतिक स्तर पर प्रजातीय चिरस्थायीकरण एवं अनुरक्षण की प्रक्रिया को स्वतंत्र रूप से चलाने की स्थिति में है।"[24]

' जॉन. एफ. क्यूबर' के अनुसार- "समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो काफी समय तक इकट्ठे रहने के कारण संगठित हो गये हैं तथा जो स्वयं को मानवीय इकाइयों से भिन्न इकाई समझते हैं।"[25]

---

[20] समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-41
[21] समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-41
[22] समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-41
[23] समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-41
[24] समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-41

'आगबर्न' और 'निमकाफ' के अनुसार - "जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्रित होकर एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं, तब वे एक समूह का निर्माण करते हैं।"[26]

'आर.एम.विलियम्स' के अनुसार - "एक सामाजिक समूह मनुष्यों के उस निश्चित संग्रह को कहा जाता है, जो पारस्परिक अन्तक्रियाएँ करते हैं और उस अन्तक्रिर्या को इकाई रूप में ही दूसरों के द्वारा मान्य होते हैं।"[27]

'सैण्डरसन' के अनुसार - "समूह दो या दो से अधिक उन व्यक्तियों का संग्रह है, जिनके बीच मनोवैज्ञानिक अन्तक्रियाओं के निश्चित प्रतिमान पाये जाते हैं। यह अपने सदस्यों और अन्य व्यक्तियों के द्वारा एक सत्ता के रूप में मान्य होता है क्योंकि यह सामूहिक व्यवहार का ही एक विशेष स्वरूप है।"[28]

'मिशेल' के अनुसार - "समूह का अर्थ व्यक्तियों की किसी भी उस छोटी अथवा बड़ी संस्था से है, जिनके बीच इस प्रकार के संबंध विद्यमान हों कि उन्हें एक सम्बद्ध इकाई के रूप में देखा जाने लगे।"[29]

इस तरह हम देखते हैं कि 'समाज रीतियों और कार्य प्रणालियों, प्रभुत्व और पारस्परिक सहायता, विविध समूहों और श्रेणियों, मानव व्यवहार के नियंत्रणों और स्वतंत्रताओं की व्यवस्था है। तथा इन सामाजिक व्यवस्थाओं, रीतियों, कार्य-प्रणालियों, प्रभुत्व और पारस्परिक सहायता, समूहों और श्रेणियों तथा मानव व्यवहार के नियंत्रणों व स्वतंत्रताओं का रूप निरन्तर बदलता रहा है'।

समाज के संदर्भ में कई समाजशास्त्री यह भी मानते हैं कि "मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक जीव है इसलिए उनमें आत्मरक्षण व एकत्रित रहने की नैसर्गिक वृत्तियाँ होती है। इन वृत्तियों के कारण पारिवारिक जीवन से ही सामाजिक विकास का प्रारम्भ होता है। इन्हीं वृत्तियों से प्रेरित होकर तथा

---

[25] समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-41

[26] http://www.sahityakunj.net/Pustak/SamajAurSanskriti_Amrit/saaNskrit_evam_saamajik_jeevan.htm

[27] http://www.sahityakunj.net/Pustak/SamajAurSanskriti_Amrit/saaNskrit_evam_saamajik_jeevan.htm

[28] http://www.sahityakunj.net/Pustak/SamajAurSanskriti_Amrit/saaNskrit_evam_saamajik_jeevan.htm

[29] http://www.sahityakunj.net/Pustak/SamajAurSanskriti_Amrit/saaNskrit_evam_saamajik_jeevan.htm

प्रतिकूल परिस्थितियों से सताए जाने पर बहुत से परिवार अपने को एकता के सूत्र में बाँधना सीखते हैं और उनमें एक संगठित शक्ति उत्पन्न हो जाती है। आचार-विचार, आदर्श आदि की एकता पर यह संगठन निर्भर रहता है। इस प्रकार के मानव समुदाय को ही समाज कहते हैं।"[30]

प्रसिद्ध समाजशास्त्री कोरी और अब्राहम की धारणा है कि "समाज एक ऐसा पद है जो व्यक्तियों के बीच सामाजिक सम्बन्ध की पूर्ण व्यवस्था का द्योतक है, चाहे वह सम्बन्ध समुदायों के अंतर्गत हो या बाहर, समुदायों के बीच हो, अथवा व्यक्तियों और समुदायों में हो।"[31] अर्थात् समाज का अस्तित्त्व बिना व्यक्ति के नहीं हो सकता है। और समुदाय जिसके बीच पारस्परिक आचार-विचार आदान-प्रदान होते हैं वह मानव द्वारा ही निर्मित होता है।

मानव में सामाजिक संबंधों का निर्माण समाज में ही होता है। सामाजिक संबंधों से तात्पर्य व्यक्ति की उन पारस्परिक क्रियाओं से है, जो अर्थपूर्ण रूप से या किसी विशेष उद्देश्य को पूरा करने के लिए स्थापित की जाती हैं। सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण सामाजिक अंतःक्रिया से होता है। सामाजिक अंतःक्रिया तीन स्तरों पर संभव है- (क) व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अंतःक्रिया (ख) व्यक्ति समूह के बीच अंतःक्रिया तथा (ग) समूह-समूह के बीच अंतःक्रिया। इन तीन स्तरों पर जिन क्रियाओं का आदान-प्रदान होता है उनके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध का निर्माण होता है, और वही समाज कहलाता है।

व्यक्ति सामाजिक सम्बन्ध की स्थापना मूलरूप से अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रक्रिया में करता है। इसके अलावा और कई कारण हैं, जैसे- (क) विभिन्न प्रकार के सामाजिक संबंधों द्वारा तमाम प्रकार के हितों एवं लक्ष्यों की पूर्ति, (ख) व्यक्ति की मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति या संतुष्टि भी सामाजिक संबंधों द्वारा ही संभव है, (ग) व्यक्ति की सामाजिक क्रिया कुछ परिस्थितियों में अन्य व्यक्ति या समूह के साथ मिलकर सम्पन्न होती है। इस क्रिया में दोनों एक-दूसरे से परिस्थिति के अनुकूल व्यवहार की उम्मीद करते हैं। (घ) प्रत्येक व्यक्ति समाज से शारीरिक

[30] भारतीय संस्कृति, पृष्ठ सं.-77-78

[31] भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ, पृष्ठ सं.-2-3

एवं मानसिक सुरक्षा प्राप्त करना चाहता है। यह एक ऐसी आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति दूसरों के सहयोग के बिना संभव नहीं है।

मानवीय सामाजिक संबंधों में समय के साथ निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। आर्थिक, तकनीकी एवं राजनीतिक कारणों से सम्बन्ध के स्वरुप में परिवर्तन होता रहता है। आज ग्रामीण समुदाय में विभिन्न जातियों के लोगों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध मात्र परम्परागत हैसियत के आधार पर नहीं होता है, बल्कि आधुनिक मूल्यों एवं प्रतिमानों से भी प्रभावित होता हुआ दिखाई पड़ता है।

समाज की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए केवल उसकी परिभाषा जानना पर्याप्त नहीं है। समाज को ठीक से समझने के लिए उसकी प्रमुख विशेषताओं पर भी विचार करना आवश्यक है। जैसे- जागरूकता, समानता, भिन्नताएँ, सहयोग एवं संघर्ष, अमूर्तता, पारस्परिक निर्भरता और सामाजिक परिवर्तनशीलता आदि। इसे हम निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं-

(1) जागरूकता- समाज सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने से बनता है। इन सामाजिक संबंधों का निर्माण उसी अवस्था में हो सकता है जब लोग एक-दूसरे को जानते हों। व्यक्ति एवं प्रकृति के बीच सम्बन्ध, पेड़ और जमीन के बीच सम्बन्ध, आदमी और मकान के बीच भौतिक सम्बन्ध है, सामाजिक नहीं है, क्योंकि इनके बीच पारस्परिक पहचान तथा ज्ञान का अभाव है। भौतिक सम्बन्ध गोचर होता है, अर्थात् उन्हें हम देख सकते हैं, पर सामाजिक सम्बन्ध अगोचर होता है, जैसे- स्त्री-पुरुष, माता-पुत्र, पिता-पुत्र के बीच का सम्बन्ध। निकट संपर्क के कारण पारस्परिक पहचान होती है, एक-दूसरे को समझते हैं, परखते हैं। यह दिखाई नहीं पड़ता है।

(2) समानता- समाज में लोगों के बीच समानता का होना अतिआवश्यक होता है। "मैकाइवर और पेज ने कहा है कि समाज का आधार समानता है। यहाँ समानता व्यक्तियों की शारीरिक बनावट, रंग या उम्र की नहीं है, बल्कि विचारों, मूल्यों एवं जीवन की उद्देश्यों की है। परिवार का आधार भी एक प्रकार की समानता ही है। यदि किसी परिवार के सदस्यों के बीच विचारों या उद्देश्यों की समानता न रहे तो वह

परिवार विघटित हो जायेगा।"[32] समानता के अभाव में लोग समाज में कभी एक साथ सुखी पूर्वक नहीं रह सकते हैं।

(3) भिन्नताएँ- समाज में समानता के साथ-साथ भिन्नता का भी होना अनिवार्य माना जाता है। इसलिए भिन्नता का सामाजिक महत्त्व भी है। समाज में कई प्रकार की भिन्नताएँ पाई जाती हैं, जैसे- व्यक्ति-व्यक्ति के बीच योग्यता की भिन्नता, उनकी कार्यक्षमता की भिन्नता, रूचि की भिन्नता, इच्छा-आकांक्षा की भिन्नता आदि। इसी भिन्नता के कारण समाज में रहने वाले लोगों के बीच प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता की भावना जन्म लेती है, जो समाज की प्रगति के लिए आवश्यक भी है। समाज का अस्तित्व इसलिए है कि भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति, योग्यता, क्षमता वाले लोगों की क्रिया-प्रतिक्रिया समाज में निरन्तर चलती रहती है।

(4) सहयोग एवं संघर्ष- जहाँ एक तरफ समाज में लोगों के बीच एक-दूसरे के प्रति सहयोग की भावना होती है तो वहीं दूसरी तरफ समाज में शोषण एवं अन्याय के विरुद्ध संघर्ष भी चलता रहता है। दोनों का संबंध एक-दूसरे से काफी गहरा होता है। कुछ समाजवैज्ञानिकों का मानना है कि- "संघर्ष की सफलता के बाद ही समाज में सामाजिक न्याय एवं समतामूलक स्थिति उत्पन्न होती है। भाईचारा एवं मानव सद्भाव उत्पन्न हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज में सहयोग एवं संघर्ष एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों ही समाज की प्रगति एवं व्यवस्था के लिए आवश्यक हैं। कार्ल मार्क्स ने कहा है कि वर्ग-संघर्ष ही समाज के परिवर्तन का मूल कारण है।"[33] इसलिए सामाजिक विकास के लिए सहयोग और संघर्ष की भावना का होना बहुत ही जरुरी है।

(5) समाज अमूर्त- जैसा कि हम जानते हैं कि समाज सामाजिक संबंधों का जाल है, इसलिए समाज कोई प्रत्यक्ष स्थूल वस्तु नहीं है। इसीलिए समाज में हम संबंधों का अनुभव कर सकते हैं, लेकिन उन्हें देख नहीं सकते। इस प्रकार चूँकि सम्बन्ध अमूर्त हैं, अतः समाज भी अमूर्त है। हम प्रत्यक्ष में नहीं

[32] समाजशास्त्र : अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पृष्ठ सं.-79
[33] समाजशास्त्र : अवधारणाएं एवं सिद्धांत, पृष्ठ सं.-79

देख सकते कि समाज अमुक वस्तु है। इस प्रकार जहाँ 'सामाजिक सम्बन्ध' व्यवस्थित रूप में मौजूद हैं, वहीं समाज की सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है।

(6) पारस्परिक निर्भरता- मनुष्य तमाम सामाजिक समूह में एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। क्योंकि वह अपनी आवश्यकताएँ अकेले पूरी नहीं कर सकता है। उसे दूसरे व्यक्तियों या समूहों पर निर्भर रहना ही पड़ता है। व्यक्ति किसी भी आर्थिक समूह का हो या देश का हो। समाज की आर्थिक एवं राजनीतिक प्रक्रिया व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों द्वारा चलती है। पारस्परिक निर्भरता के कारण ही मानव-समाज में भाई-चारे का भाव पैदा होता है तथा उनमें समानता एवं सौहार्द्र की भावना आगे बढ़ती है।

(7) सामाजिक परिवर्तनशीलता- समाज कभी स्थायी नहीं होता है। वह सदैव परिवर्तित होता रहता है, जो समाज का एक नियम भी है। कभी यह परिवर्तन तेजी से होता है, तो कभी धीमे से, लेकिन परिवर्तन सदैव होता रहता है। जैसे-जैसे मानव समुदाय की जरूरतें बढ़ती हैं, तो इन बढ़ती हुई जरूरतों को पूरा करने के लिए वह पुराने संबंधों को भी बदलता है और नए-नए सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण भी करता है। जिसके साथ-साथ समाज के स्वरुप में भी परिवर्तन होता रहता है।

अतः उपर्युक्त विशेषताएँ ही एक स्वस्थ एवं मजबूत समाज के निर्माण में सहायक होती हैं। एक प्रगतिशील समाज के लिए इन विशेषताओं का होना बहुत ही जरुरी है। क्योंकि "समाज मानवीय अंतःक्रियाओं के प्रक्रम की एक प्रणाली है। जिसमें मनुष्य एक संगठित रूप में रहता है। व्यक्ति का व्यवहार कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के प्रयास की अभिव्यक्ति है। उसकी कुछ जन्मजात तथा अर्जित आवश्यकताएँ होती हैं। जैसे- काम, क्षुधा, सुरक्षा आदि। इनकी पूर्ति के अभाव में व्यक्ति में कुंठा और मानसिक तनाव व्याप्त हो जाता है। वह इनकी पूर्ति स्वयं करने में पूरी तरह सक्षम नहीं होता, इसलिए इन आवश्यकताओं की सम्यक् पूर्ति के लिए अपने आने वाले समय में मनुष्य ने एक मानवीय समूह की व्यवस्था को विकसित किया। इस व्यवस्था को ही हम समाज के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह व्यक्तियों का ऐसा संगठन है जिसमें वे निश्चित संबंध और विशिष्ट व्यवहार द्वारा एक दूसरे से बँधे होते हैं।

व्यक्तियों की वह संगठित व्यवस्था विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न मानदंडों को विकसित करती है, जिनके कुछ व्यवहार अनुमत और कुछ निषिद्ध होते हैं।"[34] हम कह सकते हैं कि समाज का अर्थ व्यक्तियों के उस समूह से है जो किसी विशेष उद्देश्य को लेकर एकत्रित हुआ है। जिसमें घनिष्ठ व्यक्तिगत सम्पर्क की जरुरत तो नहीं लेकिन व्यावहारिक संबंध की जरूरत अवश्य होती है।

समाज कई तरह के होते हैं, जैसे- सहकारी समाज, वैज्ञानिक समाज, साहित्यिक समाज, पूंजीवादी समाज आदि। लेकिन एक राष्ट्र अथवा एक राज्य को भी समाज की श्रेणी में रखा जा सकता है। अतः समाज एक सामान्य शब्द है, जिसे व्यक्तियों के समूहों की विभिन्न प्रणाली के लिए प्रयुक्त किया जाता है। देखा जाय तो समाज के कई रूप होते हैं। अलग-अलग मानव प्रजातियों का समाज भी भिन्न होता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने समाज का विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया है। जिसे हम संक्षेप रूप में देख सकते हैं-

प्रसिद्ध समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेंसर ने समाज को चार भागों में विभाजित किया है- (1) सरल समाज: आदिम समाज, (2) मिश्रित समाज : सरल समाज से बड़ा आकार, (3) दोहरे मिश्रित समाज : सामाजिक-आर्थिक स्तरीकरण, (4) तिहरे मिश्रित समाज : आधुनिक जटिल समाज । इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में टी. बी. बॉटमोर कहते हैं कि- "ये भेद मुख्यतः स्तर (या आकार) के अर्थों में अलगाए गए हैं लेकिन इसके साथ जुड़ी परिघटनाओं जैसे अधिक विस्तृत श्रम विभाजन, अधिक व्यापक राजनीतिक संगठन, विकसित पुरोहिताई पदानुक्रम, सामाजिक स्तरीकरण इत्यादि का भी ध्यान रखा गया है। लेकिन इस वर्गीकरण की उपयोगिता तभी कम लगने लगती है जब महसूस होता है कि पहले तीन सामाजिक प्रकारों में केवल आदिम समाज है जबकि चौथे वर्ग में तमाम सभ्य समाजों को एक साथ इकठ्ठा कर दिया गया है।"[35]

---

[34] https://hi.wikipedia.org/s/eo1

[35] समाजशास्त्र (समस्याओं और साहित्य का अध्ययन), पृष्ठ सं.-110

इमाइल दुर्खिम ने भी तक़रीबन स्पेंसर की शब्दावली में ही समाज का वर्गीकरण करते हुए उसे चार भागों में बांटा हैं- "(1) सरल समाज (simple societies), (2) सरल बहुखण्डीय समाज (simple polysegmentary societies), (3) मिश्रित बहुखण्डीय समाज (compound polysegmentary societies), (4) दोहरे मिश्रित बहुखण्डीय समाज (Doubly compounded polysegmentary societies)।"[36]

प्रसिद्ध समाजशास्त्री टी.बी. बॉटमोर ने समाज को तीन आधारों पर वर्गीकृत किया है- "(1) संस्थाओं की पद्धति के आधार पर- इसमें आर्थिक संस्थाओं की प्रधानता देते हुए समाजों के दो रूप या प्रकार बताए गए हैं- (क) एशियाई समाज और (ख) पश्चिमी समाज।

(2) सामाजिक समूहों की संख्या तथा उनके स्वरुप के आधार पर- सामाजिक समूहों की संख्या के आधार पर समाजों के दो प्रकार बतायें गए हैं- (क) आदिम समाज, जिसे सरल समाज भी कहा जाता है, एवं (ख) सभ्य समाज, जिसे जटिल समाज भी कहा गया है। तथा सामाजिक समूह के स्वरुप के आधार पर भी दो वर्गों में बाँटा गया है- (1) प्राथमिक समूहों की प्रधानता वाले समाज और (2) द्वैतीयक समूहों की प्रधानता वाले समाज। बॉटमोर मानते हैं कि भारत जैसे देश की गिनती प्राथमिक समूहों की प्रधानता वाले समाजों में ही होती है।

(3) सामाजिक संबंधों के स्वरुप के आधार पर- इस आधार पर भी समाजों के दो वर्ग किये हैं- (1) वैयक्तिक और प्रत्यक्ष सामाजिक संबंधों की प्रधानता वाले समाज और (2) अवैयक्तिक और प्रत्यक्ष सामाजिक संबंधों की प्रधानता वाले समाज।"[37]

अतः हम देख सकते हैं कि समाज के कई स्वरुप हैं। प्रत्येक देश में समाज के अलग-अलग रूपों को देखा जा सकता है। और यह स्वरूप उनकी अपनी भौगोलिक परिस्थितियों, सभ्यताओं और संस्कृतियों पर निर्भर करती हैं।

---

[36] समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-44

[37] समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-45

1.4 भारतीय समाज-व्यवस्था- भारतीय समाज-व्यवस्था आरम्भ से ही वर्ण आधारित समाज की रही है। जिसका निर्माण कर्मों के आधार पर हुआ है। जिसके अंतर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों को स्थापित किया गया। जिसका उल्लेख भारतीय धर्म-ग्रंथों में देखा जा सकता है। लेकिन वही आगे इसे कुछ विद्वान रंगों के आधार पर विभाजन के श्रेणी मानते हैं। ऐसे में कई सवाल हमारे सामने आते हैं जैसे कि आखिर वर्णों की उत्पति क्यों और कैसे हुई? इसका आधार क्या रहा और आवश्यकता क्यों हुई ? इन प्रश्नों के क्रम में सबसे पहले हमारा ध्यान 'ऋग्वेद' की तरफ जाता है। जहाँ वर्ण शब्द का अर्थ रंग माना गया है। आर्य जब भारत में आये तो "आर्य और दस्यु या दास (अनार्य) लोगों की आकृति और संस्कृति में बहुत भेद था। वे स्वाभाविक रूप से एक-दूसरे से एकदम अलग थे। उनमें सबसे पहला ऊपरी भेद रंग का था। आर्य गौर वर्ण एवं अनार्य कृष्ण वर्ण के थे। उनकी इन भिन्नताओं के कारण उनके वर्ण के अनुसार वर्ग-विशेष के नाम से पुकारा गया है।"[38] 'महाभारत' में वर्णों की उत्पत्ति के विषय में भृगु ऋषि और भारद्वाज का संवाद मिलता है। भृगु ने बताया है कि ब्रह्मा ने प्रारम्भ में एक ही ब्राह्मण वर्ण बनाया। किन्तु कालांतर में चार वर्ण हो गए, जिनके विभाजन का आधार श्वेत, लोहित, पीत एवं असित वर्ण (रंग) थें। इससे पता चलता है कि वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति मानवीय रंगों में भेद होने के फलस्वरूप हुई। ऐसे में वर्णों की उत्पत्ति के विषय में किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले हमें वेदों, ग्रन्थों, उपनिषदों और स्मृतियों का अवलोकन करना आवश्यक होगा। सबसे प्राचीन वेद 'ऋग्वेद' के पुरुष सूक्त में कहा गया है कि-

" ब्राह्मणोस्य मुखमासीद बाहु राजन्यः कृतः

ऊरूतदस्य यद् वैश्यः पदोभ्याम शुद्रो अजायत।"[39]

[38] दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-12

[39] भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृष्ठ सं.-26

अर्थात् ब्राह्मण उस विराट पुरुष ब्रह्मा के मुख से, बाहुओं से राजा (क्षत्रिय), उदर से वैश्य तथा पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है। इसके रूपात्मक अर्थ के विचार से ब्राह्मण वाक्शक्ति में, क्षत्रिय बाहुबल में विशिष्टता, वैश्य कृषि-कर्म में एवं शूद्र पाद-सेवा अर्थात् तीनों वर्णों की सेवा के लिए बना है।

'वृहदारण्यक उपनिषद' में एक विचारधारा मिलती है कि प्रारम्भ में केवल ब्राह्मण वर्ण ही था, किन्तु वह अकेले उन्नति करने में असमर्थ होने के कारण पहले क्षत्रिय की रचना की जिसमें उसने इंद्र, वरुण, सोम, रूद्र आदि देवों के अंश मिलाए। किन्तु फिर भी उन्नति में असफल रहने पर उसने देवों के अंशों को मिलाकर अन्य दो रूपों वैश्य और शूद्र का निर्माण किया।

'भगवद्गीता' के अनुसार चारों वर्णों के कर्म, स्वभाव से उत्पन्न गुणों से विभक्त हुए हैं। स्वभाव से तात्पर्य पूर्वजन्म के कर्मों से बना स्वभाव है। उससे प्रभावित होकर वैसे ही गुण मनुष्य में आ जाते हैं और उनकी प्रेरणा से उसका कर्म निश्चित होता है। इस प्रकार यह सिद्धांत भी कर्मों के आधार पर समाज के विभाजन की ओर संकेत करता है। किन्तु इसमें इतना जोड़ा गया है कि जन्म से पहले ही वर्ण निश्चित हो जाता है। धर्मशास्त्रों में भी वर्णों की उत्पत्ति इसी वैदिक कल्पना को स्वीकार किया गया है और यह माना गया है कि लोग अपने-अपने कर्मों के द्वारा ही अपने-अपने वर्ण को प्राप्त हुए। ऐसे में यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण का विभाजन कहीं रंग के आधार पर है तो कहीं कर्म पर। किन्तु यह आगे चलकर पूर्णरूप से जन्म पर आधारित हो गया।

लेकिन डॉ० अम्बेडकर इस मत से पूर्ण सहमत नहीं है उनका कहना है कि "वेदों से यह प्रमाणित नहीं होता कि आर्यों का रंग दासों के रंग से भिन्न था। वर्ण का निर्धारण पहले व्यवसाय, स्वभाव, संस्कृति आदि के आधार पर ही था।"[40] वेद और पुराणों में भी लोगो के वर्ण परिवर्तन संबंधी अनेक प्रमाण मिलते हैं। जो अपने अच्छे कर्मों के द्वारा निम्न वर्ण से उच्च वर्ण में चले जाते थे। वैदिक काल में यह सुविधा थी की कोई भी व्यक्ति अपने अच्छे कर्मों के द्वारा उच्च वर्ण और बुरे कर्मों के द्वारा निम्न वर्ण को प्राप्त कर लेता था। इसके कई उदहारण हमें मिलते हैं। जैसे- "ऋग्वेद काल में शूद्र तिरस्कृत

[40] दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-12

नहीं थे। 'छान्दोग्य-उपनिषद' में कथा आयी है कि रैक्व ने जानश्रुति को वेद पढ़ाया था, किन्तु रैक्व गाड़ीवान, अतः शूद्र थे। डॉ० अम्बेडकर ने 'कवष ऐलुष' को शूद्र बताया है, यद्यपि ऐलुष ऋग्वेद के दशम् मंडल के कई मन्त्रों के रचयिता थे। 'महाऐतरेय उपनिषद' के अनुसार भी कावषेय लो दासी-पुत्रों के वंशज थे, किन्तु, वे यज्ञों के आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन करते थे। भरद्वाज और कत्यायन-श्रौत-सूत्रों में संकेत है कि कई धर्मशास्त्र यज्ञ का अधिकार शूद्रों को भी देते थे.....वेदकालीन राजा सुदास शूद्र थे। वैदिक परम्परा के अनुसार वे राजर्षि विश्वामित्र के संरक्षक थे।"[41]

वर्ण-व्यवस्था को 'चातुर्वर्ण्य व्यवस्था' भी कहा जाता है। इसकी स्थापना के पश्चात् जो सबसे बड़ी चुनौती ब्राह्मणवादियों के सामने थी वो यह कि इसे सदा के लिए कायम कैसे किया जाय? ऐसे में यह आवश्यक था कि एक दंड-विधान अर्थात् कानून की स्थापना की जाय। क्योंकि वे जानते थे कि अगर इस तरह की व्यवस्था नहीं होगी तो आगे चलकर यह पूरी पद्धति छिन्न-भिन्न हो सकती है। और ब्राह्मणवादी वर्चस्व खत्म हो सकता है। इस क़ानूनी कार्य को अंजाम देने का काम मनु नामक व्यक्ति ने किया। जिसने 'मनुस्मृति' नामक ब्राह्मणवादी कानून की रचना की । इस कानून में विशेष रूप से शूद्रों के लिए कठोर से कठोर विधियों की स्थापना की गई और उसे तीनों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करने के लिए विशेष नियम बनाये गए, जिसे ही आज दलित की संज्ञा से नवाजा जाता है। "'मनुस्मृति' में इतना भारी दंडादेश विहित किया गया है कि यदि कोई शूद्र वेद पाठ करता है या वेद पाठ सुन लेता है तो उसकी जिह्वा काट लीजे या उसके कानों में पिघला हुआ सीसा भर दिया जाय।"[42] मनु का यह तर्क था की इसी व्यवस्था के द्वारा एक आदर्श राज्य की स्थापना हो सकती है। जिसमें ब्राह्मणों द्वारा विद्या का अर्जन तथा उसका प्रचार-प्रसार किया जाय, क्षत्रियों द्वारा अस्त्र-शस्त्र धारण करके देश और जनता की रक्षा की जाय, वैश्य के द्वारा देश में व्यापार तथा आर्थिक व्यवथा कायम किया जाय और शूद्रों द्वारा इन तीनों की सेवा की जाय। मनु ने न केवल 'मनुस्मृति' में इस तरह के अन्याय पर आधारित विषमतावादी सूत्र रचे, बल्कि इसे दंडविधान से भी जोड़ा। अर्थात् ब्राह्मण यदि मूर्ख भी हो तो वह ब्रह्मा के मुख से जन्म

[41] संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ सं.-44

[42] बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय (खण्ड-1), पृष्ठ सं.-83

लेने के कारण देवता है, भूदेव है। और शूद्र विद्वान भी हो तो भी वह निंदनीय है, आदर योग्य नहीं है। क्षत्रिय भले ही लूला, लंगड़ा और शक्तिहीन हो वह क्षत्रिय ही रहेगा तथा वैश्य भले ही बेकार और आलसी हो वह वैश्य ही रहेगा। यह व्यवस्था कुछ वैसी ही थी जिस तरह की व्यवस्था प्लेटो ने अपने राज्य में स्थापित की थी। जो आगे चलकर उसकी असफलता का बहुत बड़ा कारण बना।

कहने का तात्पर्य है कि आर्यों ने ही अपने श्रेष्ठत्व को कायम रखने के लिए वर्ण-व्यवस्था की नींव डाली। क्योंकि वे मूल रूप से तो भारत के निवासी नहीं थे बल्कि वो मध्य एशिया के प्रान्तों से ही आये थे। जब वे भारत में आयें तो उन्हें अपना साम्राज्य कायम करने के लिए कुछ इस तरह के हथियारों की जरुरत पड़ी की जिसका चाहकर भी प्रतिरोध नहीं किया जा सके। ऐसे में आर्यों ने धर्म के नाम पर वेदों, ग्रंथों, उपनिषदों तथा स्मृतियों की रचना की और कल्पना के माध्यम से करोड़ो देवी-देवताओं को पैदा किया। उनका भय दिखाकर अपना साम्राज्य स्थापित किया। वर्णों की ऐसी व्यवस्था रची की वे (आर्य) देवताओं से भी अधिक पूजनीय हो गए और वर्ण-व्यवस्था की चक्की में शूद्र समुदाय ऐसा पीसा की उनकी हालत पशुओं से भी बदतर हो गई। आर्यों की स्थिति वैसी ही रही जैसे अंग्रेज भारत में आये और धीरे-धीरे अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया, फर्क इतना ही रहा की अंग्रेज तो चले गए लेकिन आर्य सदा के लिए यहाँ बस गए।

दलितों की स्थिति हिन्दू समाज में अछूत की तरह है। अछूत वह है जो अपवित्र है, गन्दा है, घृणित है अर्थात् जो छूने योग्य नहीं है। भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था में जो लोग सबसे निचले पायदान पर हैं उन्हें ही अछूत या अन्त्यज की श्रेणी में रखा गया है। ये वे लोग हैं जो कूड़ा-कचरा, गंदगियों को उठाते हैं और घोर दरिद्रता में अपना जीवन-यापन करते हैं। इन्हें ही अतिशूद्र, चांडाल, अन्त्यज, अस्पृश्य, अवर्ण, पंचम, हरिजन आदि कई शब्दों से नवाजा गया है। दलित राजनीतिज्ञ और लेखक माताप्रसाद भी मानते हैं कि "धार्मिक शब्दावली में जिन्हें अतिशूद्र, चंडाल और 'अन्त्यज' कहा गया,

सामाजिक शब्दावली में उन्हें ही 'अछूत' और कानूनी शब्दावली में इन्हें ' अनुसूचित जातियां' कहा गया है। महात्मा ने इसका नाम 'हरिजन' दिया है।"[43] जिन्हें ही आज हम दलित कहते हैं।

प्रारम्भ में मनुष्यों का विश्वास था कि कुछ विशेष घटनाओं के घटने से और कुछ विशेष वस्तुओं के स्पर्श से अपवित्रता का जन्म होता है। यह अपवित्रता इस हद तक थी कि यह एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में भी चली जाती थी और इस अपवित्रता का एक-दूसरे में चले जाना विशेष अवस्थाओं में, विशेष रूप से होता है। जैसे- खाने-पीने आदि के प्राकृतिक कृत्यों के समय। इसके अतिरिक्त समाज में जन्म, दीक्षा, बालिग होना, विवाह, सम्भोग और मृत्यु आदि भी अपवित्रता के कारण माने गए। यहाँ अछूत की भावना वैसी नहीं थी जो आज के समय में अथवा ब्राह्मणवादी समाज के स्थापित होने के बाद हो गई। बल्कि इस अपवित्रता को विधि और कर्मों के द्वारा पवित्र बनाने के नियम भी मौजूद थें। परन्तु जाति-व्यवस्था के कायम होने के बाद शूद्रों के श्रेणी में जो सबसे निचले स्थान पर आए एवं जो गंदे और घृणित कार्यों को करने के लिए बाध्य हुए अथवा मजबूर किए गए वे ही अछूत कहलायें। जिनकी स्थिति पशुओं से भी बदतर रही तथा वे वंशानुगत अछूत या अस्पृश्य माने जाने लगे। जिसके प्रभाव से वे आज तक मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। अस्पृश्यता के सन्दर्भ में डॉ. अम्बेडकर का विचार है कि "अस्पृश्यता का आधार गन्दगी, अपवित्रता तथा छूत लग जाने की कल्पना तथा उससे मुक्त होने का तरीका व साधन है। यह एक स्थायी वंशानुगत कलंक है जो किसी प्रकार मिट नहीं सकता।"[44]

भारतीय समाज में जिन्हें 'अछूत' कहा जाता है इन्हें ही आज 'दलित' शब्द के तहत परिभाषित किया जा रहा है। अछूत कैसे बनाये गए इसकी जानकारी हमें पुष्यमित्र की क्रांति से पता चलती है जो बौद्ध धर्म के विरूद्ध थी। क्योंकि बौद्ध धर्म ऐसा धर्म है जो मानव समता की बात करता था और वर्ण-व्यवस्था, जाति-पांत और छुआछूत का खंडन करता है। पुष्यमित्र ब्राह्मण होने के नाते वह इस व्यवस्था का घोर समर्थक था। ऐसे में अपने फासिस्ट क्रांति से पुष्यमित्र ने ब्राह्मणवादी वर्ण-व्यवस्था को जाति-व्यवस्था के रूप में स्थापित तो कर लिया किन्तु आर्य-व्यवस्था जो हिन्दू समुदाय का एक अलग

[43] दलितों का इतिहास अतीत एवं वर्तमान के आईने में, पृष्ठ सं.-37

[44] अछूत कौन और कैसे, पृष्ठ सं.-45

वर्ग जो प्रगतिशील विचारधारा को मानने वाला था को बौद्ध धर्म के प्रभाव से मुक्त नहीं करा पाया। क्योंकि बहुत से अनार्य जो ब्राह्मणवादी व्यवस्था में थे वे बौद्ध धर्म भी मानते थे और आर्यों की संस्कृति और धर्म में आस्था नहीं रखते थे, साथ ही वे गोमांस का भी भक्षण करते थे। अतः उन्हें अलग करने के लिए ब्राह्मणवाद ने अपने को पूरी तरह से गोभक्त बना लिया और गोवध पर पाबंदी लगा दी। अनार्यों का गोमांस खाना और इस आधार पर अलग करना ब्राह्मणवाद का उद्देश्य नहीं था बल्कि मूल कारण यह था कि वे आर्यों के गुलाम या दास होते हुए भी बौद्ध धर्म में विश्वास करते थें जो जाति-व्यवस्था को तोड़ने और मानव समता की बात करता था।

इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि प्रत्येक गाँव में सवर्ण लोगों की आचार-संहिता होती थी, जो आज भी गावों में देखने को मिल जाएगी । जिसका उल्लंघन करना दलितों के लिए दंडनीय अपराध माना जाता था। जिसके लिए सामाजिक बहिष्कार से लेकर मृत्युदंड तक की सजा होती थी। आज भी दलितों के लिए गाँव किसी यातना शिविरों से कम नहीं हैं जिसका उल्लेख डॉ. अम्बेडकर ने अपने निबंध 'आउट साइड दि फोल्ड' में किया है- 1. अछूत अपने घर हिन्दुओं की बस्तियों से दूर बनायें। उनके घर गाँव के दक्षिण में होने चाहिए तथा वे अपने घरों पर खपरैल की छत ना डालें। वह इस नियम को तोड़ता है तो अपराध माना जाएगा।

2. अछूत को चाहिए कि वह इस बात का ध्यान रखे कि उसके छू जाने या उसकी छाया से भी पाप लगता है। यदि वह इस नियम को तोड़ता है, तो अपराध करता है।

3. अछूत के लिए संपत्ति जैसे भूमि या पशु रखना, साफ कपड़े पहनना, अपना तथा अपने बच्चों के अच्छे नाम रखना अपराध है। बल्कि उनके नाम ऐसे हों, जो हीनतासूचक हों।

4.अछूत के लिए यह अनिवार्य था कि किसी हिन्दू के सामने कुर्सी अथवा चारपाई पर ना बैठे, हिन्दू को सदा प्रणाम करे, किसी घोड़े पर चढ़कर या पालकी में बैठकर गाँव से न गुजरे। यहाँ तक की सवर्ण हिन्दू के चिन्ह (जैसे- जनेऊ, तिलक आदि) धारण करना भी अपराध माना जाएगा।

5. अछूत के लिए सवर्ण हिन्दुओं के हर आदेश का पालन करना अनिवार्य होगा, उसे उसका हर काम करना होगा, चाहे वह कितना ही कठोर क्यों ना हो और भले ही उसे कोई पारिश्रमिक न दिया जाय।

इस तरह के उदहारण गाँवों में अब भी देखने को मिल जाते हैं। डॉ. अम्बेडकर मराठा राज्य में पेशवाओं के शासनकाल में अछूतों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "यदि कोई हिन्दू सड़क पर आ रहा होता था तो किसी अछूत को इसलिए सड़क पर चलने की अनुमति नहीं थी कि उसकी परछाई से वह हिन्दू अपवित्र हो जाएगा। अछूत के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी कलाई या गर्दन में निशानी के तौर पर एक काला धागा बांधे, जिससे की हिन्दू गलती से उससे छूकर अपवित्र होने से बच जाए।"[45] गाँवों में अब भी इस तरह की कोई न कोई प्रथा मौजूद है। अभी भी कुछ गाँव ऐसे हैं जहाँ अछूत चप्पल या जूते पहन कर सवर्णों के गाँवों की गलियों से नहीं गुजर सकते। अब भी दुकानों में चाय पीने के लिए अछूतों के लिए अलग बर्तन रखे जाते हैं। उन्हें सदा हीन दृष्टि से देखा जाता है। ऐसे में यह कथन ठीक ही लगता है कि 'भारत के गाँव दलितों के शोषण के कारखाने हैं।' जहाँ दलित सिर्फ जूठन पर ही अपना जीवन-यापन करता हो तथा वह सवर्णों की दया पर ही निर्भर हो, उसके लिए वह गाँव कैसे स्वर्ग हो सकता है?

1.5 परिवार और समाज का अन्तःसम्बन्ध- जैसाकि हम जानते हैं कि परिवार समाज की प्राथमिक और मूलभूत इकाई होती है। इसलिए दोनों का एक-दूसरे से काफी गहरा सम्बन्ध होता है। मनुष्य बाल्यवस्था में सर्वप्रथम परिवार में ही सामाजिक और सांस्कृतिक आचरणों को सीखता है। इसलिए समाजीकरण करने वाली एक संस्था के रूप में परिवार का बड़ा महत्त्व होता है। परिवार में बालक को समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों, व्यवहारों, परम्पराओं, भाषा-बोलीयों आदि की शिक्षा मिलती है। और इसके माध्यम से वह अपना सामाजिक विकास करता है। एक व्यक्ति के लिए जितना जरूरी उसका परिवार होता है उतना ही जरुरी समाज भी होता है।

[45] बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय (खण्ड-1), पृष्ठ सं.-56

परिवार में ही व्यक्ति का समाजीकरण भी होता रहता है। क्योंकि परिवार में ही बालक कोमलता, सहानुभूति, जिम्मेदारी तथा आत्मसमर्पण महसूस करना आदि आवश्यक गुण सीखता है। साथ ही सामाजिक मूल्यों को भी परिवार के सदस्यों के बीच रहकर सीखता है। इन्हीं सीखे हुए गुणों से बालक आगे चलकर समाज का एक जिम्मेदार नागरिक बनता है।

किसी भी समाज की सुव्यवस्था परिवारों की सुव्यवस्था पर निर्भर करती है। यदि समाज में परिवार विघटित होंगे तो सामाजिक संगठन कभी भी स्थिर नहीं रह सकता है। इसलिए सामाजिक विघटन का एक कारण पारिवारिक विघटन भी होता है। परिवार एक तरह से समाज के सदस्यों का चरित्र निर्माण भी करता है। 'फ्रायड' जैसे मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि बालक का चरित्र तथा मनोवृत्तियाँ परिवार में जैसा बनता है, वह आगे चलकर समाज में भी उसी के अनुरूप व्यवहार करता है। वहीं व्यक्ति का पारिवारिक जीवन उसके सामाजिक जीवन को भी प्रभावित करता है। परिवार में होने वाली धार्मिक क्रियाओं का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में समाज से अवश्य जुड़ा होता है। अतः बिना सामाजिक दायित्वों का निर्वाह किये वह इसे पूरा नहीं कर सकता।

मनुष्य परिवार और समाज दोनों के संरचना का आधार होता है। व्यक्ति के बिना न तो परिवार का अस्तित्त्व है और ना ही समाज का। अतः मनुष्य दोनों को जोड़ने की कड़ी के रूप में अपनी भूमिका भी अदा करता है। इसलिए अगर मानव समुदाय की छोटी ईकाई परिवार है तो बड़ी ईकाई समाज होती है। आज के जटिल सामाजिक ढाँचे में परिवार का महत्त्व पहले से कम अवश्य हो गया है परंतु आज भी समाज के अधिकांश सदस्यों की अधिकांश क्रियाएँ परिवार के लिए और परिवार से ही सम्बंधित होती हैं।

अतः हम देख सकते हैं कि परिवार और समाज का अटूट सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं। इसलिए व्यक्ति के लिए जितना जरुरी उसका परिवार होता है उतनी ही आवश्यकता समाज की भी होती है।

1.6 भारतीय समाज व्यवस्था के आधार-तत्व- किसी भी समाज-व्यवस्था और उसके संरचना के निर्माण में कई तरह के तत्व शामिल होते हैं। इसके पीछे एक लम्बी निर्माण कार्य की प्रक्रिया और परम्परा होती है। भारतीय समाज-व्यवस्था के निर्माण में भी कुछ ऐसे ही आधार तत्त्व नजर आते हैं। जिनमें प्रजाति, वर्ण, जाति, वर्ग, लैंगिक आदि तत्त्व शामिल हैं। जिन्हें हम निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं-

1.6.1 प्रजाति- प्रजाति एक जैविक विचार है। जिसका अभिप्राय उस मानव वर्ग से है, जो वंशानुक्रम के द्वारा शारीरिक लक्षणों में समानता रखता हो। अर्थात् मानव प्रजाति का अर्थ किसी सामाजिक वर्ग या संस्कृति वर्ग से नहीं है, वरन प्राकृतिक नस्ल से है। किसी भी मानव प्रजाति के शारीरिक लक्षण वंशानुक्रम (Heredity) द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त होते रहते हैं। प्रजाति के संदर्भ में विद्वानों ने निम्नलिखित परिभाषाएं दी हैं-

व्लाश के अनुसार- "मानव प्रजाति का वर्गीकरण मानव शरीर की आकृति तथा शारीरिक लक्षणों के आधार पर होता है।"[46]

हैडन मानते है कि- "मानव प्रजाति एक जैविक नस्ल (Biological Breed) है जिसके प्राकृतिक लक्षणों (Physical traits) का योग दूसरे प्रजाति के प्राकृतिक लक्षणों के योग (Combination) से भिन्न हों। ये प्राकृतिक लक्षण पीढ़ी-दर-पीढ़ी (generation) तक वैसे ही संक्रमित होते रहते हैं।"[47]

कुछ विद्वान इसे अलग संदर्भों में देखते हुए कहते हैं कि इसका सम्बन्ध केवल मनुष्य से होता है न की उसके समाज और सभ्यता से। इसलिए ग्रिफिथ टेलर कहते हैं कि- "मानव प्रजाति नस्ल (Breed) को प्रकट करती है न कि सभ्यता को। (Race denotes breed, not culture)"[48]

---

[46] भूगोल, पृष्ठ सं.-486
[47] भूगोल, पृष्ठ सं.-486
[48] भूगोल, पृष्ठ सं.-486

कोबर कहते हैं कि- "यह एक जैविक संकल्पना है न कि सामाजिक या सांस्कृतिक।"[49]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रजाति का अर्थ उस मानव समूह से है जिस समूह के सभी मनुष्यों की शारीरिक रचना के बाहरी लक्षण जैसे कद, रंग, सिर की लम्बाई- चौड़ाई, बालों की आकृति, नेत्रों की आकृति, होठों की मोटाई इत्यादि एक जैसे हों। ये शारीरिक लक्षण पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे चलते रहते हैं। सभ्यता और संस्कृति तो परस्पर समय के साथ बदलते रहते हैं।

मानव प्रजाति का वर्गीकरण मानव शरीर की आकृति एवं उसके शारीरिक लक्षणों के आधार पर किया जाता है। विश्व में पांच वृहत् प्रजातीय समूह पाए जाते हैं, जो निम्नलिखित हैं। हालांकि मानव प्रजाति वर्गीकरण को लेकर मतैक्य नहीं है-

1. "काकेशायड्स- (यूरोपीय, सेमेटिक, इंडो-आर्य) वर्तमान विश्व में इस प्रजाति की गणना एक वृहत् प्रजाति के रूप में की जाती है। इसे तीन वर्गों में विभाजित किया गया है- नार्डिक, अल्पाइन और भूमध्यसागरीय।
2. मंगोलायड्स- (मुख्यतः एशियाई) इस प्रजाति का निवास केवल एशिया महादेश में है।
3. नीग्रोयड्स- (मुख्यतः अफ्रीकी) कुछ लोग इसे विश्व की प्रथम प्रजाति के रूप में मान्यता देते हैं।
4. ऑस्ट्रेलॉयड- यह एक छोटा समूह है जो मुख्यतया ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है। इस प्रजाति के लोगों की संख्या काफी कम है।
5. हाटेनटॉट्स अथवा बुशमैन- इस प्रजाति के लोग दक्षिणी-पश्चिम अफ्रीका के कालाहारी मरुस्थल में निवास करते हैं। इनकी संख्या भी दुनिया में काफी कम है।"[50]

देखा जाय तो भारतीय समाज में कई तरह की प्रजातियाँ विद्यमान हैं। जो समय के साथ प्राचीन काल से लेकर अब तक इस देश में आती रहीं है। और उत्तर भारत से लेकर पूरब तथा दक्षिण भारत में बसती गयी। इस देश में इतनी मानव प्रजातीय भिन्नता पाई जाती है कि उसे पूर्णतः स्पष्ट करना मुश्किल

[49] भूगोल, पृष्ठ सं.-486
[50] bharatdiscovery.org/india/मानव_प्रजातियाँ

है। बावजूद इसके 1901 ई. की जनगणना के समय 'सर हरबर्ट रिजले' ने सर्वप्रथम भारत में मानव प्रजातियों का विवरण प्रस्तुत किया। इनके द्वारा उल्लेखित प्रजातियों एवं उनके क्षेत्रों को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है-

1. "द्रविड़यन- इसको भारत की आदि प्रजाति माना जाता है तथा इसका निवास दक्षिण राज्यों तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, छोटा नागपुर पठार तथा मध्यप्रदेश के दक्षिणी भागों में है। इसके प्रतिनिधि हैं - पानियान (मालावार), जुआंग (उड़ीसा), कोंडा (पूर्वी घाट), कोंड (पूर्वी घाट), गोंड (मध्य प्रदेश), टोडा (नीलगिरि), भील एवं गरिसया (राजस्थान तथा गुजरात) तथा संथाल (छोटा नागपुर पठार)।
2. भारतीय आर्य- इस प्रजाति के बारे में अनुमान है यह ईसा से 2,000 वर्ष पूर्व मध्य एशिया से भारत आयी, यद्यपि अधिकांश विद्वान इसे भारत की मूल प्रजाति मानते हैं। इसका निवास पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा जम्मू कश्मीर राज्यों में हैं।
3. मंगोलायड- इस प्रजाति का निवास हिमाचल प्रदेश, नेपाल की समीपवर्ती क्षेत्र तथा असम राज्यों में हैं। इसके प्रतिनिधि है - कनेत (कुल्लू), लेप्चा (सिक्किम तथा दार्जिलिंग), बोडू (असम) तथा भोटिया।
4. मंगोल द्रविड़यन- यह प्रजाति पश्चिम बंगाल तथा उड़ीसा में मिलती है। यहां के बंगाली ब्राह्मण तथा कायस्थ इसके प्रतिनिधि हैं।
5. सिथो-द्रविड़यन- यह प्रजाति सीथियन तथा द्रविड़ प्रजातियों का मिश्रण हैं, जो केरल, सौराष्ट्र, गुजरात, कच्छ तथा मध्यप्रदेश के पहाड़ी भागों निवास करती है।
6. तुर्क-ईरानी- यह प्रजाति अफगानिस्तान तथा बलूचिस्तान में निवास करती है।"[51]

भारत उपमहाद्वीप में प्रागैतिहासिक काल से संसार की विभिन्न प्रजातियों का मिश्रण होता रहा और यद्यपि कुछ क्षेत्रों और जातीय समूहों में एक या दूसरी प्रजाति के लक्षण बहुलता से

[51] bharatdiscovery.org/india/मानव_प्रजातियाँ

परिलक्षित हैं, प्रजातीय भेद और जाति में अटूट संबंध स्थापित नहीं किया जाता। एच. एच. रिजले ने पंजाब, उत्तर प्रदेश और बिहार की कुछ जातियों के नासिकामापन से यह निष्कर्ष निकाला कि आर्य प्रजाति का अंश जिस जाति में जितना अधिक या कम है उसका मोटे तौर पर सामाजिक स्थान उतना ही ऊँचा या नीचा है। किंतु डॉ. जी. एस. घुर्ये और अन्य जातिविदों ने मानवमितिक नापों के आधार पर रिजले की प्रस्थापना का खंडन किया है। भारत के जातीय समूहों में प्रजातीय मिश्रण व्यापक है और यह मिश्रण विभिन्न जातियों, उपजातियों तथा क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न है। संभवत: भारत के प्राचीनतम निवासी निग्रिटो मानव जाति के थे। इनके वंशज प्राय: अमिश्रित अवस्था में आज भी अंडमान में हैं। इनके अतिरिक्त नाटा कद, काला रंग और ऊन सरीखे बालवाली काडर, इरला और पणियन जैसी दक्षिण भारत की वन्य जातियों में तथा उत्तरपूर्व की कुछ नागा जनजातियों में निग्रिटो मानव जाति का मिश्रण परिलक्षित है। निग्रिटो के पश्चात् भारत में संभवत: निषाद (आस्ट्रिक) मानव जाति का पदार्पण हुआ जिसके शारीरिक लक्षणों में दीर्घ कपाल, पृथु नासिका, मझोला कद और घुंघराले बाल तथा चाकलेटी श्यामल वर्ण है। निषादों का मिश्रण समस्त भारत में और विशेषकर छोटी जातियों में अधिक है। दक्षिण की अधिकांश वन्य जातियाँ और कोल संथाल, मुंडा और भील मूलत: इसी वंश की जनजातियाँ हैं। मुसहर, चमार, पासी आदि जातियों में भी इसी मानव जाति के अंश अधिक परिलक्षित होते हैं। दीर्घ कपाल और मध्यम नासिका तथा श्याम वर्णवाली द्रविड़ जाति का प्रभाव दक्षिण भारत पर सबसे अधिक है। किंतु मध्य और समस्त उत्तर भारत की आबादी में भी इसका व्यापक मिश्रण है। ऐसा प्रतीत होता है कि द्रविड़ जाति का उत्तर भारत में निषाद, किरात (मंगोल) और आर्य रक्त से मिश्रण हुआ तथा इन लोगों ने आर्य भाषाओं को ग्रहण कर लिया। गोंड, खोंड और बेंगा जनजातियाँ इसी वंश की हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में निग्रिटों, निषाद (आस्ट्रिक), द्रविड़ किरात (मंगोलायड) और आर्य जातियों का मिश्रण हुआ है। इनके अतिरिक्त गोल सिर और मध्यम कद वाली अर्मिनायड मानव जाति का मिश्रण द्रविड़ जाति से या तो भारत में आने पर या उसके पूर्व ही हुआ। दक्षिण तथा मध्य भारत और बंगाल में इस जाति के लक्षण स्पष्ट हैं।

प्रजातीय मिश्रण की दृष्टि से भारत उत्तर-पश्चिम में आर्य, उत्तर-पूर्व में किरात तथा निषाद और दक्षिण में द्रविड़ तथा निषाद मानव जातियों के लक्षण अधिक प्रबल हैं।

1.6.2 वर्ण- वर्ण-व्यवस्था हिन्दू धर्म में सामाजिक विभाजन का एक आधार है। हिन्दू धर्म-ग्रंथों के अनुसार समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया है- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। विद्वानों का मत है कि आरंभ में यह विभाजन कर्म आधारित था लेकिन बाद में यह जन्माधारित हो गया। वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी संकेत सर्वप्रथम वेद ग्रंथों में पाए जाते हैं।

वर्ण-व्यवस्था का उद्भव भारतीय समाज के आरम्भिक दौर में हुआ। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि भारतीय समाज में कृषि विकास के परिणामस्वरुप जो एक नई उत्पादन प्रणाली आई, उसके संचालन के लिए श्रम-विभाजन की आवश्यकता पड़ी होगी, जिससे समाज में वर्ण-व्यवस्था का उदय हुआ होगा। ऐसा माना जाता है कि "प्रारंभ में ऋग्वेद के अंतर्गत दो ही वर्ण की चर्चा मिलती है- आर्य वर्ण और दास वर्ण। पर उसी वेद में समाज के तीन स्तरीय विभाजन की भी चर्चा की गयी है- ब्रह्म, क्षात्र तथा विश। शूद्र को चौथे या सबसे निम्न सोपान पर खड़े हैं, उसकी चर्चा नहीं मिलती है, पर ऐसे सामाजिक समूह की चर्चा अवश्य की गयी है जिसे आर्य लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे।"[52] संभवतः यही लोग आगे चलकर शूद्र कहलाए।

कुछ विद्वानों का मानना है कि प्रारंभ में शूद्र लोग अछूत नहीं माने जाते थे। ये लोग मजदूर, सेवक, नौकर या रसोइया का भी काम किया करते थे। प्रारंभ में वर्णों का कोई सोपनिक क्रम भी नहीं हुआ करता था। वे सभी बराबर हुआ करते थे। कोई भी एक से दूसरे वर्ण में अपनी योग्यता और कर्म से जा सकता था।

1.6.3 जाति- भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था की तरह जाति-व्यवस्था भी एक ऐसा कोढ़ है जो समाज को विभिन्न हिस्सों में बाँटनें का काम आज भी अपने सम्पूर्ण शक्ति के साथ कर रहा है। वर्ण-व्यवस्था का ही अगला पड़ाव जाति-व्यवस्था है। अगर सामाजिक अर्थ में देखा जाय तो ये दोनों

[52] समाजशास्त्र के मूलतत्व, पृष्ठ सं.-259-260

एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। लेकिन फिर भी ये एक-दूसरे से भिन्न हैं। वर्ण तो केवल चार ही थें लेकिन जातियाँ हजारों की संख्या में बाँट दी गई। जिसकी अनेक उपशाखाएँ भी हो गयीं। "भारत में जातिप्रथा का अर्थ है समाज को कृत्रिम हिस्सों में विभाजित करना, जो रीति-रिवाजों और शादी-व्यवहार की भिन्नताओं से बंधें हों।"[53] मनुष्य से मनुष्य को पूरी तरह से अलग कर देना इस प्रथा की पहली शर्त है, जो अपनी पूरी दृढ़ता के साथ भारतीय समाज में प्रचलित है।

'जाति' शब्द की व्युत्पत्ति 'जन' धातु से है जिसका अर्थ जन्म देना होता है। इस प्रकार जाति का शाब्दिक अर्थ जन्म है। भारतीय समाज आर्य, द्रविड़, मुस्लिम, मंगोल और शक जैसे अनेक जातियों का सम्मिश्रण है जो अपनी सभ्यता और संस्कृति के साथ यहाँ बस गई। किन्तु भारतीय हिन्दू समाज में जाति की अवधारणा कुछ और ही है। भारतीय समाज में जाति को समझने से पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि वर्ण और जाति में क्या अंतर है? क्योंकि वर्ण का ही विकसित रूप जाति है। देखा जाय तो "वर्ण और जाति कानूनी अर्थ में एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। पद और व्यवसाय दो ऐसी अवधारणायें हैं, जो वर्ण और जाति दोनों में निहित हैं। लेकिन फिर भी दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। वर्ण तो पद या व्यवसाय किसी भी दृष्टि से वंशानुगत नहीं है। पर जाति में पद और व्यवसाय दोनों ही वंशानुगत हैं और इसे पुत्र अपने पिता से ग्रहण करता है।"[54] इससे स्पष्ट होता है कि वर्ण में शूद्र भी अपने कर्म के अनुसार ब्राह्मण की श्रेणी में आ सकता था और ब्राह्मण नीच कर्म के द्वारा शूद्र की श्रेणी में। किन्तु ब्राह्मणवाद ने जाति- व्यवस्था को बनाकर वर्णों की व्यवस्था पूर्णतः समाप्त कर दी और जाति-व्यवस्था में ब्राह्मण सदा-सदा के लिए श्रेष्ठ बन गया।

'जाति' के सन्दर्भ में डॉ. अम्बेडकर से पहले किसी भी भारतीय विद्वान ने जाति और वर्ण-व्यवस्था पर कोई समाजशास्त्रीय और वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया था। फिर भी कुछ प्रमुख विद्वानों ने जाति से सम्बंधित अपनी राय व्यक्त की थी- 'श्री केतकर' के अनुसार जाति के स्वरुप की परिभाषा है- "दो लक्षणों वाला एक सामाजिक समूह, (क) उसकी सदस्यता उन लोगों तक सीमित होती है, जो जन्म

[53] बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय (खण्ड-6), पृष्ठ सं.-21
[54] दलित विमर्श की भूमिका, पृष्ठ सं.-33

से सदस्य होते हैं और जिनमें इस प्रकार जन्म लेने वाले लोग शामिल होते हैं; (ख) कठोर सामाजिक कानून द्वारा सदस्य अपनी जाति से बाहर विवाह करने के लिए वर्जित किये जाते हैं।"[55]

पाश्चात्य फ्रांसिसी विद्वान 'सेनार' का सिद्धांत है कि- "तीव्र वंशानुगत आधार पर घनिष्ठ सहयोग, विशिष्ट पारंपरिक और स्वतंत्र संगठनों से युक्त, जिसमें एक मुखिया और पंचायत हो, उसकी समय-समय पर बैठकें होती हों, कुछ उत्सवों पर मेले हों, एक सा व्यवसाय हो, जिसका विशिष्ट सम्बन्ध रोटी-बेटी व्यवहार से और समारोह अपमिश्रण से हो, और इसके सदस्य उसके अधिकार क्षेत्र से विनियमित होते हों, जिसका प्रभाव लचीला हो, पर जो सम्बद्ध समुदाय पर प्रतिबन्ध और दंड लागू करने में सक्षम हो और सबसे बढ़कर समूह से अपरिवर्तनीय।"[56]

इसी क्रम में 'नेसफील्ड' जाति की परिभाषा बताते हैं कि- "समुदाय का एक वर्ग जो दूसरे वर्ग से संबंधों का बहिष्कार करता हो और अपने सम्प्रदाय को छोड़कर दूसरे के साथ शादी व्यवहार तथा खान-पान से परहेज करता हो।"[57]

'हर्बर्ट रिजले' के विचारानुसार- "जाति का अर्थ है, परिवारों का या परिवार समूहों का संगठन, जिसका साझा नाम हो, जो किसी खास पेशे से सम्बद्ध हो, जो एक से पौराणिक पूर्वजों-पितरों के वंशज होने का दावा करता हो, एक जैसा व्यवसाय अपनाने पर बल देता हो और सजातीय समुदाय का हामी हो।"[58]

प्रसिद्ध समाजशास्त्री 'डॉ. घुर्ये' ने भी जाति-प्रथा के कारणों को समझने के लिए निम्न बातों का विवेचन किया है – 1. जाति प्रथा द्वारा भारतीय समाज का अनेक टुकड़ों में विभाजन। 2. जातियों का समाज में ऊँच- नीच का स्थान निर्धारित होना और छुआछूत तथा श्रेष्ठ समझने की भावना का पैदा होना। 3. भोजन तथा सामाजिक उठने- बैठने पर पाबंदी। 4. व्यवसायों का स्थिरीकरण या वंशानुगत होना, साथ

[55] बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय (खण्ड-1), पृष्ठ सं.-19
[56] बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय (खण्ड-1), पृष्ठ सं.-19
[57] बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय (खण्ड-1), पृष्ठ सं.-19
[58] बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय (खण्ड-1), पृष्ठ सं.-19

ही अंतर्विवाह अनिवार्य ताकि प्रत्येक जाति केवल अपनी ही उपजातियों में विवाह करें। दूसरी तरफ 'नेसफ़ील्ड' पेशा या व्यवसायगत विशेषता तो 'डॉ. अम्बेडकर' सजातीय और विजातीय अर्थात् अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह को जाति का कारण मानते हैं।

उपर्युक्त मतों से यह स्पष्ट होता है कि जाति मनुष्यों को टुकड़ो में विभाजित करती है और उन्हें उनके व्यवसाय के आधार पर अलग कर ऊँच-नीच की भावना पैदा करती है तथा सदा के लिए उन्हें अपने समूह में रहने के लिए बाध्य कर देती है। देखा जाय तो वर्ण-व्यवस्था का परिवर्तनशील तथा विकसित रूप ही जाति-व्यवस्था है। वर्णाश्रम में यह सुविधा तो थी कि शूद्र अच्छे कर्मों से ब्राह्मणत्व की स्थिति को प्राप्त कर सकता था और ब्राह्मण अपने निकृष्ट कर्मों के फलस्वरूप शूद्र की कोटि में आ जाता था। किन्तु जाति-प्रथा ने इसे सदा के लिए स्थायी कर दिया, जिसमें ब्राह्मण सदैव श्रेष्ठ की कोटि में और शूद्र निम्न की कोटि में रहने के लिए बाध्य हो गया। जाति-प्रथा ने जन्म को सबसे महत्वपूर्ण बना दिया। दलित चिन्तक ओमप्रकाश वाल्मीकि इसे स्पष्ट करते हैं कि- "जाति का प्रमुख सिद्धांत है कि जन्म के आधार पर व्यक्ति बड़ा या छोटा होता है इसलिए ब्राह्मण श्रेष्ठ है और शेष सभी उससे नीचे हैं। ये जातियाँ पिरामिड की शक्ल में हैं। जन्म पर आधारित असमानता, कार्य की श्रेणी और अपने समूह से बाहर विवाह पर प्रतिबन्ध आदि नियम जाति के आधार हैं।"[59]

ऐसा क्यों किया गया? इसके पीछे वे क्या विशेष उद्देश्य रहें जिसने वर्णाश्रम को जाति-व्यवस्था में तब्दील कर दिया? अगर हम वर्णाश्रम के व्यवस्था को देखें तो यह बात साफ़ हो जाती है। चूँकि वर्ण-व्यवस्था में चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थें। ब्राह्मण सामजिक स्थिति में उच्च पद पर थे उन्हें सदा के लिए उस स्थान पर कायम रहने के लिए ही जाति का विधान ब्राह्मणों द्वारा रचा गया। इस कार्य को मनु नामक एक ब्राह्मण ने किया जिसने 'मनुस्मृति' की रचना कर ब्राह्मण को उच्चता के पद पर सदा के लिए स्थापित कर दिया और उन्हें बनाए रखने के लिए जाति के अनेक विधान रचे। जाति आधारित कर्म एवं श्रम का ऐसा विभाजन किया जिसमें ब्राह्मणों का साम्राज्य हमेशा-हमेशा के लिए

[59] मुख्यधारा और दलित साहित्य, पृष्ठ सं.-83

कायम हो गया। यह विभाजन श्रम नहीं बल्कि श्रमिक विभाजन था। ओमप्रकाश वाल्मीकि मानते हैं कि "जबकि वास्तविकता यह है कि यह श्रम विभाजन नहीं 'श्रमिक-विभाजन' था, जो ब्राह्मणों के वर्चस्व को कायम रखने के लिए रचा गया था।"[60] इस जाति-व्यवस्था का सबसे बड़ा शिकार शूद्र समुदाय हुआ। क्योंकि भारतीय समाज में निम्न श्रेणी के काम माने जाने वाले शूद्र ही करते थे अतः वे सदा के लिए स्थायी हो गए। जिससे धीरे-धीरे वे घृणा के पात्र बनते चले गए।

'मनुस्मृति' को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणों ने जाति-प्रथा का आश्रय क्यों लिया। फिर भी हमारे कुछ विद्वान बेकार का तर्क गढ़ते हुए कहते हैं कि- "आर्यों अर्थात् ब्राह्मणों ने जाति-प्रथा का आश्रय इसलिए लिया की उन्हें इस देश के अनेक वर्गों और लोगों को एक ही समाज के अन्दर, अपनी-अपनी सभ्यता और संस्कृति के अनुसार, उचित स्थानों पर बिठाना था।"[61] वहीं कुछ लोगों का मानना है कि "जाति-प्रथा वस्तुतः व्यक्ति के निजी और धार्मिक जीवन का स्वरुप स्थिर करती है, उसके सार्वजनिक जीवन पर इसका प्रभाव कदापि नहीं जान पड़ता। विवाह और खानपान का सीमाबंधन मनुष्य की व्यक्तिगत पवित्रता की हरसंभव रक्षा करता है।"[62] ऐसे लोग भूल जाते हैं कि जाति-प्रथा का आधार क्या है, वह व्यक्तिगत पवित्रता ही क्या जो मनुष्यता का हनन करके पाई जाय। वे यह भी भूल जाते हैं कि प्रत्येक मनुष्य समाज में समानता का अधिकार चाहता है, अच्छा जीवन व्यतीत करना चाहता है, न की हमेशा जीवन भर गंदे कार्य करना।

भारत में जातियों और उपजातियों की निश्चित संख्या बताना कठिन है। श्रीधर केतकर के अनुसार "केवल ब्राह्मणों की 800 से अधिक अंतर्विवाही जातियाँ हैं। और ब्लूमफील्ड का मत है कि ब्राह्मणों में ही दो हजार से अधिक भेद हैं। सन् 1901 की जनगणना के अनुसार, जो जातिगणना की दृष्टि से अधिक शुद्ध मानी जाती है, भारत में उनकी संख्या 2378 है। डॉ. जी. एस. घुर्ये की प्रस्थापना है कि प्रत्येक भाषाक्षेत्र में लगभग दो सौ जातियाँ होती हैं, जिन्हें यदि अंतर्विवाही समूहों में विभक्त किया जाए

[60] मुख्यधारा और दलित साहित्य, पृष्ठ सं.-81
[61] संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ सं.-49
[62] भारतीय संस्कृति की रुपरेखा, पृष्ठ सं.-37

तो यह संख्या लगभग 3,000 हो जाती है ।"[63] जाति की यह विशेषता है कि वह समाज को खण्डों में विभाजित करे, लोगों के बीच ऊँच-नीच भाव पैदा करे, लोगों के बीच खान-पान और सामाजिक संबंधों पर प्रतिबन्ध लगाये, पेशे का चुनाव अपनी ही जाति का करे जो पैतृक हो, शादी अपनी ही जाति में करे आदि।

अतः स्पष्ट है कि जाति-व्यवस्था हिन्दू समाज में एक अभिशाप है। जो मानव समाज के बीच भेद-भाव, ऊँच-नीच, घृणा आदि का भाव पैदा करता है, सामाजिक विषमता फैलाती है।

1.6.4 वर्ग- सामान्य रूप से वर्ग के संदर्भ में सीधे-सीधे यह समझा जाता है वर्ग एक ऐसा समूह है, जो बाजार और अर्थव्यवस्था (संपत्ति) के आधार पर अलग-अलग बंटे होते हैं। इसलिए औद्योगिक समाज जहाँ होगा वहाँ वर्ग-व्यवस्था निश्चित तौर पर पाई जाएगी। वर्ग के संदर्भ में एस.एल.दोषी और पी.सी. जैन कहते हैं कि- "आम आदमी वर्ग का मतलब कारखानों और बाजार में काम करने वाले लोगों से लेता है। और फिर वर्ग भी कई प्रकार के हैं। एक ओर मजदूरी करने वाले लोग हैं, दूसरी ओर सफ़ेद पोश लोग हैं और सब से ऊपर उच्च या अभिजन लोग हैं।"[64] दूसरी तरफ मार्क्सवादी विचारक 'वर्ग' को दो श्रेणियों में विभाजित करते है- अमीर (पूंजीपति) और गरीब (मजदूर)। इस प्रकार वे आर्थिक संबंधों के परिप्रेक्ष्य में वर्ग को देखते हैं। क्योंकि वे मानते हैं कि- "पूँजीवादी-औद्योगिक व्यवस्था में प्रायः दो वर्ग पाए जाते हैं- (1) पूँजीपति वर्ग, और (2) श्रमिक वर्ग। उत्पादन के साधनों पर पूंजीपति वर्ग का स्वामित्त्व होता है। श्रमिक वर्ग अपनी मेहनत ओ पूँजीवादी समाज में बेचकर अपनी जीविका उपार्जित करता है। मार्क्स ने इस वर्ग को सर्वहारा वर्ग भी कहा है।"[65]

वर्ग के संदर्भ में समाजशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न परिभाषाएं दी हैं-

[63] https://hi.wikipedia.org/wiki/जाति

[64] भारतीय समाज : संरचना एवं परिवर्तन, पृष्ठ सं.-94

[65] भारतीय समाज : संरचना एवं परिवर्तन, पृष्ठ सं.-94

मैक्स वेबर का मानना है कि- "वर्ग व्यक्तियों का एक समूह है। इसके सदस्य बाजार अर्थव्यवस्था में अधिक से अधिक लाभ लेने के लिए प्रतियोगिता करते हैं। बाजार वह है, जहाँ वस्तुओं का विनिमय होता है। किसी भी व्यक्ति की व्यावसायिक योग्यता का प्रतिफल बाजार भाव से ही मिलता है।"[66]

एंथोनी गिडेंस 'वर्ग' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि- "वर्ग एक वृहत् स्तर पर लोगों का एक समूह है जिनकी आर्थिक संसाधनों में सामान भागीदारी होती है। वे लोग दृढ़ता से विशेष प्रकार की जीवन पद्धति को प्रभावित करते हैं। वर्ग विभेदीकरण के दो आधार हैं- (1) धन का स्वामित्व, और (2) इससे जुड़ा हुआ व्यवसाय।"[67]

'मार्क्स' वर्ग के सम्बन्ध में कहते हैं- "जब लाखों परिवार ऐसी आर्थिक दशा में जीवनयापन करते हैं तो उन्हें उनकी जीवन पद्धति, उनके हेतुओं और उनकी संस्कृति से अन्य वर्गों से विमुख कर देती है और उन्हें शत्रुतापूर्ण विरोधी खेमें में ला देती है, वर्ग कहलाती है।"[68] इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्ग की अवधारणा का आधार आर्थिक व्यवस्था पर टिका हुआ है। जहाँ एक तबका उच्च है तो दूसरा निम्न श्रेणी में आता है। लेकिन ये वर्ग बंद नहीं होते बल्कि खुले होते हैं, जिसमें एक व्यक्ति अपने परिश्रम से आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ करके दूसरे वर्ग में आसानी से जा सकता है। उदाहरण के रूप में "गाँवों में जब हरित क्रांति आई तो देखते ही देखते कई किसानों का उत्पादन बढ़ गया। उनकी फसलें नगद फसलें हो गयीं और वे बड़े किसान बन गए।"[69]

भारतीय समाज में वर्ग का स्वरुप भिन्न है। यहाँ समाज वर्गों में बँटने से पहले धर्म और जातियों में बंटा हुआ है अर्थात् धर्म और जातियाँ ही वर्ग निर्धारण का कार्य करती हैं। यहाँ व्यक्ति सबसे पहले धार्मिक वर्गों में बंटा है। अगर वह हिन्दू है तो सबसे पहले उसका वर्ग हिन्दू समुदाय के लोग है।

---

[66] भारतीय समाज : संरचना एवं परिवर्तन, पृष्ठ सं.-95
[67] भारतीय समाज : संरचना एवं परिवर्तन, पृष्ठ सं.-95
[68] भारतीय समाज : संरचना एवं परिवर्तन, पृष्ठ सं.-96
[69] भारतीय समाज : संरचना एवं परिवर्तन, पृष्ठ सं.-96

अगर वह मुस्लिम है तो सबसे पहले वो मुसलमान वर्ग का है। इसके पश्चात वह इन धर्मों में व्याप्त जाति-व्यवस्था के वर्गीकरण के दायरे में सिमट जाता है। समाजशास्त्री मानते हैं कि "परम्परागत हिन्दू समाज में स्तरीकरण का आधार जाति-व्यवस्था थी। बाद में चलकर जब भारतीय समाज औद्योगिक समाज बनने लगा तब यहाँ के परम्परागत स्तरीकरण में एक और आयाम जुड़ा।"[70] दरअसल भारतीय समाजशास्त्री वर्ग की संरचना को जाति के संदर्भ में देखते हैं, जो आवश्यक भी है। क्योंकि भारतीय समाज में वर्ग निर्धारण में जाति की बहुत बड़ी भूमिका रही है। जाति और वर्ग के अन्तर को स्पष्ट करते हुए एस.एल. दोषी और पी.सी. जैन कहते हैं कि- "जाति का आधार जन्म, पवित्र और अपवित्र की धारणा और धर्मविधि है जबकि वर्ग का आधार आर्थिक है। जाति, धर्म द्वारा अनुमोदित संरचना है जबकि वर्ग बिना किसी धार्मिक अथवा कानूनी अनुमोदन के एक ठोस यथार्थपरक संरचना है। वर्गों में सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण धन, संपत्ति, निजी उपलब्धि और व्यक्तिगत क्षमता से होता है। जाति का मौलिक अधिकार अन्योन्याश्रयता, पारस्परिक सहयोग और सामूहिकता है जबकि वर्ग प्रतिस्पर्द्धा तथा व्यक्तिकता पर आधारित है।"[71] ऐसे में हम देख सकते हैं कि भारत में वर्ग निर्धारण का आधार जहाँ पूँजीवाद है वहीं एक आधार जाति भी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति के रूप में एक वर्ग ही है। जो अपने-अपने समूह में सिमटे हुए हैं।

1.6.5 लैंगिक- समानता का अर्थ किसी समाज की उस स्थिति से है जिसमें उस समाज के सभी लोग समान (अलग-अलग नहीं) अधिकार या प्रतिष्ठा रखते हैं चाहे वह पुरुष हो या स्त्री। दोनों के सामाजिक समानता के लिए 'कानून के सामने समान अधिकार दिया गया है। जिसके अन्तर्गत सुरक्षा, मतदान का अधिकार, भाषण की स्वतंत्रता, एकत्र होने की स्वतंत्रता, सम्पत्ति अधिकार, सामाजिक वस्तुओं एवं सेवाओं पर समान अधिकार आदि आते हैं। सामाजिक समानता में स्वास्थ्य समानता, आर्थिक समानता, तथा अन्य सामाजिक सुरक्षा भी आती है। इसके अलावा समान अवसर तथा समान दायित्व भी इसके अन्तर्गत आता है।

[70] भारतीय समाज : संरचना एवं परिवर्तन, पृष्ठ सं.-94

[71] भारतीय समाज : संरचना एवं परिवर्तन, पृष्ठ सं.-94

'लैंगिक' या 'लिंग' एक सामाजिक-सांस्कृतिक शब्द है, जो समाज में 'पुरुषों' और 'महिलाओं' के कार्यों और व्यवहारों को परिभाषित करता है। अपने सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पहलुओं में, 'लिंग' पुरुष और महिलाओं के बीच शक्ति के कार्य के संबंध से है जहाँ पुरुष को महिला से श्रेष्ठ माना जाता है। इस तरह, 'लिंग' को मानव निर्मित सिद्धान्त समझना चाहिये। पितृसत्तात्मक समाज होने के कारण लैंगिक आधार पर महिलाओं के साथ भेदभाव करना। समाज में परम्परागत रुप से उन्हें कमजोर जाति-वर्ग के रुप में माना जाना, घर और समाज दोनों जगहों में शोषित और अपमानित करना तथा उन्हें दोयम दर्जे का मानना प्राचीन काल से ही रहा है। महिलाओं के खिलाफ भेदभाव का यह व्यवहार दुनिया में हर जगह प्रचलित है और भारतीय समाज में तो बहुत अधिक है।

भारतीय समाज में लिंग असमानता का मूल कारण इसकी पितृसत्तात्मक व्यवस्था में निहित है। यह सामाजिक संरचना एक ऐसी प्रक्रिया और व्यवस्था है, जिसमें आदमी औरत पर अपना प्रभुत्व जमाता है, उसका दमन करता है और उसका शोषण करता है। महिलाओं का शोषण भारतीय समाज की सदियों पुरानी सांस्कृतिक घटना है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने अपनी वैधता और स्वीकृति हमारे धार्मिक विश्वासों, चाहे वो हिन्दू, मुस्लिम या किसी अन्य धर्म से ही क्यों न हों, से प्राप्त की हैं। उदाहरण के लिये, प्राचीन भारतीय हिन्दू कानून के निर्माता मनु के अनुसार- 'ऐसा माना जाता हैं कि औरत को अपने बाल्यकाल में पिता के अधीन, शादी के बाद पति के अधीन और अपनी वृद्धावस्था या विधवा होने के बाद अपने पुत्र के अधीन रहना चाहिये। किसी भी परिस्थिति में उसे खुद को स्वतंत्र रहने की अनुमति नहीं हैं'। मनु द्वारा महिलाओं के लिये वर्णित स्थिति आज के आधुनिक समाज की संरचना में भी मान्य हैं।

'लैंगिक' असमानता मुस्लिम समाजों में भी दिखाई देता है और वहाँ भी भेदभाव या परतंत्रता के लिए मंजूरी धार्मिक ग्रंथों और इस्लामी परंपराओं द्वारा प्रदान की जाती है। इसी तरह अन्य धार्मिक मान्याताओं में भी महिलाओं के साथ एक ही प्रकार से या अलग तरीके से भेदभाव किया गया है।

देखा जाय तो हमारे समाज में 'लैंगिक' असमानता की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति की जिम्मेदार कहीं-न-कहीं स्वयं महिलाएँ भी हैं। प्रचलित सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों के कारण उन्होंने पुरुषों के अधीन

अपनी स्थिति को स्वीकार कर लिया है, यह जानते हुए भी कि संवैधानिक अधिकारों द्वारा उन्हें प्रत्येक क्षेत्र में समानता का हक दिया गया हैं।

महिलाओं के समाज में निचला स्तर होने के कुछ कारणों में से अत्यधिक गरीबी और शिक्षा की कमी भी हैं। गरीबी और शिक्षा की कमी के कारण बहुत सी महिलाएं कम वेतन पर घरेलू कार्य करने, संगठित वैश्यावृति का कार्य करने या प्रवासी मजदूरों के रुप में कार्य करने के लिये मजबूर होती हैं। महिलाओं को न केवल असमान वेतन या अधिक कार्य कराया जाता हैं बल्कि उनके लिये कम कौशल की नौकरियाँ पेश की जाती हैं जिनका वेतनमान बहुत कम होता हैं। यह लिंग के आधार पर असमानता का एक प्रमुख रूप बन गया है।

लड़की को बचपन से शिक्षित करना कहीं-कहीं अभी भी एक बुरा निवेश माना जाता हैं क्योंकि एक दिन उसकी शादी होगी और उसे पिता के घर को छोड़कर दूसरे घर जाना पड़ेगा। इसलिये, वे अच्छी शिक्षा के अभाव में वर्तमान में नौकरियों में कौशल माँग की शर्तों को पूरा करने में असक्षम हो जाती हैं, वहीं प्रत्येक साल हाई स्कूल और इंटरमीडिएट में लड़कियों का परिणाम लड़कों से अच्छा होता है। बावजूद इसके 12वीं कक्षा के बाद माता-पिता लड़कियों की शिक्षा पर ज्यादा खर्च नहीं करते जिससे कि वो नौकरी प्राप्त करने के क्षेत्र में पिछड़ रही हैं। अतः कहा जा सकता है कि महिलाओं के साथ असमानता और भेदभाव का व्यवहार समाज में, घर में, और घर के बाहर विभिन्न स्तरों पर किया जाता है।

भारत में हम लैंगिक असमानता को वैश्विक सूचकांक के आंकड़ों को देखें तो यह बहुत ही खराब स्थिति को प्रदर्शित करता है। जिसे निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं-

- "यूएनडीपी के लिंग असमानता सूचकांक - 2014: 152 देशों की सूची में भारत की स्थिति 127वें स्थान पर हैं। सार्क देशों से संबंधित देशों में केवल अफगानिस्तान ही इन देशों की सूची में ऊपर है।

- विश्व आर्थिक मंच के वैश्विक लिंग अंतराल सूचकांक - 2014: विश्व के 142 देशों की सूची में भारत 114 वें स्थान पर है। ये सूचकांक में चार प्रमुख क्षेत्रों में लैंगिक अंतर की जाँच करता है:-
- आर्थिक भागीदारी और अवसर।
- शैक्षिक उपलब्धियाँ।
- स्वास्थ्य और जीवन प्रत्याशा।
- राजनीतिक-सशक्तिकरण।

इन सभी सूचकाकों के अन्तर्गत भारत की स्थिति इस प्रकार है-

- आर्थिक भागीदारी और अवसर– 134
- शैक्षिक उपलब्धियाँ– 126
- स्वास्थ्य और जीवन प्रत्याशा– 141
- राजनीतिक सशक्तिकरण– 15"[72]

ये दोनों वैश्विक सूचकांक लिंग समानता के क्षेत्र में भारत की खेद जनक स्थिति को प्रदर्शित करते हैं। बस केवल राजनीतिक सशक्तिकरण के क्षेत्र में भारत का कार्य सराहनीय हैं लेकिन अन्य सूचकाकों में इसकी स्थिति बहुत खेदजनक हैं और इस स्थिति में सुधार करने के लिये बहुत अधिक प्रयास करने की जरुरत हैं।

इसी क्रम में अगर हम लैंगिक असमानता के सांख्यिकी को देखे तो लिंग असमानता विभिन्न तरीकों में प्रकट होती है। और भारत में जो सूचकांक सबसे अधिक चिन्ता का विषय है वो निम्न हैं-

- "कन्या भ्रूण हत्या
- कन्या बाल-हत्या
- बच्चों का लिंग अनुपात (0 से 6 वर्ग): 919

[72] http://www.hindikiduniya.com/india/social-issues/gender-inequality/

- लिंग अनुपात: 943
- महिला साक्षरता: 46%
- मातृ मृत्यु दर: 1,00,000 जीवित जन्मों प्रति 178 लोगों की मृत्यु।

ये ऊपर वर्णित सभी महत्वपूर्ण सूचकांक में से कुछ सूचकांक हैं जो देश में महिलाओं की स्थिति को प्रदर्शित करते हैं। कन्याभ्रूण हत्या और बाल-कन्या हत्या सबसे अमानवीय कार्य हैं और ये बहुत शर्मनाक हैं कि ये सभी प्रथाएं भारत में बड़े पैमाने पर प्रचलित हैं।"[73]

जैसा की हम जानते हैं कि भारत का सविंधान औरतों और पुरुष के बीच किसी तरह का अंतर करने के खिलाफ है। अनुच्छेद 14 में साफ कहा गया है कि कानून के आगे सब बराबर होंगे। जाति, धर्म, जन्म के स्थान और जेंडर के आधार पर कानून भेदभाव नहीं करेगा। लेकिन विश्लेषण से ये पता चलता है कि भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति अच्छी नहीं है। भारत की जनसंख्या में पुरुष और महिलाओं का लिंग अनुपात लगातार बदल रहा है जो महिलाओं के प्रतिकूल होता जा रहा है।

भारतीय समाज में महिलाओं की दहेज के लिए हत्या, अनेक प्रकार के घरेलू अत्याचार, उनकी पढ़ाई या भविष्य के बारे में ज्यादा ध्यान न देना, जल्दी शादी इत्यादि अनेक समस्याएं उनकी स्थिति को और खराब बनाती है। महिलाओं के साथ अक्सर देखा गया है की बचपन से ही भेद-भाव किया जाता है। भारतीय समाज में अपने पति पर निर्भरता ही ज्यादातर महिलाओं का भाग्य बन जाता है। काम, खाना और सामाजिक गतिविधियों के वितरण के रूप में अक्सर उनके साथ भेद-भाव किया जाता रहा है। भारतीय समाज में लड़कियाँ आमतौर पर बोझ समझी जाती हैं और इस तरह की मानसिकता ही उनके विकास में बाधक सिद्ध होते हैं। जब एक लड़की वयस्क होती है तो साधारणतया वो शारीरिक रूप से कमजोर और मानसिक रूप से विवश पाई जाती है। वे न तो अपनी क्षमता का एहसास करने में सक्षम होती है न ही समाज के मुख्यधारा में योगदान करने में सक्षम होती है। हालाँकि, कुछ महिलाओं ने अपने रास्ते में आने वाली मुश्किलों का सामना किया और जीवन के कई क्षेत्रों में अपार सफलता भी प्राप्त की

[73] http://www.hindikiduniya.com/india/social-issues/gender-inequality/

है। शिक्षा, शादी के लिए एक न्यूनतम उम्र सीमा तथा अनेक क्षेत्रों में महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था से थोड़ा बदलाव आया है। पहले की तुलना में अब अधिक से अधिक महिलाएं सार्वजनिक कार्यालयों में नजर आने लगी हैं जो कि एक अच्छा संकेत है। हालाँकि, जहाँ तक लैंगिक भेदभाव का प्रश्न है भारतीय समाज को अभी लम्बी दूरी तय करनी है।

1.7 भारतीय समाज-व्यवस्था एवं दलित- ऐसा माना जाता है कि भारत विविध संस्कृतियों का मिला-जुला एक अनोखा देश हैं। यहाँ कई जातियों, धर्मों एवं संस्कृतियों को मानने वाले लोग एक साथ रहते हैं। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध आदि जिनकी अपनी अलग-अलग परम्पराएँ, रीति-रिवाज, वैचारिक मतभेद होने के बावजूद भी एक साथ रहते हैं। और आज एक मिश्रित संस्कृति के रूप में इस देश को जाना जाता है। एक साथ होने के बावजूद भी समाज में मानवीय मतभेद इतना है कि एक तबका उच्च और जितना श्रेष्ठ है दूसरा तबका उतना ही गरीब और निम्न है। इस समाज में जहाँ एक तरफ वर्ग अर्थात् पूंजीपति और मजदूर की अवधारणा है तो वहीं दूसरी तरफ वर्ण और जाति अर्थात् सवर्ण एवं अवर्ण की अवधारणा भी है। इसलिए आज के भारतीय सामाजिक स्थिति को समझने के लिए हमें इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी संक्षेप में निम्नलिखित रूप में देखना जरुरी होगा।

1.7.1 सिंधु-घाटी सभ्यता में समाज- सिंधु घाटी सभ्यता को न जानने से पहले भारतीय समाज का परिचय वेद और पुराणों से ही प्राप्त होता है। और उसी के आधार पर हम भारतीय समाज का विवेचन और विश्लेषण अब तक करते आ रहे थे। लेकिन "1922-23 ई. में होने वाली एक खोज के परिणाम स्वरुप इस धारणा में परिवर्तन हुआ। इस धारणा के परिवर्तन का कारण था, सिन्धु क्षेत्र में होने वाले उत्खननों के फलस्वरूप एक अत्यन्त पुरातन सभ्यता की खोज। सिंधु घाटी की सभ्यता इसी खोज का प्रतिफल है।"[74] इस खोज में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के रूप में बहुत विकसित सभ्यता मिली, जो काफी उन्नत और प्रगतिशील थी। इसलिए भारतीय समाज को समझने के लिए हमें इसे हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से जोड़कर देखने की जरुरत है। इसका संपर्क ईरान, मेसोपोटामिया और मिस्र की सभ्यताओं

[74] प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ सं.-28

से भी रहा है, जिनके बीच व्यवहार एवं व्यापार दोनों रहा। ऐसा माना जाता है कि "यह एक शहरी सभ्यता थी जहाँ के व्यापारी मालदार और प्रभावशाली लोग थे। सड़कों पर दुकानों की कतारें होती थी, और ऐसी इमारतें जो शायद छोटी-छोटी दुकानें थीं, जो आजकल के भारत के बाज़ार जैसी लगती हैं।"[75] इसी क्रम में प्रसिद्ध इतिहासकार 'चाइल्ड' (Child) सिंधु घाटी सभ्यता के सामाजिक-व्यवस्था के बारे में कहते हैं- "इससे स्पष्ट रूप से यह परिणाम निकलता है कि सिंध के शहरों के कारीगर बिक्री के लिए सामान तैयार करते थे। इस सामान के विनिमय की सुविधा के लिए समाज ने कोई सिक्कों का चलन और कीमतों की माप स्वीकार की थी या नहीं, और अगर की थी तो वह क्या थी, इसका ठीक पता नहीं। बहुत से बड़े और विस्तृत मकानों के साथ लगे हुए सुरक्षित गोदामों से पता लगता है कि इनके मालिक सौदागर लोग थे। इन घरों की गिनती और आकार यह बतातें हैं कि यहाँ पर सुदृढ़ और खुशहाल व्यापारियों की बस्ती थी।"[76] इससे ज्ञात होता है कि कुल मिलाकर सैंधव सभ्यता अच्छी थी।

सिंधु घाटी की सामाजिक स्थिति पर नजर डालें तो यह मूल रूप से चार वर्गों में विभाजित थी- योद्धा, विद्वान, व्यापारी और श्रमिक। इससे यह पता चलता है कि इस समाज में वर्ण और जातिगत व्यवस्था नहीं थी। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में दो तरह के भवन मिले हैं- एक बड़े आकर वाले और दूसरा छोटे आकर वाले। बड़े घरों में संपन्न लोग रहते थे और छोटे घरों में मजदूर, गरीब अथवा दास रहते थे। कुल मिलाकर यह समाज मुख्य रूप से दो वर्गों में विभक्त था- एक सम्पन्न एवं दूसरा गरीब। लेकिन वहाँ वर्ण एवं जाति व्यवस्था जैसी कोई चीज नहीं थी।

अत्यंत प्राचीन सभ्यता होने के कारण इसका कोई लिखित इतिहास नहीं मिलता। खुदाई के दौरान मिले अवशेषों से इसकी सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक जानकारी प्राप्त होती है। सिन्धुवासियों के खान-पान के विषय में बहुत ही कम जानकारी प्राप्त होती है। "पुराविदों की मान्यता है कि सैंधव लोग गेहूँ एवं जौ खाते थे, किंतु कालीबंगा एवं निकटवर्ती प्रदेश के लोगों को जौ से ही संतुष्ट रहना पड़ता था। चावल और बाजरा गुजरात के रंगपुर, सुरकोतदा आदि स्थानों के निवासी पसंद करते

[75] भारतीय समाज : संरचना और परिवर्तन, पृष्ठ सं.-9

[76] भारतीय समाज : संरचना एवं परिवर्तन, पृष्ठ सं.-9

थे।"[77] मनोरंजन के तौर पर शिकार करना, पशु-पक्षियों को आपस में लड़ाना, मछली पकड़ना, चौपड़ और पासा खेलना आदि इनके दिनचर्या में शामिल था।

धार्मिक जीवन के अंतर्गत वे पृथ्वी की पूजा, शिव की पूजा, प्रजनन शक्ति की पूजा, पशु-पूजा, वृक्ष पूजा, नाग पूजा, अग्नि पूजा, सार्वजानिक स्नान एवं जल पूजा, मातृदेवी पूजा आदि का प्रचलन था। मातृदेवी की पूजा और खुदाई में मिले स्त्री मूर्तियों की संख्या दर्शाती है कि सिंधु सभ्यता का समाज 'मातृसत्तात्मक' था और स्त्रियों का समाज में काफी सम्मान था। डॉ. अमर कान्त सिंह कहते हैं कि- "सैंधव सभ्यता के धार्मिक जीवन के विषय में हवन कुंडों में होने वाले हवनों (जैसे कालीबंगा) इत्यादि के आधार पर अनुमान लगाया जाता है। वृक्ष पूजा (पीपल), पशु पूजा (कूबड़ वाला पशु) एवं जल पूजा के भी प्रमाण सैंधव सभ्यता में मिले हैं। सिंधु सभ्यता में मंदिरों का कोई अवशेष नहीं मिला है।"[78] इससे यह प्रमाणित होता है कि पूजा के लिए मंदिरों की स्थापना सिंधु सभ्यता के बाद की घटना है। सिंधु समाज में वर्ण और जाति की व्यवस्था न होने के कारण लोगों में छुआछूत की भावना नहीं थी। आज के तरह सवर्ण और दलित का भेद भी नहीं था।

1.7.2 वैदिक कालीन समाज- भारत में आर्यों के आगमन के बाद वैदिक काल की शुरुआत होती है। इस काल में आर्यों द्वारा 'ऋग्वेद' जैसे ग्रंथ की रचना हुई, जिससे उस समय के समाज की जानकारी हासिल होती है। इस ग्रंथ में वर्णित समाज, सिंधु कालीन समाज से काफी भिन्न दिखाई देता है। आर्यों के संदर्भ में कई सारी धारणाएं मौजूद हैं। "कुछ विद्वानों का मत है कि आर्य मध्य एशिया से आये। यहाँ आकर उन्होंने द्रविड़ों को परास्त किया, उन्हें दक्षिण भारत में धकेल दिया। एक यह भी विचार है कि आर्य यहाँ सिंध घाटी की सभ्यता के एक हज़ार साल बाद आये। फिर भी यह निश्चित है कि सिंध घाटी में आर्य और द्रविड़ समूहों में संस्कृति का आदान-प्रदान हुआ। दोनों व्यवस्थाओं में समन्वय हुआ और इस भांति हिन्दू धर्म का उद्भव हुआ।"[79] अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में ही आर्यों

[77] प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ सं.-41-42
[78] प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ सं.- 42
[79] भारतीय समाज : संरचना एवं परिवर्तन, पृष्ठ सं.-15

का आगमन हुआ था न की सिंधु सभ्यता में। और आर्यों के आगमन के बाद ही हिन्दू समाज की स्थापना हुई थी।

वेद कालीन समाज की व्यवस्था का प्रमुख आधार वर्ण-व्यवस्था थी। इस समय तक जाति व्यवस्था की नींव नहीं पड़ी थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत किसी भी व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुणों के अनुरूप कार्य करने की स्वतंत्रता थी। इसलिए व्यक्ति के कर्म का विशिष्ट महत्व था। अच्छे कर्म करके व्यक्ति नीचे की श्रेणी से ऊपर की श्रेणी में जा सकता था। अतः व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण उसके कर्म से होता था। वेदों में संकेत मिलते हैं कि "कर्म से एक राजन पुरोहित हो सकता था एवं पुरोहित राजन। महर्षि विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए भी कर्म से ब्राह्मण थे।"[80]

इस काल में सामाजिक व्यवस्था का आधार रक्त-संबंध था। समाज पितृसत्तात्मक था। परिवार का मुखिया स्वाभाविक रूप में मानवीय करुणाशील होता था। बहुत कम ऐसी घटनाएं मिलती थी जहाँ घर का मुखिया अपने पुत्रों पर क्रोधित होकर उसे दंडित करता था। पितृसत्तात्मक समाज होने के कारण पुत्र का समाज में विशेष महत्व था।

समाज में विवाह एक पवित्र संस्कार के रूप में माना जाता था, जो परिवार, व्यक्ति और सामाजिक विकास के लिए बहुत आवश्यक माना जाता था। धार्मिक कार्य हेतु पति-पत्नी दोनों की उपस्थिति अनिवार्य होती थी। स्त्रियों को अपने पति का चयन करने की स्वतंत्रता भी थी।

वैदिक काल में स्त्रियों की सामाजिक एवं पारिवारिक स्थिति, पितृसत्तात्मक समाज होने के बावजूद भी अच्छी थी। साधारणतया एक पत्नीव्रत की प्रथा थी। इस समय बाल-विवाह का प्रचलन नहीं था। लड़कियों का विवाह 16 या 17 वर्ष की उम्र में होता था। विधवा तथा अंतर्जातीय विवाह भी होता था। पुरुषों में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। स्त्रियों को भी उपनयन संस्कार का अधिकार था। बहुत सी स्त्रियाँ विदुषी थीं। जैसे – लोपामुद्रा, अपाला, सिक्ता, घोषा आदि । समाज में "तलाक, सती प्रथा, पर्दा

[80] प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ सं.-52

प्रथा, बाल विवाह, बहुपत्नित्व का प्रचलन नहीं था। दूसरी तरफ विधवा विवाह एवं नियोग प्रथा का प्रचलन था। नियोग प्रथा में विधवा स्त्री को पुत्र प्राप्ति के लिए अपने देवर के साथ पत्नी के रूप में रहना था। विदुषी महिलाओं को 'ऋषिका' या 'ब्रह्मवादिनी' कहा जाता था। जीवन भर अविवाहित रहने वाली लड़कियों को 'अमाजू' कहा जाता था और इस स्थिति में यदि पुत्री पिता के घर में ही रहती है तो वह पिता की संपत्ति की हिस्सेदार होती थी।"[81] अतः हम देख सकते हैं कि स्त्रियों की समाज और परिवार में स्थिति काफी अच्छी थी। लेकिन यहाँ हमें ध्यान देना होगा ये वे स्त्रियाँ थीं जो दास नहीं थी।

वैदिक काल की प्रारम्भिक स्थिति में समाज में दो वर्ण थे– आर्य और दास। दासों का उपयोग घरेलू दासों के रूप में किया जाता था। कृषि में उनका उपयोग इस समय तक नहीं होता था। यह दास प्राचीन यूनान और रोम की भाँती नहीं थी। दरअसल यह माना जाता है कि आर्य जब भारत में आए तो इन्हीं दासों अर्थात् जो सिंधु सभ्यता के मूल निवासी थे, के साथ संघर्ष हुआ था। और इनके हारने के बाद इन्हें दास की श्रेणियों में रख दिया गया। इतिहासकार डॉ. रामशरण शर्मा ने लिखा है कि- "घुमक्कड़ आर्यों और अनार्यों के बीच भयानक संघर्ष हुआ। आर्यों की आँखें दुश्मनों की संपत्ति पर लगी हुई थीं। उन्हें हड़पने के लिए, उनमें निरन्तर संघर्ष होते रहे। दस्युओं के पास स्वर्ण, हीरा, जवाहरात भी थे, जिनके चलते आर्यों का मन मचल गया।"[82] यह संघर्ष सैकड़ों वर्षों तक चलता रहा, जिसका उल्लेख वेदों में 'देवासुर संग्राम' के रूप में मिलता है। दास बनाने के बाद इनसे कई तरह के अशोभनीय काम लिए गए। लेकिन दासों की स्थिति उतनी बुरी नहीं थी जितनी बाद के समय में हो गई।

1.7.3 उत्तर-वैदिक कालीन समाज- ऋग्वैदिक काल के समाप्ति के बाद के काल को उत्तर वैदिक काल कहा जाता है। ऋग्वैदिक काल लगभग 1100 ई. पू. समाप्त हो गया माना जाता है। इसके बाद ऋग्वेद के परवर्ती तीन वेदों- यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ग्रंथों की रचना हुई। इनके

[81] प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ सं.-53

[82] दलित साहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ सं.- 53

अलावा ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् आदि ग्रंथों की रचना हुई। इन ग्रंथों से ही हमें उत्तरवैदिक कालीन समाज के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।

इस काल में आर्य सभ्यता का विकास और विस्तार हुआ। ये धीरे-धीरे सिंध और पंजाब के क्षेत्र से उत्तरी और दक्षिणी भारत के तरफ फैले। जहाँ इनका संपर्क कई अन्य जातियों से हुआ। जिससे आर्यों का राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक विकास हुआ। उत्तरवैदिक काल में ही समाज में वर्ण-व्यवस्था की नींव पड़ी। जहाँ समाज चार वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित किया गया। और आगे चलकर इन्हीं वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत कई जातियों और उपजातियों का निर्माण हुआ। डॉ. अमर कान्त सिंह कहते हैं कि- "इस युग की प्रमुख विशेषतायें थीं- कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था, कबायली संरचना में विघटन, वर्ण व्यवस्था का जन्म और क्षेत्रगत साम्राज्यों का उदय। उत्तर वैदिक काल में आर्यों के जीवन में स्थायित्व नहीं देखा जाता है, बल्कि पूर्वकाल की तुलना में महत्वपूर्ण परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि आर्य ग्रामों में निवास करते थे, किंतु इस युग में बड़े-बड़े नगरों का विकास हुआ। इस काल तक आते-आते वर्ण का अभिप्राय भी परिवर्तित हुआ। शूद्र को सम्मिलित करते हुए चार वर्णों की परिकल्पना की गयी। रक्त-सम्बन्ध समाज का आधार था। समाज की महत्वपूर्ण इकाई कुल था। अब चारों वर्णों के बीच भेद-भाव उत्पन्न होने लगे था।"[83] अतः इस भेद भाव के कारण कई तरह के सामाजिक और पारिवारिक बंधन भी हो गए।

आर्यों ने समाज में कई तरह के धार्मिक बंधन लोगों पर लगा दिए। समाज में धर्म का महत्त्व काफी प्रबल हो गया। आर्यों के जीवन में स्थायित्व भी आ गया था। देवी-देवताओं का पूजन, यज्ञ एवं हवन अधिक मात्रा में होने लगे। जैसे कि- राजाओं द्वारा अश्वमेध यज्ञ, राजसूय या वाजपेय यज्ञ, ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, भूत यज्ञ, पितृ यज्ञ, मनुष्य यज्ञ आदि। धार्मिक कर्मकांड भी काफी प्रचलित हो गए थे। ये सभी धार्मिक कर्म ब्राह्मण एवं पुरोहितों द्वारा किये जाते थे जो समाज में सबसे सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे।

इस समय की सामाजिक स्थिति में शूद्रों जिन्हें आज दलित कहा जाता है कि स्थिति काफी दयनीय हो गयी थी। ये वही शूद्र थें जिन्हें पहले दासों के रूप में जाना जाता था। मनुस्मृति जैसे ग्रंथों को

[83] प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ सं.- 105-106

रचकर समाज को जड़ता की स्थिति में पंहुचा दिया गया था। वैदिक काल में शूद्रों की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए डॉ. आनंद वासकर ने लिखा है कि- "प्राचीन काल में शूद्र की स्थिति नगण्य एवं उसका जीवन निरर्थक था। उस समय शूद्रों का कर्त्तव्य था कि वे दास्य भाव से ब्राह्मणों की सेवा-शुश्रूषा करते रहें। इस शुश्रूषा कार्य में बाधा न हो, तभी शूद्र अन्य काम करके अपनी आजीविका प्राप्त कर सकते थे। प्राचीन धर्म ग्रंथों में कर्म और विद्या का सम्बन्ध शूद्र के साथ हो ही नहीं सकता, यही बताया है, क्योंकि धर्म ग्रंथों के अनुसार इस विषय में शूद्र का अधिकार ही नहीं है।"[84] यही नहीं शूद्र पर कई तरह की पाबंदियाँ लगाकर उन्हें समाज में अछूत बना दिया गया था।

शूद्रों को कई तरह के सामाजिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। न वे शिक्षा ग्रहण कर सकते थे, न ही कृषि कर सकते थे और न ही व्यापार ही कर सकते थे। क्योंकि लोगों को ब्राह्मणों ने बताया कि वेदों, स्मृतियों और ब्राह्मण ग्रंथों में ईश्वर ने ऐसा कहा है। डॉ. एन. सिंह बताते हैं कि- "प्रभु ने शूद्रों का केवल एक ही कर्म बताया है कि इन 'तीनों' वर्णों की निन्दा रहित 'जिसमें कोई निन्दा नहीं' सेवा करना। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि शेष तीनों वर्णों के लिए मनुस्मृतिकार पढ़ने और ब्राह्मण के लिए पढ़ाने की भी व्यवस्था देता है, लेकिन शूद्र का कर्म केवल सेवा बताकर उसे शिक्षा, कृषि, व्यापार आदि मानवीय अधिकारों से वंचित कर देता है।"[85] शूद्रों के लिए ब्राह्मण की सेवा करना तो अन्य कर्मों से ज्यादा श्रेष्ठ कहा गया है। और इस सेवा के बदले शूद्र को भोजन से बचा हुआ 'जूठा' अन्न, पहने हुए पुराने कपड़े, धानों की छटन 'थोथा अनाज' तथा पुराना बरतन-भांडा देना चाहिए जैसे नियम बनाए गए थे। यहाँ तक की उसे किसी प्रकार का धन संग्रह करने की भी मनाही थी। शूद्रों को वेद अध्ययन एवं उनका उच्चारण दोनों की मनाही थी। न ही शूद्र सवर्ण के साथ उठ-बैठ सकते थे और न ही वे किसी प्रकार का उनका प्रतिकार या विरोध ही कर सकते थे। और न ही उनके बारे में भला-बुरा कह सकते थे। अगर इस तरह की कोई गलती हो जाती तो धर्म ग्रंथों में इनके लिए इतने कड़े नियम और सजा का

[84] दलित साहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ सं.- 54

[85] दलित साहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ सं.- 56

प्रावधान था की कोई सोच भी नहीं सकता था। परिस्थितियाँ ऐसी हो गयी थी कि इस (हिन्दू) धर्म में शूद्रों की स्थिति पशुओं से भी बदतर हो गयी थी।

1.7.4 जैन और बौद्ध काल में समाज- उत्तर-पूर्वी भारत के मध्य गंगा क्षेत्र में ईसा पूर्व छठी शताब्दी में धार्मिक आंदोलन शुरू हुआ जिसके फलस्वरूप अनेक धार्मिक संप्रदायों ने जन्म लिया। इस काल को भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण माना गया है क्योंकि भारत में इस समय में अनेक मत और दर्शनों के प्रादुर्भाव ने धर्म को बौद्धिक रूप प्रदान किया। विभिन्न मतों में गहरा विश्वास करने वाले संन्यासी और संत अपने जीवन दर्शन का साधारण जनता में प्रचार करने लगे। यद्यपि इस धार्मिक आंदोलन के अनेक कारण थे परंतु यह बात स्पष्ट है कि उनका आधार तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों पर निर्भर था। इस काल के सामाजिक विकास में प्राचीन वैदिक परम्परा की धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताएँ रुकावट बन रही थीं। इसी समय में लगभग 62 धार्मिक सम्प्रदायों ने जन्म लिया जिनकी नींव विभिन्न समुदायों में प्रचलित धार्मिक प्रथाओं और अनुष्ठानों पर टिकी हुई थी। पुरातन वैदिक-ब्राह्मण धर्म के अनेक दोषों पर भी सवाल उठने लगे। ऐसे सम्प्रदायों में जैन और बौद्ध धर्म प्रमुख थे जो इस आंदोलन को सुधारवादी रूप देने में सफल हुए।

ईसा पूर्व छठी सदी अनेक देशों में भी आध्यात्मिक अशांति और बौद्धिक परिवर्तन और विकास की सदी थी। इस समय में मनुष्य धर्म में सुधार लाकर मुक्ति प्राप्त करने के विभिन्न साधन अपनाने में अपने जीवन की समस्याओं से जूझ रहा था। अर्थात् सत्य को पाने का निरंतर प्रयास हो रहा था। इस समय तक हिंदू धर्म अनेक बुराइयों में घिर गया था और अपनी मौलिक शुद्धता खो रहा था। बलि-प्रथा, कर्मकाण्डों और अनुष्ठानों का पालन करते हुए हिंदू धर्म में इतनी त्रुटियाँ आ गई थीं जो अब असहनीय-सी लगने लगीं। ब्राह्मणों के द्वारा आम जनता का शोषण अपनी सीमा पार कर चुका था। वर्ण व्यवस्था का विरोध करते हुए और हिन्दू धर्म को अपना अस्तित्व खोते देख महावीर और गौतम बुद्ध ने लोगों के समक्ष न केवल धर्म सुधारक बल्कि उनके जीवन में शांति और सरलता लाने के लिए प्रोत्साहित हुए। वे एक नया धर्म नहीं चलाना चाहते थे पर उपनिषदों को आधार बनाकर वे समाज में सुधार लाना चाहते थे।

इस समय भी समाज स्पष्ट रूप से चार वर्णों में खंडित था- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र। वैदिकोत्तर काल में प्रत्येक वर्ण के कर्तव्य निर्धारित किए गए थे। यह वर्ण व्यवस्था जन्म मूलक होने के कारण पहले दोनों वर्णों को विशेष अधिकार प्रदान करती थी। कर्तव्यों का विभाजन भी जन्म के आधार पर होता था। ब्राह्मण विशेष अधिकारों का, दान प्राप्त का, करों से छुटकारा और दंडों से माफी पाने के दावेदार थे। वे युद्ध और शासन करने की क्षमता रखते हुए कृषि उत्पादन पर लगाए गए करों से अपना जीवन-निर्वाह करते थे। वैश्य कृषि, पशुपालन और व्यापार करते थे और ये मुख्य करदाता थे। शूद्रों का कर्त्तव्य ऊपर के तीन वर्णों की सेवा करना था। समाज में इस प्रकार के वर्ण विभाजन से असंतुषिट बढ़ रही थी। ब्राह्राणों के धर्म संबंधी प्रभुत्व क्षत्रिय वर्ग को अस्वीकार था क्योंकि इस समय तक क्षत्रिय शासक के रूप में उभर कर आ गए थे। इसी कारण क्षत्रियों ने जन्म मूलक वर्ण व्यवस्था को मानने के विरुद्ध आंदोलन आरम्भ किया। जैन और बौद्ध धर्म ने पुरोहितों और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर प्रश्न उठाए। इन दोनों धर्मों के संस्थापक क्षत्रिय थे इसलिए दोनों ने ब्राह्मणों की प्रभुता का पूर्ण रूप से विरोध किया।

इन धर्मों के उद्भव का यथार्थ कारण पूर्वोत्तर भारत में नई कृषि मूलक अर्थव्यवस्था का विकास था। कुरू पंचाल प्रदेश से उत्तर पूर्व की ओर वैदिक धर्म का प्रचार होने लगा। यह उत्तर वैदिक काल के यज्ञ प्रधान धर्म का फैलाव नहीं था बल्कि कृषि प्रधान नई तकनीकों का प्रसार था। 'शतपथ ब्राह्मण' के विवरण से पता चलता है कि-जंगल को जलाकर और पेड़ों को काटकर, लोहे के प्रयोग के द्वारा भूमि को कृषि योग्य बनाने का प्रयास हो रहा था। लौह-तकनीक से न केवल खेती के उपकरण बनाए गए बल्कि कृषि उत्पादन में भी वृद्धि हो गई। इस प्रकार के उत्पादन से अधिक उपज प्राप्त होने लगी। कबायली जीवन-प्रणाली में भी इस उत्पादन तकनीक के कारण क्रांति आई और अनेक बड़ी बस्तियों का उदय हो गया। कृषि मूलक अर्थव्यवस्था में बैलों का प्रयोग आवश्यक था जिसके लिए पशु पालन अनिवार्य था। परन्तु कुरू-पंचाल प्रदेश में मांसाहार के लिए पशुवध चलता रहा। वैदिक कर्मकांड के यज्ञों में भी पशु असंख्य रूप में मारे जाते थे। फलस्वरूप पशुधन कम होता जा रहा था।

लौह-उपकरण से न केवल कृषि उत्पादन में विकास हुआ बल्कि अनेक शिल्प और उद्योग व्यवसायों में प्रगति भी हुई। व्यापार के बढ़ने से वैश्यों का महत्त्व भी समाज में बढ़ने लगा। वैश्यों को जाति-वर्ण में तीसरा स्थान उपलब्ध था। स्वभावत: वे ऐसे धर्म की खोज में थे जो उनकी सामाजिक स्थिति को सुधार सके । ब्राह्मणों की कानून संबंधी पुस्तकें जो धर्मसूत्र कहलाती थीं, सूद को निंदनीय कारोबार समझती थी और इस पर जीने वाले को अधम कहा जाता था। वैश्य महाजनी करते थे क्योंकि वाणिज्य-व्यापार में वह लाभदायक सिद्ध होती थी पर वे समाज में ब्राह्मण के तुल्य आदर नहीं पाते थे। इसलिए अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए वे निरंतर प्रयास करते थे। व्यापार में वृद्धि तभी सम्भव हो सकती थी जब विभिन्न राजाओं में आपसी युद्ध बंद हों। अहिंसा ही इस पर रोक लगा सकती थी। क्योंकि जैन और बौद्ध धर्म की आरंभिक व्यवस्था तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार नहीं करती थी इसलिए वैश्यों को उन्हें पूरा सहयोग प्रदान करने का अवसर मिल गया।

सामाजिक जीवन में वाणिज्य-व्यापार के कारण अनेक परिवर्तन तो भले ही हुआ पर निजी संपत्ति का संचय भी आरम्भ हो गया जिसके लिए प्रतिक्रिया कड़ी हो गई। सिक्के चाँदी और तांबे के बने होते थे इसलिए पुराने विचारों के लोग इन सिक्कों को प्रयोग में लाना पसंद नहीं करते थे। संपत्ति के नए प्रकाशों से उत्पन्न असमानता से वे घृणा करते थे। इससे उत्पन्न युद्ध और हिंसा से भी वे सहमत नहीं थे। नई परिवहन-प्रणाली, नए निवासों और परिधानों से उत्पन्न भेद-भाव से वे असंतुष्ट और बुद्ध धर्म सरल, शुद्ध और संयमित जीवन को मान्यता देने लगे। इसलिए वे अपने पुराने आदिम जीवन में लौट जाने की इच्छा करने लगे। समय की पुकार सुनते हुए जैन और सुख-सुविधाओं के विरुद्ध आवाज उठाने लगे।

ब्राह्मणवाद के विरोध में धार्मिक आंदोलन ने प्रयास किया। वैदिक मंत्र जो देववाक्य माने जाते थे वे पुरोहितों द्वारा ही कहने पर उचित माने जाते थे। ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों में इसी कारण ब्राह्मणों को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया जाता था। परंतु ऐसे में ब्राह्मणों में धन-लोलुपता बढ़ती जा रही थी। इसलिए बहुमूल्य दक्षिणा प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण यज्ञ करते थे। राजसूय, अश्वमेघ आदि यज्ञों में पशुवध अत्यधिक मात्रा में होता था। वर्ण व्यवस्था में कर्म के अनुसार नहीं बल्कि जन्म के आधार पर

वर्ण निश्चित होता था। इस काल में भी जाति-व्यवस्था और छुआछूत अपने पूर्ववर्ती समाज की तरह मौजूद था। जिसके सुधार के प्रयास महावीर और गौतम बुद्ध के उपदेशों और कर्मों द्वारा हो रहा था।

महावीर और गौतम बुद्ध के समक्ष एक ओर तो वेदवाद, जाति-व्यवस्था, यज्ञवाद, पुरोहितों की महत्ता संबंधी धारणा पर प्रहार करने की समस्या थी, दूसरी ओर अपने सिद्धांतों और उपदेशों के द्वारा अपनी प्रामाणिकता बनाए रखने की जिम्मेदारी भी थी। ब्राह्मण धर्म के जाति-प्रथा, यज्ञ-कर्मकाण्ड, पशु वध और वैदिक यज्ञवाद की आलोचना करते हुए इन दोनों महापुरुषों ने कर्म को वर्ण और जाति का आधार माना और जन्म पर निर्धारित वर्ण प्रथा को अस्वीकार किया ।

1.7.5 मध्यकालीन समाज- मध्य काल का समय लगभग सातवीं शताब्दी से माना जाता है जब अरबों ने भारत अर्थात् सिंध क्षेत्र पर आक्रमण करना शुरू किया था। इन आक्रमणों का उद्देश्य भारत के शासकों से उनकी धन-संपत्ति को लूटना था। इस क्रम में कई आक्रमण भारत पर हुए लेकिन वे असफल रहे। और अंततः 712 ई. में 'अल्हज्जाज' ने "अपने भतीजे दामाद मु. बिन कासिम को 712 में सिन्ध पर आक्रमण करने के लिए भेजा। मु. कासिम ने मकरान के रास्ते से भारत की ओर चल दिया ..... और 712 में मु. बिन कासिम ने सिन्धु पर अधिकार कर लिया।"[86] इस जीत के बाद भारत पर कई आक्रमण हुए, जिनमें महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी का हमला प्रमुख है। इन आक्रमणों ने भारतीय समाज के लोगों पर बहुत ही गहरा प्रभाव डाला। क्योंकि भारतीय समाज में पहली बार हिन्दू धर्म के विपरीत माने जाने वाला मुस्लिम धर्म की स्थापना हुई।

मुस्लिम धर्म ने भारतीय समाज-व्यवस्था पर काफी गहरा प्रभाव डाला। जिसके फलस्वरूप श्रमिक और कामगार तबका माने जाने वाले लोग जो ब्राह्मणवादी व्यवस्था के शिकार थे, इस धर्म के प्रति आकर्षित हुए। इस संदर्भ में मोहम्मद हबीब कहते हैं कि- "भारत पर जिसे मुस्लिम विजय कहा जाता है, पर वास्तव में गौर-विजय है, उसका तात्पर्य दो बातों से है : पहला था- शासक-वर्ग के रूप में, गौरी-तुर्कों के द्वारा 'ठाकुरों' का स्थान ले लेना; और दूसरा था- भारत के शहरी कामगारों की विमुक्ति और

[86] भारतीय इतिहास, पृष्ठ सं.- 345

इसके साथ ही साथ इस वर्ग का, बड़ी संख्या में, नए धर्म के प्रति आकर्षित होना।"[87] क्योंकि इस समय समाज में ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग का समाज पर एकाधिकार था। भूमि की सम्पूर्ण उपज पर भी इन्हीं का दो वर्गों का प्रभुत्व था। ग्यारहवीं सदी में भारत पूर्णतः किलेबंद नगर, कस्बे और घेराबंद गाँव वाला देश था जिसपर उच्च वर्गों का ही अधिपत्य था। कामगार तबका जो शूद्र या दास कहलाता था की दशा अत्यंत दयनीय थी। गैर द्विज जातियों के लिए शिक्षा और ज्ञान के सभी दरवाजे बंद थे और अगर कोई इस स्थिति को बदलने की कोशिश करता तो उसे कठोर दंड दिया जाता था। इतिहासकार अलबरूनी कहते हैं कि- "वे सभी काम जो ब्राह्मण-कर्म माने जाते हैं, जैसे पूजा-पाठ, वेदों का उच्चारण या यज्ञ आदि, इन वर्णों के लिए पूर्णतः निषिद्ध था और अगर यह सिद्ध हो जाए कि किसी 'वैश्य' या 'शूद्र' ने वेदों का उच्चारण किया है, तो ब्राह्मण उसे राजा के समक्ष अभियुक्त के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। राजा दंडस्वरूप उसकी जीभ काट लेने का आदेश जारी करता है।"[88]

इस काल में हिन्दू-मुस्लिम धर्म के अन्तर का एकमात्र कारण संस्कृत भाषा थी। हिन्दू-धर्म का शिक्षित और अशिक्षित वर्ग, सामान्य लोग संस्कृत बोलते थे, जबकि मुस्लिम धर्म के लोग इससे अपरिचित थे। विदेशियों को तत्कालीन भारत में मलेच्छ माना जाता था। खान-पान, विवाह एवं अन्य सामाजिक संपर्क विदेशियों के साथ नहीं होते थे। विदेशियों के संपर्क में आने वाली हर वस्तु को भारतीय दूषित एवं अपवित्र मानते थे। इतिहासकार अलबरूनी कहते हैं कि- हिन्दू, मुसलामानों के नाम से अपने बच्चों को डराया करते थे। हिन्दुओं के अन्दर यह दृढ़ विश्वास था की उनके देश के समान कोई देश नहीं है, कोई राष्ट्र नहीं है, कोई राजा नहीं है और कोई विज्ञान नहीं है।

समाज में कम उम्र में ही विवाह हो जाता था। तलाक, दहेज़ प्रथा प्रचलित नहीं थी। एक व्यक्ति चार विवाह कर सकता था। सती प्रथा का प्रचलन था तथा पुनर्विवाह वर्जित था। सती प्रथा राजघरानों में अधिक होती थी। रक्त-संबंधों में हिन्दुओं में विवाह नहीं होता था। ब्राह्मण चार, क्षत्रिय को तीन, वैश्य को दो और शूद्र को एक स्त्री से विवाह करने की अनुमति थी। अपनी जाति या नीची जाति की

[87] मध्यकालीन भारत, पृष्ठ सं.-12

[88] मध्यकालीन भारत, पृष्ठ सं.-13

स्त्री से विवाह करने का नियम था। ब्राह्मणों को किसी भी जाति से विवाह करने की छूट थी। इस तरह हिन्दू धर्म में एक सोपानिक क्रम था जो ऊँच-नीच और छुआछूत का भेदभाव पैदा करता था। लेकिन मुस्लिम धर्म में ऐसा नहीं था। प्रो. के. एल. शर्मा कहते हैं कि- "इस्लाम में सोपान नहीं होते यानी उच्चोच्च स्तरीकरण नहीं है। यह अनुदार और एकांतिक धर्म है। यह मुस्लिम उल्मा की एकता (भक्तों की सामूहिकता) पर आधारित है। इस अनुभवातीतता और सामूहिकता को कुरान (धर्मग्रन्थ) और विभिन्न इस्लाम की परम्पराओं से योगदान मिला है। अतः सिद्धांततः इस्लाम धर्म में समानता और समतावाद के तत्त्व हैं।"[89] अर्थात् हिन्दू धर्म की तरह इसमें वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था नहीं थी। लेकिन वर्ग आधारित भेदभाव मौजूद था। "इतिहास बताता है कि 12 वीं सदी में मुसलामानों में वंशानुगत उत्तराधिकार आ गया था। वे मुसलमान जो मौलिक रूप से अरब के थे उनमें चार वर्ग सबसे ऊपर थे : सैयद, शेख, मुगल और पठान। सैयद और शेख की गिनती कुलीन वर्ग थी और ये समूह उच्च धार्मिक पदों पर थे। मुगल और पठान सामन्त वर्ग के थे।"[90]

इस्लाम और हिन्दू धर्म के मेल से कई तरह का सामाजिक प्रभाव भारत के लोगों पर पड़ा। धार्मिक क्षेत्र में हिन्दू धर्म में कई लोगों ने इस्लाम की तरह एक ही ईश्वर के विचार पर जोर दिया जाने लगा। भक्ति मार्ग के क्षेत्र में कबीर ने हिन्दू राम और मुसलमान के अल्लाह को एक माना। तो इसी तरह नानक ने जाति प्रथा से पैदा होने वाली गैर बराबरी का विरोध किया।

समय के साथ मुस्लिम और हिन्दू समाज दोनों एक दूसरे से प्रभावित हुए। मुसलमानों के कारण भारत में पहली बार हिन्दू समाज में पर्दा प्रथा का आरम्भ हुआ। बाल-विवाह और सती प्रथा जो पहले से ही समाज में मौजूद थी वह और व्यापक हो गई। जिस की इस्लाम समानता का हिमायती रहा लेकिन हिन्दुओं के संपर्क में आकर उनमें भी जन्म पर आधारित जाति-प्रथा का समवेश हो गया तथा गाँव में रहने वाले मुसलमान भी स्थानीय देवी-देवताओं की पूजा करना प्रारंभ कर दिया।

---

[89] भारतीय समाज : संरचना और परिवर्तन, पृष्ठ सं.- 25

[90] भारतीय समाज : संरचना और परिवर्तन, पृष्ठ सं.- 26

मुगल काल में अकबर ने 'दीन-ए इलाही' धर्म की स्थापना कर एक मिली जुली संस्कृति का विकास किया। जिसके तहत राजनीति के क्षेत्र में राजपूतों से विवाह सम्बन्ध स्थापित किया। इस्लाम का हिन्दुओं के साथ भाईचारे का व्यवहार और समानता का सम्बन्ध कायम हुआ। स्त्रियों का पहले की अपेक्षा अधिक ध्यान रखा गया। हिन्दू समाज के निम्न जाति के लोगों ने इस्लाम धर्म को अपना लिया। एक-दूसरे के त्यौहार और जलसों में शामिल होते थे। गाँवों में हिन्दू मुसलमान के गहरे सम्बन्ध थे। वर्ण व्यवस्था की कोई रूकावट नहीं थी। लोगों के बीच एक सामंजस्यता का भाव था।

इन सब के बावजूद भी वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था का प्रभाव समाज में मौजूद था। धर्म बदलने के बाद भी ऊँच-नीच की भावना वैसी ही लोगों के बीच रही।

1.7.6 ब्रिटिश काल में समाज- भारत में ब्रिटिश राज से पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी के रूप में अंग्रेजों का पहले ही शासन स्थापित हो चुका था। जिसने धीरे-धीरे भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था को काफी प्रभावित किया। इतिहासकार मानते हैं कि भारत में "ब्रिटिश सरकार के साथ-साथ दो और महत्त्वपूर्ण बातें इस देश में आयीं। एक तो ईसाई मिशन और दूसरा अंग्रेजी माध्यम से अध्ययन और अध्यापन। अंग्रेजी मिशन ने भारतीयों को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। शिक्षा को अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाने का विकल्प दिया गया। इसके परिणामस्वरूप संस्कृत पाठशालाओं का परिवेश ही बदल गया। मुसलमानों में फारसी का ज्ञान सबसे पहली बार अप्रासंगिक हो गया।"[91]

भारत में ब्रिटिश सरकार के स्थापित हो जाने से कई तरह के बदलाव भारतीय समाज में दिखाई देते हैं। पहली बार सूचना और विचारों के लिए छापाखानों की स्थापना हुई। दूसरी तरफ डाक सेवायें, तार, चलचित्र, रेडियो, टेलीफोन, आवागमन के साधनों के लिए रेलगाड़ी का प्रारम्भ किया गया। जिससे लोगों के जीवन में गतिशीलता का संचार हुआ। इसी काल में मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए सन् 1835 ई. में शिक्षा नीति के तहत यह प्रस्ताव पारित किया कि अंग्रेजी को शिक्षा का

[91] भारतीय समाज : संरचना और परिवर्तन, पृष्ठ सं.- 30

माध्यम बनाया जाय। फलस्वरूप अंग्रेजी भाषा ने भारतीय समाज को पश्चिम देशों से रूबरू करवाया जिससे लोगों के विचारों में बहुत बड़ा परिवर्तन आया।

भारतीय दंड संहिता के माध्यम से ब्रिटिश सरकार ने भारत को कानून की दृष्टि से लोगों को एकसूत्रता में बाँध दिया। "पहली बार कानून की दृष्टि में भारत के सभी लोग समान हो गए। इस नीति के अनुसार ब्रिटिश शासन ने एक पृथक् न्यायपालिका, न्यायालय बनाए और पहली बार विवाह, परिवार, तलाक, दत्तक ग्रहण, सम्पत्ति हस्तांतरण, अल्पसंख्यक, भूमि अधिकार, लेन-देन, व्यापार, उद्योग और श्रम आदि के बारे में नये कानून लागू किये। यह कानून सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत पर समान रूप से लगता था।"[92]

समाज में कई तरह के सामाजिक परिवर्तन भी हुए जो पहले नहीं हुए थे। दलितों और स्त्रियों की स्थिति में धीरे-धीरे सुधार आया। जहाँ दलितों के परछाई को छू लेने से भी पाप लग जाता था, वहीं अंग्रेजों ने उन्हें सेना में भर्ती किया। ईसाई स्कूलों में उन्हें भी शिक्षा ग्रहण करने की अनुमति मिली। इन सब परिवर्तनों के पीछे ज्योतिबाराव फुले, ई. वी. रामास्वामी पेरियार और बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर का प्रमुख हाथ रहा। इन्होंने समाज में जाति प्रथा, छुआछूत, धार्मिक आडम्बर, स्त्री और दलितों की सामाजिक स्थिति और उनकी हीनावस्था का विरोध किया। जिसके लिए इन लोगों ने कई आन्दोलन जैसे- "महाराष्ट्र में 'महाड़ आन्दोलन', बंगाल में 'नामशूद्र', उत्तर भारत में 'आदि हिन्दू', तमिलनाडु में 'आदि द्रविड़', आन्ध्र प्रदेश में 'आदि आन्ध्र', केरल में नारायण गुरु के आन्दोलन, पंजाब में 'आदि धर्म' आदि दलित आन्दोलन शुरू हुए।"[93] साथ ही 'सत्यशोधक समाज' जैसी संस्थाओं का निर्माण भी किया गया। महात्मा गाँधी ने भी अहिंसा के माध्यम से लोगों में मानवता का सन्देश दिया। राजा राममोहन राय ने सती प्रथा जैसी अमानवीय प्रथा के विरुद्ध निरन्तर आन्दोलन चलाया। उनके पूर्ण और निरन्तर समर्थन का ही प्रभाव था, जिसके कारण लॉर्ड विलियम बैंटिक 1829 में सती प्रथा को बन्द कराने में समर्थ हो सका।

---

[92] भारतीय समाज : संरचना और परिवर्तन, पृष्ठ सं.- 31

[93] दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-248

1.7.7 आजादी के बाद का समाज- भारत 1947 ई. में ब्रिटिश शासन से आजाद हुआ। आजादी मिलने के बाद देश ने लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपनाया और एक ऐसे भारतीय संविधान की रचना हुई, जिसमें देश के प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह अमीर हो या गरीब अथवा किसी भी वर्ग या जाति का हो सबको समान कानूनी अधिकार दिया गया। जिससे देश में कई सारे परिवर्तन हुए। लोगों को इस बात की खुशी थी कि अब कोई गरीबी या भूखमरी से नहीं मरेगा। समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव खत्म हो जायेगा। सबके लिए रोजगार की व्यवस्था होगी। प्रत्येक क्षेत्र में लोगों का विकास होगा। इस प्रकार कई तरह की उम्मीदें लोगों को इस आजाद देश में थी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अर्थव्यवस्था और प्रशासनिक व्यवस्था पर अब भारतीयों का कब्जा हो गया था। जहाँ एक तरफ सवर्ण तबका सामाजिक और आर्थिक हैसियत में उच्च था वहीं पिछड़ों और दलितों में भी विकास की संभावनाएं विकसित हुई। दलितों के भीतर राजनीतिक चेतना एवं अधिकारों के प्रति संघर्ष की क्षमता का विकास हुआ। कई सारी राजनीतिक पार्टियों का गठन हुआ। नेताओं में सत्ता की प्राप्ति को लेकर एक होड़ सी मच गई। इस तरह राजनीति के क्षेत्र में जातिगत वोट की राजनीति शुरू हो गई। क्योंकि विकास के इस दौर में सब कुछ तो बदला है, लेकिन समाज में जाति-व्यवस्था अब भी कायम है।

1.7.8 भूमंडलीकरण के दौर में समाज- भूमंडलीकरण का शाब्दिक अर्थ स्थानीय या क्षेत्रीय वस्तुओं या घटनाओं के विश्व स्तर पर रूपांतरण की प्रक्रिया है। इसे एक ऐसी प्रक्रिया का वर्णन करने के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है जिसके द्वारा पूरे विश्व के लोग मिलकर एक समाज बनाते हैं तथा एक साथ कार्य करते हैं। यह प्रक्रिया आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक और राजनीतिक ताकतों का एक संयोजन है। वैश्वीकरण का उपयोग अक्सर आर्थिक वैश्वीकरण के सन्दर्भ में किया जाता है, अर्थात् व्यापार, विदेशी प्रत्यक्ष निवेश, पूँजी प्रवाह, प्रवास और प्रौद्योगिकी के प्रसार के माध्यम से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं में एकीकरण। भूमंडलीकरण का चरित्र बहुआयामी है। यह अपने आपमें एक अवधारणा, प्रक्रिया और अभियान तीनों है। इसे उदारीकरण, वैश्वीकरण, बाजार-

अर्थव्यवस्था, आर्थिक सुधार, उत्तर आधुनिकतावाद, विश्वग्राम इत्यादि कई नामों से जाना जाता है। यह एक ऐसी मायावी शक्ति का नाम है जो अपने विरोधियों से भी परोक्ष रूप से अपने पक्ष की बात करवा लेती है।

भूमंडलीकरण प्रत्येक देश को भिन्न-भिन्न ढंग से प्रभावित करता है। इसका प्रभाव एक देश से दूसरे देश में भी बदल जाता है। भूमंडलीकरण का विकसित देशों पर प्रभाव विकासशील देशों से अलग होता है। विकसित देशों में भूमंडलीकरण से नौकरियाँ कम हुई हैं क्योंकि कई कंपनियाँ उत्पादन खर्च को कम करने के लिए उत्पादन इकाइयों को विकासशील देशों में ले जाती हैं। यूरोप के कई देशों में बेरोजगारी एक सामान्य बात हो गई है। विकासशील देशों में भूमंडलीकरण खाद्यान्नों एवं अन्य कई निर्मित वस्तुओं के उत्पादकों को प्रभावित करती है। भूमंडलीकरण ने कई विकासशील देशों के लिए दूसरे देशों से कुछ मात्रा में वस्तुएँ खरीदना अनिवार्य बना दिया है, भले ही उन वस्तुओं का उनके अपने देश में ही उत्पादन क्यों न हो रहा हो। बाहर के देशों की निर्मित वस्तुओं के प्रवेश से स्थानीय उद्योगों को खतरा बढ़ जाता है।

भारतीय समाज-व्यवस्था को भूमंडलीकारन ने कई तरह से प्रभावित किया है। भूमंडलीकरण से अन्य देशों से पूँजी, नवीनतम प्रौद्योगिकी और मशीनों का आगमन हुआ है। उदाहरण के लिए, भारत का सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग विकसित देशों में प्रयोग किए जाने वाले कंप्यूटरों और दूर संचार यंत्रों का प्रयोग करता है। लगभग 15 वर्ष पहले यह अकल्पनीय था। भारत के कुछ संस्थानों के इंजीनियर स्नातकों की अमरीका और यूरोप के कई देशों में बहुत माँग है। कई देशों में सरकारों के पास प्राकृतिक संसाधनों का स्वामित्व होता है और वे पूरी दक्षता से जन-हित में उनका उपयोग करती हैं और लोगों को विभिन्न सेवाएँ उपलब्ध कराती हैं। भूमंडलीकरण सरकारों को संसाधनों का निजीकरण करने के लिए प्रोत्साहित करता है जिससे लाभ कमाने की दृष्टि से संसाधनों का शोषण होता है और कुछ लोगों के हाथों में पैसा इकट्ठा हो जाता है। निजीकरण उन लोगों को भी वंचित रखता है जो इन संसाधनों का उपभोग करने के लिए खर्च करने की क्षमता नहीं रखते।

भूमंडलीकरण सभी प्रकार की गतिविधियों को नियमित करने की शक्ति सरकार के स्थान पर अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों को देता है, जो अप्रत्यक्ष रूप से बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा नियंत्रित होते हैं। उदाहरण के लिए, जब एक देश किसी अन्य देश की व्यापारिक गतिविधियों के साथ जुड़ा होता है तो उस देश की सरकार उन देशों के साथ अलग-अलग समझौते करती है। यह समझौते अलग-अलग देशों के साथ अलग-अलग होते हैं। अब अंतर्राष्ट्रीय संगठन जैसे विश्व व्यापार संगठन सभी देशों के लिए नियमावली बनाता है और सभी सरकारों को ये नियम अपने-अपने देश में लागू करने होते हैं। इसके साथ ही भूमंडलीकरण कई सरकारों को निजी क्षेत्र की सुविधा प्रदान करने हेतु कई विधायी कानूनों और संविधान बदलने के लिए विवश करता है। प्राय: सरकारें कामगारों के अधिकारों की सुरक्षा करने वाले और पर्यावरण संबंधी कुछ नियमों को हटाने पर विवश हो जाती हैं।

भूमंडलीकरण ने पारिवारिक संरचना को भी बदला है। अतीत में संयुक्त परिवार का चलन था। अब इसका स्थान एकाकी परिवार ने ले लिया है। हमारी खान-पान की आदतें, त्योहार, समारोह भी काफी बदल गए हैं। जन्मदिन, वेलेंटाइन डे, मदर्स डे, महिला दिवस, मई दिवस समारोह, फास्ट-फूड रेस्तरांओं की बढ़ती संख्या और कई अंतर्राष्ट्रीय त्यौहार भूमंडलीकरण के प्रतीक हैं। भूमंडलीकरण का प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे पहनावे में देखा जा सकता है। समुदायों के अपने संस्कार, परंपराएँ और मूल्य भी परिवर्तित हो रहे हैं। भूमंडलीकरण के दौर में दलित तबकों के लोगों ने भी अपना सामाजिक और आर्थिक विकास किया है। शहरों में जातिवाद तो कम हुआ है लेकिन वहीं गाँवों में अब भी जाति-व्यवस्था उसी तरह देखने को मिल जाती है।

दूसरी तरफ नये 'टेक्नोक्रेट' वर्ग का अभ्युदय हुआ है। नया 'नव संभ्रांत वर्ग' उभरा है। इस वर्ग में वंचित तबकों के ज्ञान आधारित समाज के लोगों की भी भागीदारी बढ़ी है। अतः जटिल सामाजिक-संरचना उत्तर-आधुनिक समाज की विशेषता है। इस नये सामाजिक वर्ग ने, नये सामाजिक विमर्श को जन्म दिया है। उसका नाम है- 'दलित विमर्श'। यह सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष को ज्यादा महत्त्व देता है। इतिहास को अपनी दृष्टि से नये रूप में लिखने की बात करता है। दलितों का शिक्षित वर्ग तो ज्ञान

आधारित व्यवस्था में समाविष्ट हो रहा है। लेकिन कौशलता से रहित वर्ग के लिए आर्थिक संकट गहराता जा रहा है।

द्वितीय अध्याय

दलित साहित्य : अवधारणा और स्वरूप

द्वितीय अध्याय

दलित साहित्य : अवधारणा और स्वरूप

दलित साहित्य भारतीय समाज-व्यवस्था में सदियों से हाशिये पर धकेल दिए गए लोगों का साहित्य है। जिसमें उनकी पीड़ा, दुःख, तकलीफ, शोषण-अपमान आदि का वर्णन किया गया है। एक ऐसा समाज जहाँ मानव-मानव में भेद कर, दूसरे को निम्न बताकर उसे पशुओं से भी बदतर जीवन जीने के लिए मजबूर किया गया, उसे हर तरह के अधिकारों से वंचित किया गया। इस प्रकार दलित साहित्य ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरोध का साहित्य है, एक सामाजिक-क्रांति है। दलित साहित्य मनुष्य की समानता की बात करता है और उनमें ऐक्य की भावना पैदा करता है। दलित साहित्य की अवधारणा को लेकर साहित्यिक विद्वानों के बीच कई तरह की भ्रांतियां फैली हुई हैं। जैसे कि- दलित साहित्य किसे कहा जाय? क्या वह साहित्य जिसे दलित लेखकों एवं विचारकों ने अपनी समस्याओं, कठिनाईयों, अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों के साथ-साथ सम्पूर्ण दलित समाज को ध्यान में रखते हुए लिखा? या फिर वह भी साहित्य जो दलितों के बारे में ग़ैर-दलित लेखकों द्वारा भी लिखा गया? ऐसे में दलित साहित्य की अवधारणा को समझने से पहले हमें 'दलित' शब्द को तथा उसकी पृष्ठभूमि को समझना जरुरी होगा।

'दलित' शब्द का अर्थ सीधे-सीधे उन लोगों से है जो वर्ण-व्यवस्था के तहत समाज के सबसे निचले तबके से आते हैं, जो 'अछूत' माने जाते है। प्रसिद्ध दलित विद्वान ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में- "दलित शब्द का अर्थ है- जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनिष्ट, मर्दित, पस्त-हिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि।"[1] कहने का मतलब यह है कि जो इन योग्यताओं को धारण करता है वही दलित है।

डॉ. कुसुमलता मेघवाल मानती हैं कि- "दलित का शाब्दिक अर्थ है कुचला हुआ। अतः दलित वर्ग का सामाजिक सन्दर्भों में अर्थ होगा, वह जाति समुदाय, जो अन्यायपूर्वक सवर्णों या उच्च

[1] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ सं.-13

जातियों द्वारा दमित किया गया हो, रौंदा गया हो। दलित शब्द व्यापक रूप में पीड़ित के अर्थ में आता है, पर 'दलित वर्ग' का प्रयोग, हिन्दू समाज-व्यवस्था के अंतर्गत, परंपरागत रूप में शूद्र माने जाने वाले वर्णों के लिए रूढ़ हो गया है। दलित वर्ग में वे सभी जातियाँ सम्मिलित हैं, जो जातिगत सोपान क्रम में निम्न स्तर पर हैं और जिन्हें सदियों से दबाकर रखा गया है।"[2]

प्रो० श्यौराज सिंह 'बेचैन' दलित के सन्दर्भ में कहते हैं कि- "दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है।"[3]

दलित चिंतक डॉ. कँवल भारती उन सभी मतों को ख़ारिज करते हैं जो सभी (अवर्ण- सवर्ण) शोषित, पीड़ित, वंचित अभावग्रस्त जन को दलित मानते हैं। वे कहते है कि- "दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया। जिसे कठोर और गंदे कर्म करने के लिए बाध्य किया गया। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और सिर्फ वही दलित है, इसके अंतर्गत वही जातियाँ आती हैं जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।"[4] अर्थात् जो भारतीय समाज में अस्पृश्य माने गए, जिन्हें सामाजिक स्तर पर अछूत तथा हिन्दू धर्मग्रंथों में अन्त्यज की श्रेणी में रखा गया। इसके अलावा 'अछूत', 'हरिजन', 'पंचम', 'नामशूद्र' आदि शब्दों से नवाजा गया, उन्हें ही 'दलित' कहा गया।

लेकिन कुछ साहित्यकार इस 'दलित' शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं और उनका मानना है कि इसे किसी सीमित दायरे में हमें नहीं देखना चाहिए। इस क्रम में वे स्त्री, पिछड़े वर्गों को भी दलित मानते हैं और यही नहीं बल्कि अगर कोई सवर्ण भी आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ हो तो वह भी दलित की श्रेणी में आता है। इसी क्रम में दलित लेखक माता प्रसाद मानते हैं कि "दलित शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है। इसमें दबाये गए, अपमानित, पीड़ित, उपेक्षित, शोषित सभी आते हैं। इसमें स्त्रियाँ और

[2] दलित साहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ सं.- 67

[3] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ सं.-13

[4] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ सं.-13

शूद्र वर्ग में आने वाली पिछड़ी जातियाँ और अति पिछड़ी जातियाँ भी हैं जो दलितों की भाँति शिक्षा, संपत्ति एकत्र करने से वंचित हैं और अपमानजनक जीवन जीने को विवश हैं।"[5]

दलित चिंतक डॉ. एन. सिंह कहते हैं कि- "दलित शब्द का अर्थ है जिसका दलन या उत्पीड़न किया गया हो। यह उत्पीड़न चाहे शास्त्र के द्वारा किया गया हो अथवा शस्त्र के द्वारा! कुछ लोग दलित का अर्थ अनुसूचित जातियों तक सीमित करते हैं, जबकि शाब्दिक दृष्टि से उसमें भारतीय समाज के स्त्री तथा पिछड़े वर्ग के साथ सवर्ण जातियों के वे लोग भी आते हैं, जिनका किसी भी रूप में मानसिक या आर्थिक शोषण किया गया हो।"[6] इसी दलित शब्द के बारे में डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी का मानना है कि- "दलित एक संवेदन है, विचार है, जिसका अर्थ दबाया गया मनुष्य, किसी भी जाति, वर्ण, धर्म, मत, पंथ एवं भौगोलिक क्षेत्र का हो, दलित है।"[7] अतः एक वाक्य में कहें तो जिसका 'दलन' या 'उत्पीड़न' किया गया है , वह दलित है। और इन्हीं दलितों की साहित्यिक अभिव्यक्ति 'दलित साहित्य' कहलाती है।

लेकिन कुछ लेखक दलित साहित्य की परिभाषा को लेकर अत्यंत संवेदनशील भी हैं। जिनमें डॉ. धर्मवीर कहते हैं- "दलित साहित्य वह है जिसे दलित लेखक लिखता है।"[8]

तो वहीं दलित चिंतक डॉ. दयानंद 'बटोही' का मानना है कि- "दलित साहित्य दलितों की चेतना को अभिव्यक्ति देता है। इसमें दलित मानवता का स्वर है। एक नकार है। एक विद्रोह है। यह विद्रोह उस व्यवस्था के प्रति है जो सदियों से दलितों का शोषण कर लाभ की स्थिति में है।"[9] माता प्रसाद का भी कहना है कि- "दलित साहित्य वह साहित्य है, जो सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक क्षेत्रों में

[5] दलित विमर्श के विविध आयाम, पृष्ठ सं.- 3
[6] दलित साहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ सं.- 68
[7] दलित साहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ सं.- 67
[8] दलित साहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ सं.- 69
[9] दलित साहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ सं.- 69

पिछड़े हुए उत्पीड़ित, अपमानित, शोषित जनों की पीड़ा को व्यक्त करता है। दलित साहित्य कठोर अनुभवों पर आधारित साहित्य है। दलित साहित्य में आक्रोश और विद्रोह की भावना प्रमुख है।"[10]

स्पष्ट है कि दलितों की सामाजिक विसंगतियों पर लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है। जो दलितों में ब्राह्मणवादी परंपरागत शोषणपरक मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह की भावना जागृत करने का प्रयास करता है। तथा ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था का विरोध कर सामाजिक समानता की बात भी करता है। बावजूद इसके ग़ैर-दलित लेखक आज भी दलित साहित्य की अवधारणा को लेकर लगातार उलझाने की कोशिश करते रहते हैं। वरिष्ठ कथाकार कमलेश्वर दलित साहित्य की स्थापना में आ रही ऐसी ही अड़चनों का सटीक जवाब देते हुए लिखते हैं- "हिन्दी साहित्य में अभी दलित साहित्य की अवधारणा का सवाल ही उठाया जा रहा है। यह एक साजिश, दुश्चक्र है। आखिर इस मसले को उलझाया क्यों जा रहा है? सीधा उत्तर है कि नदी है तो पानी है फिर चाहे वह नदी बारिश में ही दिखाई देती हो। उसी तरह अगर देश में दलित है तो दलित साहित्य भी है, फिर चाहे उसे साहित्य की कसौटी पर कस कर खारिज किया जाय या मंजूर किया जाय।"[11] इस प्रकार कुछ लोगों ने दलित सहित्य को वेदना और पीड़ा का साहित्य कहा तो कुछ ने इसे मानव मुक्ति का सहित्य भी माना । इस सन्दर्भ में अगर हम ऐतिहासिक, धार्मिक एवं सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करें तो पायेंगे कि दलित साहित्य केवल पीड़ा, वेदना और मुक्ति का ही साहित्य नहीं है बल्कि यह अपने हक़, अधिकार और अस्मिता पहचान के लिए संघर्षशील साहित्य भी है।

2.1 दलित कौन है?- भारतीय समाज में दलितों के लिए विभिन्न शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं। हिन्दू धर्म ग्रंथों में इन्हें ही 'शूद्र' कहकर पुकारा गया। इसके अलावा 'अतिशूद्र', 'अन्त्यज', 'चांडाल', 'अवर्ण', 'पंचम', 'अस्पृश्य', 'हरिजन' आदि कई संज्ञाओं से पुकारा गया तथा वर्ण-व्यवस्था के तहत जो समाज में अछूत माने गए। अतः यह स्पष्ट है कि दलित कौन हैं, फिर भी इसे उलझाने का

[10] दलित साहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ सं.– 70

[11] हिन्दी दलित कथा-साहित्य : अवधारणायें और विधाएं, पृष्ठ सं.- 21

काम ग़ैर-दलित लेखकों ने भरपूर किया है। क्योंकि संविधान में जो आरक्षण का लाभ दलितों के लिए बनाये गए, सवर्ण भी उस लाभ को किसी भी तरह हासिल करने के लिए हर संभव कोशिश में लगा हुआ है। ऐसे में वह 'दलित' शब्द को व्यापक अर्थ में रखकर उन सवर्णों को भी दलित मानते हैं जिनके आर्थिक हालात ज्यादा अच्छे नहीं हैं। ऐसे में विवाद की स्थिति पैदा हो गई है। हाँलाकि यह उतना है नहीं जितना इसे बनाया गया है।

इस सन्दर्भ में सबसे पहले दलित एवं ग़ैर-दलित विद्वानों के मतों को जान लेना आवश्यक होगा। हम देखते हैं कि 'दलित' शब्द को अथवा 'दलित' किसे कहा जाय को लेकर विद्वानों में दो खेमे नजर आते हैं। जिसमें एक खेमा उसे केवल एक ख़ास हिन्दू सामाजिक श्रेणी के सन्दर्भ में देखता है और दूसरा खेमा इसे व्यापक आर्थिक सन्दर्भ को भी साथ लेकर देखता है। पहले खेमे में वे विद्वान आलोचक हैं जो केवल अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति को ही दलित मानते हैं। जो समाज में अति निम्न जातियाँ मानी गई हैं। इसमें डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन', कँवल भारती, ओमप्रकाश वाल्मीकि, डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर, लक्ष्मण शास्त्री जोशी, डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर आदि आते हैं। दूसरे में वे विद्वान हैं जो उन सभी अवर्ण एवं सवर्ण को दलित मानते हैं जो पूंजीवादी व्यवस्था के तहत आर्थिक रूप से और सामाजिक रूप से पीड़ित हैं। वो चाहे किसी भी वर्ग का ही क्यों ना हो। इसमें डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, नारायण सुर्वे, माता प्रसाद जैसे आलोचक आते हैं।

पहले खेमे के आलोचकों में ओमप्रकाश वाल्मीकि का मानना है कि- "दलित शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है जो समाज-व्यवस्था के तहत सबसे निचली पायदान पर है। वर्ण-व्यवस्था ने जिसे 'अछूत' या 'अन्त्यज' की श्रेणी में रखा। उसका दलन हुआ। शोषण हुआ, इसी समूह को ही संविधान में अनुसूचित जातियां कहा गया है जो जन्मना अछूत है।"[12]

[12] हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा, पृष्ठ सं.-2

डॉ. चंद्रकांत वांदिवडेकर दलित के साथ खानाबदोश जातियाँ और आदिवासियों को भी जोड़ते हुए कहते हैं- "दलित यानी अनुसूचित जातियां, बौद्धिक कष्ट उठाने वाली जनता, मजदूर, भूमिहीन, गरीब किसान, खानाबदोश जातियाँ और आदिवासी।"[13]

लक्ष्मण शास्त्री जोशी के अनुसार- "हिन्दू समाज में महार, चमार, डोम इत्यादि जिन जातियों को गाँव के बाहर रहने के लिए बाध्य किया गया और जिनसे समाज, विशेषतः सवर्ण समाज, शारीरिक सेवाएं तो लिया लेकिन जीवनावश्यक प्राथमिक जरूरतों से भी जिन्हें जान-बूझकर वंचित रखा और पशुओं के स्तर पर घृणित जीवन जीने के लिए बाध्य किया गया, उनको 'अछूत' या 'दलित' कहा गया।"[14]

जबकि दूसरे खेमे के विद्वान दलित शब्द को व्यापक अर्थ में देखते हैं। डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी ने दलित कौन है को रेखांकित करते हुए लिखा है कि- "दलित साहित्य में प्रयुक्त 'दलित' शब्द के अंतर्गत संविधान या शासन् द्वारा घोषित अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं पिछड़े वर्ग की जातियों के लोग ही नहीं आते, अपितु 'दलित' शब्द एक संवेदन है, विचार है जिसका अर्थ दबाया गया से है, दबा हुआ नहीं। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से शास्त्र एवं शस्त्र के बल पर दबाया गया मनुष्य किसी भी जाति, वर्ण, धर्म, मत, पंथ एवं भौगोलिक क्षेत्र का हो सकता है।"[15]

प्रसिद्ध मराठी एवं दलित लेखक नारायण सुर्वे कहते हैं कि- "केवल बौद्ध या पिछड़ी जातियां ही नहीं समाज में जो भी पीड़ित हैं, वे दलित हैं। ईश्वर निष्ठा या शोषण निष्ठा जैसे बन्धनों से आदमी को मुक्त रहना चाहिए। उसका स्वतंत्र अस्तित्व सहज स्वीकार किया जाना चाहिए। उसके सामाजिक अस्तित्व की धारणा, समता, स्वतंत्रता और विश्व बंधुत्व के प्रति निष्ठा निर्धारित होनी चाहिए।"[16]

---

[13] हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा, पृष्ठ सं.- 2
[14] हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा, पृष्ठ सं.- 2
[15] दलित साहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ सं.- 72
[16] दलित विमर्श के विविध आयाम, पृष्ठ सं.- 3

दलित चिंतक माता प्रसाद 'अछूत' और 'दलित' शब्द के बीच अंतर स्पष्ट करते हुए और 'दलित' शब्द को विस्तार देते हुए कहते हैं- "दलित शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है। इसमें दबाये गये, अपमानित, पीड़ित, उपेक्षित शोषित सभी आते हैं। इसमें स्त्रियों और शूद्र वर्ग में आने वाली पिछड़ी जातियां और अति पिछड़ी जातियां भी हैं जो दलितों की भांति, शिक्षा-संपत्ति एकत्र करने से वंचित हैं और अपमानजनक जीवन जीने को विवश हैं।"[17] इन मतों के आधार पर कह सकते हैं कि 'दलित वह है जो किसी भी सामाजिक-व्यवस्था और आर्थिक-व्यवस्था के तहत पीड़ित, शोषित, बहिष्कृत, अस्पृश्य, अपमानित एवं दबाया गया हो, चाहे वह किसी भी वर्ण, वर्ग या समुदाय का हो'।

उपर्युक्त दोनों मतों से सहमत होने से पहले हमें 'दलित' शब्द की उत्पत्ति को भी देखना आवश्यक होगा कि आखिर इस 'दलित' शब्द का जन्म कैसे और क्यों हुआ है? और यह किसके लिए प्रयुक्त हुआ है? स्वतंत्रता आंदोलन के प्रथम एवं द्वितीय गोलमेज सम्मलेन के दौरान जब गांधी इंग्लैंड से भारत आये तो उन्हें ब्रिटिश सरकार ने गिरफ्तार कर उन्हें जेल में डाल दिया। इसके खिलाफ काफी विरोध प्रदर्शन हुआ। ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेम्जे मैकडोलेंड ने 17 अगस्त, 1932 ई. को सांप्रदायिक पंचाट जारी किया। जो मुसलमानों, ईसाईयों और हरिजनों के लिए अलग सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की मांग करता था। इस सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की मांग ने हिन्दुओं के एकाधिकार को खतरे में डाल दिया और वे नहीं चाहते थे की उनकी सत्ता कई हिस्सों में बंट जाय। अतः उस समय के हिन्दुओं के एक मात्र सबसे बड़े नेता महात्मा गांधी ने इस पंचाट के खिलाफ आमरण अनशन की घोषणा कर दी। वहीं दूसरी तरफ दलितों के एकमात्र नेता डॉ. अम्बेडकर भी थे जो जानते थे कि बिना इस पंचाट के दलितों का उद्धार होना संभव नहीं है। अतः वे भी अपनी स्थिति पर कायम रहे और अंत में पूना समझौता (1932 ई.) के तहत दलितों के लिए संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों में आरक्षण व्यवस्था की घोषणा की गई। भारत में दलितों की सामाजिक स्थिति को अंग्रेज अच्छी तरह से जानते थे कि राजनीतिक अधिकार के बिना उनके हालात कभी भी सुधर नहीं सकते। इसीलिए "सन् १९३३ ई० के समय अंग्रेजी सरकार ने एक जातीय निर्णय के

[17] दलित विमर्श के विविध आयाम, पृष्ठ सं.-3

तहत समाज के सबसे निचले, शोषित वर्ग के प्रति एक ऐतिहासिक फैसला किया जिससे इन्हें 'डिप्रेस्ड क्लासेस' के रूप में जाना गया। 'डिप्रेस्ड क्लासेस' का अर्थ होता है- 'पददलित'। अर्थात् यह 'पददलित' शब्द ही 'दलित' शब्द का पर्यायवाची माना जाने लगा।"[18] यह 'दलित' शब्द किसी और के लिए नहीं बल्कि सामाजिक श्रेणी में जो सबसे नीचे माने जाते हैं। जो अस्पृश्य हैं तथा समाज में उन्हें हीनता की भावना से देखा जाता है उन्हीं के लिए ही 'दलित' शब्द प्रयुक्त किया गया था।

आजादी के इतने साल गुजर जाने के बाद आज भी गाँवों में अगर हम जाएँ तो पाएंगे की दलित अब भी सामाजिक-व्यवस्था में अछूतपन के शिकार होते रहते हैं। आर्थिक स्थिति अच्छी होने के बावजूद वे जातिगत भेदभाव सहने के लिए मजबूर हैं। जबकि सवर्ण कितना ही गरीब हो, आर्थिक रूप से भले ही कमजोर हो लेकिन सामाजिक प्रतिष्ठा, मान- सम्मान में सबसे ऊपर ही रहता है। डॉ. अम्बेडकर ने ठीक ही कहा था कि- 'गाँव दलितों के शोषण के कारखाने होते हैं'। जहाँ सवर्ण कभी भी जातीय प्रताड़ना के दंश का शिकार नहीं रहा, बल्कि वे सदैव दलितों द्वारा पूजनीय ही रहे। ब्राह्मणवादी सत्ता और उसका धार्मिक वर्चस्व आज भी अपने उसी रूप में कायम दिखाई देता है। कांचा इलैया ठीक ही कहते हैं कि- "भारत के दलित बहुजनों का जीवन एक बिलकुल भिन्न संसार है। उनके जीवन-संसार में शायद ही कोई ऐसी बात होगी जो हिन्दू ब्राह्मणवाद के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवेश से मिलती-जुलती हो। भारत के गाँवों और शहरों के नागरिक समाज में दलित बहुजन हिन्दुओं के साथ रहते हैं। मगर ये दोनों दो अलग-अलग संस्कृतियाँ हैं। ये दोनों सिर्फ भिन्न ही नहीं हैं बल्कि दो परस्पर विरोधी संस्कृतियाँ हैं। हिन्दू समझ, दलित-बहुजन जातियों के हितों के विरुद्ध है।"[19] अब भी गाँवों में सवर्ण समुदाय का व्यक्ति कितना भी आर्थिक रूप से कमजोर हो लेकिन अपने आपको दलित मानना स्वीकार नहीं करता है। लेकिन यह स्थिति केवल गाँवों तक ही सीमित नहीं है, शहरों और महानगरों में भी यही स्थिति है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद के इस दौर में भले ही सवर्ण और अवर्ण के बीच की दूरियाँ

[18] दलित विमर्श के विविध आयाम, पृष्ठ सं.- 5

[19] हाशिये की वैचारिकी, पृष्ठ सं.- 156

खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा आदि के स्तर पर कम हुई हो लेकिन सामाजिक और मानसिक स्तर पर वह अब भी कहीं-न-कहीं मौजूद हैं।

अतः 'दलित' शब्द के खाके में वे ही लोग आते हैं जो सामाजिक रूप से 'अछूत' माने जाते हैं ना की सवर्ण। क्योंकि आज भी समाज में दलितों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। वे आज भी हाशिये पर अपना जीवन जीने के लिए मजबूर हैं।

2.2 दलित-लेखन और दलित-साहित्य- वर्तमान में दलित साहित्य को लेकर जो दूसरी महत्वपूर्ण बहस चल रही है वह दलित-लेखन को लेकर है। दलित साहित्य दरअसल दलितों के शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार का साहित्य है जो पूरी तरह यथार्थ पर आधारित है। ऐसे में प्रश्न उठता है कि क्या ग़ैर-दलित लेखक दलितों के भोगे हुए दर्द को, उसकी पीड़ा को उसी संवेदना के साथ यथार्थ रूप में प्रस्तुत कर सकेंगे? कुछ दलित साहित्यकार, ग़ैर-दलित लेखकों को दलित रचनाकार नहीं मानते। जिसके सन्दर्भ में वे कई तरह के सवाल खड़ा करते हैं और कहते हैं कि सवर्ण समाज और दलित समाज में काफी भिन्नता है। उनका कभी दलित समाज से संवेदनात्मक जुड़ाव रहा ही नहीं केवल शोषक और शोषित का ही सम्बन्ध रहा। ऐसे में यह उनका भोगा हुआ यथार्थ नहीं है। तब फिर वे इस विषय पर कैसे लिख सकते हैं? उसके साथ पूरा न्याय कैसे कर सकते हैं?

वहीं कुछ लोग इन सवालों का विरोध भी करते हुए नजर आते हैं। उनका मानना है कि यह जरूरी नहीं कि दलित विषय पर लिखने के लिए दलित होना जरुरी है। अजय नावरिया की दृष्टि में "यदि एक जन्मना दलित ब्राह्मणवादी सोच और विचारधारा के अनुरूप लेखन कार्य करता है और कोई ग़ैर-दलित ब्राह्मणवादी संस्कार और वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध लिखता है, तो दलित साहित्यकार किसे माना जाना चाहिए? किसके साहित्य को 'दलित साहित्य' की परिधि में शुमार होना चाहिए?"[20]

[20] दलित साहित्य की प्रमाणिकता का प्रश्न, पृष्ठ सं.-295

दलित साहित्यकार जो खुद भुक्तभोगी है वे ग़ैर-दलित के लेखन को जो दलितों पर लिखे गए हैं, उसे सीधे-सीधे खारिज करते हैं। वहीं कुछ दलित साहित्यकार ग़ैर-दलितों के लेखन को स्वीकार भी करते हैं। डॉ. धर्मवीर, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, जयप्रकाश कर्दम, प्रो० श्यौराज सिंह 'बेचैन', पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी आदि का मानना है कि वास्तविक दलित साहित्य दलितों द्वारा लिखा गया ही साहित्य है। इसके पीछे वे स्वानुभूति बनाम सहानुभूति का सवाल उठाते हैं। डॉ. धर्मवीर कहते हैं कि "साहित्य की वह परिभाषा एकदम खतरनाक है जिसमें इस बात की गुंजाइश रखी जाती है कि ग़ैर-दलित भी दलित साहित्य की रचना कर सकता है ।.....उदारवादी हिन्दू लेखक के साहित्य का मूल्यांकन हिन्दू साहित्य के नाते किया जाना चाहिए, चाहे वह दलित के भले के नाम पर लिखा गया हो। विश्लेषण में उसे दलित के पक्ष में लिखा गया हिन्दू साहित्य कहा जा सकता है, लेकिन दलित साहित्य नहीं।"[21]

इसी सम्बन्ध में शिवकुमार मिश्र कहते हैं- "दलित साहित्य की संज्ञा उसी साहित्य को दी जायेगी, जो जन्मना दलित रचनाकार द्वारा रचा गया हो, उस लेखन को नहीं, जो भले ही दलित जीवन-सन्दर्भों से जुड़ा लेखन हो, परन्तु जिसके लेखक ग़ैर-दलित हों।"[22] स्त्री लेखिकाओं में मृदुला गर्ग मानती हैं कि "ग़ैर-दलित लेखक भले ही दलित पात्रों के बारे में सशक्त, प्रभावशाली और कलात्मक रचनाएँ दें, वे दलित लेखकों की कृतियों से कहीं-न-कहीं भिन्न होंगी। भाषा, शिल्प, रूपक और मुहावरों के प्रयोग में और कथ्य के निर्वाह में भी।"[23]

ऐसे में हम देख सकते हैं कि साहित्यकारों में दलित साहित्य की रचनात्मक अवधारणा को लेकर दोनों ही तरह के विचार प्रचलित हैं। जिसमें कुछ लोग जन्मना दलित लेखन को दलित साहित्य मानते हैं, तो कुछ लोगों के विचार में दलित केन्द्रित अन्य लेखन भी दलित साहित्य है, चाहे वह ग़ैर-दलितों द्वारा ही लिखा गया ही क्यों ना हो। प्रश्न ये है कि दलित-लेखन को लेकर इस तरह की बहसें आखिर क्यों हो रही है? और क्यों आज सवर्ण भी दलितों का हितैषी बनने कि प्रक्रिया में लगा हुआ है?

---

[21] कथाक्रम: दलित विशेषांक, नवम्बर-2000, पृष्ठ सं.- 40

[22] कथाक्रम: दलित विशेषांक, नवम्बर-2000, पृष्ठ सं.- 41

[23] कथाक्रम: दलित विशेषांक, नवम्बर-2000, पृष्ठ सं.-125

हम जानते हैं कि दलित लेखन की शुरुआत दलित तबके से ताल्लुक रखने वाले दलित लेखकों ने ही की है। उन्होंने अपनी पीड़ा, दुःख- दर्द को लेखन के माध्यम से सबके सामने रखा और यह तब संभव हुआ जब संवैधानिक अधिकार के तहत दलित भी पढ़ने लिखने लगा। इससे पहले दलित समस्याओं को सवर्ण लेखकों ने कभी नहीं उठाया था। हाँ यह जरुर रहा कि कहीं-कहीं कविता, कहानी और उपन्यासों में दलितों की स्थिति का वर्णन हुआ। उस समय तो इन सवर्ण लेखकों और आलोचकों ने कभी भी उन रचनाओं में दलित चेतना की अभिव्यक्ति का प्रश्न नहीं उठाया और न ही कभी उन रचनाओं को दलित समस्याओं से पूरी तरह जोड़ कर ही देखा। फिर आज यह ललक क्यों पैदा हो रही है?

अगर हम ब्राह्मणवादी विचारधारा पर नजर डालें तो पायेंगे कि यह विचारधारा पूरी तरह से साम-दाम, दंड-भेद, छल-कपट की रही है। जहाँ सब कुछ अपने हिसाब से नीति-नियमों को निर्धारित किया गया है। अपनी ही भलाई में सबकी भलाई का सिद्धांत रहा है और आवश्यकता पड़ने पर उन सिद्धांतों में फेर-बदल करके सबकुछ अपने पक्ष में कर लेने की प्रवृत्ति रही है। दलित लेखन में सवर्ण लेखकों की यह घुसपैठ कुछ इसी सिद्धांत और प्रवृत्ति की ओर इशारा करती है। हिन्दी में दलित लेखन मराठी दलित-लेखन के बाद आरम्भ हुआ। और दलित साहित्य ने कम समय में जितनी तेजी के साथ हिन्दी साहित्य में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई वह सवर्ण लेखकों के गले नहीं उतरी। वे अवाक् और स्तब्ध से रह गए। अब ऐसे में उन्होंने सबसे पहले तो उसका खूब विरोध किया। उस पर तरह-तरह के आरोप लगाये और कहा कि इसकी साहित्य में जरुरत क्या है? और यह भी आरोप लगाया कि दलित-विमर्श को उठाना साहित्य को एक तरह से बांटने का काम है। जब इससे काम नहीं बना तो फिर उसमें भिन्न-भिन्न गलतियाँ निकालने लगे। जैसे कि- दलित साहित्य गालियों का साहित्य है। यह भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल का साहित्य है। यह पूरी तरह कलात्मकविहीन है, जिसकी न भाषा सही है और न रचनात्मक शैली ही। यह हिन्दी काव्यशास्त्र के मानकों के अनुकूल भी नहीं ठहरता है, वग़ैरह-वग़ैरह। इतने सारे प्रहारों के बाद भी जब दलित साहित्य का कुछ नहीं हुआ बल्कि यह और तेजी के साथ उभरा तो ग़ैर-दलित लेखकों के लिए यह चिंता का विषय बन गया। परिस्थितियाँ ऐसी हो गई कि सवर्ण

लेखक ही प्रश्नों के घेरे में आने लगे। अब ऐसे में उन्हें दलित साहित्य को स्वीकारने के अलावा कोई रास्ता ही नहीं बचा है।

अब स्थिति यह हो गई है कि लेखन के इस क्षेत्र से सवर्ण लेखक वंचित होने लगे हैं। ऐसे में अब उसे विकृत करने के लिए और अपनी जगह बनाने के लिए घुसपैठ करने लगे हैं। वे भी अपने आपको सच्चे दलित हितैषी बताने लगे हैं। उनके प्रति दयाभाव की दृष्टि दिखाने लगे हैं और कहने लगे हैं कि हम तो पहले से ही साहित्य में दलितों की समस्याओं का उल्लेख करते आ रहे हैं। जिसके तर्क में वे कई तरह के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं- " 'नाच्यो बहुत गोपाल' में अमृतलाल नागर मेहतरानी से संस्कृत का श्लोक पढ़वाते हैं। धूमिल की कविता 'मोचीराम' में वर्ग-चेतना है, वर्ण-चेतना नहीं। जगदीश चन्द्र के उपन्यास 'धरती धन न अपना', गिरिराज किशोर के 'परिशिष्ट', मनमोहन पाठक के 'गगन घटा घहरानी', पुन्नी सिंह के 'पत्थर घाटी के शोर', मन्नू भंडारी के 'महाभोज' आदि उपन्यासों में दलित चेतना देखा जा सकता है।"[24] इसी तरह सवर्ण लेखक प्रेमचंद के साहित्य में, निराला की रचनाओं में और नागार्जुन की कविताओं में भी इसी दलित चेतना के सूत्र का उल्लेख करते हैं, जो एक हद तक सही है। लेकिन स्थिति हास्यास्पद तब हो गई जब तुलसी के 'रामचरितमानस' में भी दलित चेतना की अभिव्यक्ति को खोज कर बताया जाने लगा।

सवाल यह है कि आखिर ये सब सूत्र अब क्यों खोज-खोज कर निकाले जा रहे हैं? अगर ये तत्त्व पहले से ही मौजूद थे तो फिर इसे पहले क्यों नहीं बताया गया? और दलितों के इतने ही बड़े हितैषी थे तो फिर उनकी सुध तभी से क्यों नहीं ली गई? दरअसल कुल मिलाकर वह यह मनवाना चाह रहे हैं कि हमें भी दलित लेखक माना जाय। चलिए अगर दलित लेखक मान भी लिया जाय तो क्या वह दलित साहित्य के साथ पूरा-पूरा न्याय कर रहे हैं? इसी संदर्भ में दलित लेखक प्रश्न करते हैं कि क्या उनकी (गैर-दलित) संवेदना दलितों की संवेदना के साथ पूरी तरह जुड़ पा रही है? क्या वे वर्ण-संस्कारों से पूरी तरह मुक्त हैं? क्योंकि दलित मुद्दों पर सवर्ण आलोचकों की जो आलोचकीय दृष्टि एवं प्रतिक्रिया होती है वो

[24] दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-67

काफी संतुलित होती है। एक तरह से वे ब्राह्मणवादी विचारधारा को बचाते हुए चलते हैं। क्योंकि वे पूरी तरह से अब भी ब्राह्मणवादी परम्परा से मुक्त नहीं हो पाये हैं। इसी दोष के बारे में प्रसिद्ध हिन्दी आलोचक मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि- "हिन्दी में दलितों के जीवन पर उपन्यास और कविता लिखनेवाले ग़ैर-दलित ने अपने वर्ग और वर्ण-संस्कारों से मुक्त होकर ही दलित जीवन पर लिखा है। फिर भी, उनके लेखन में अनजाने में ही सही, सवर्ण-संस्कारों की छाया आ गई है। उदाहरण के लिए नागार्जुन की कविता 'हरिजन गाथा' में आये 'मनुपुत्र', 'वेद' और 'ऋचाएं' शब्द दलित चेतना के अनुकूल नहीं हैं। कवि हरिजन और उसे जलानेवाले सवर्ण- दोनों को 'मनुपुत्र' कहता है।"[25] अतः ये प्रश्न रह ही जाता है कि सवर्ण लेखक दलित चेतना को लेकर कितना संवेदनशील है?

देखा जाय तो दलित साहित्य पूरी तरह डॉ. अम्बेडकर के विचारधारा और उनके दर्शन पर आधारित है, जिसकी पृष्ठभूमि में बुद्ध का दर्शन है। इसलिए 'दलित' लेखक हो या 'ग़ैर-दलित' लेखक जब तक उनके लेखन में इन दर्शनों का अभाव रहेगा उसे दलित साहित्य नहीं कहा जा सकता। अतः हमें इस दर्शन पर खरे उतरने वाले साहित्य को ही 'दलित साहित्य' मानना चाहिए, चाहे उसमें स्वानुभूति हो या सहानुभूति।

2.3 दलितों के सवाल एवं विमर्श- आज का हिन्दी साहित्य विमर्शों के दौर से गुजर रहा है। जहाँ दलित, स्त्री, आदिवासी, पसमांदा, अल्पसंख्यक जैसे महत्वपूर्ण विमर्शों को देखा जा सकता है। दलित विमर्श इन सारे विमर्शों के केंद्र में है। जिसने अब तक के साहित्य को कई सारे सवालों के कठघरे में लाकर खड़ा कर दिया है। ऐसे सवाल जो लोगों को सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक आधारों पर अलग करते हैं। जिन्हें जाति-व्यवस्था के तहत मुख्यधारा से अलग कर हाशिये पर धकेल दिया जाता है।

[25] दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-67

दलित विमर्श का जन्म मुख्यधारा के साहित्य के विरोध में हुआ है, जहाँ दलित समाज की किसी भी तरह की उपस्थिति एकदम नदारद रही है। अगर हुई भी है तो केवल दयनीय स्थिति तक ही सीमित रही है। जैसा कि वह इसके लिए स्वयं ही जिम्मेदार रहा हो। यह समस्या केवल भारत में ही नहीं रही है बल्कि पूरे विश्व में यही स्थिति विद्यमान है, जैसे-अमेरिका में नीग्रो, रोडेशिया में अफ्रीकन आदि। दलित-विमर्श ब्राह्मणवादी वर्णव्यवस्था के तहत सदियों से सताए गए दलितों की सामाजिक मुक्ति का विमर्श है जो मनुष्य के समानता की वकालत करता है। ऐसे में वह धर्म को इस रास्ते का सबसे बड़ा रोड़ा मानता है और ईश्वर, अवतारवाद, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक आदि किसी भी दिव्य सत्ता जैसी चीजों में विश्वास नहीं करता है। इसी दलित विमर्श को कँवल भारती कबीर के एक पद से समझाने की कोशिश करते हैं- "गर्भ बास महि कुल नहि जाती। ब्रह्म बिंद ते सब उतपाती ॥ जौ तू ब्राह्मण ब्राह्मणी जाया। तौ आन बाट काहे नहिं आया ॥ तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद। हम कत लोहू तुम कत दूध ॥ कहु कबीर जो ब्रह्म बिचारै। सो ब्राह्मण कहियत है हमारे॥"[26] अंत में यह प्रतिपादित करते हैं कि मानव की प्रतिष्ठा कबीर का अभीष्ट है और यही दलित-विमर्श का अर्थ है।

आज दलित-विमर्श एक जीवन्त और ज्वलंत मुद्दे के रूप में हमारे सामने अपनी मुखर अभिव्यक्ति कर रहा है। यह भारतीय साहित्य का अनिवार्य हिस्सा बन चुका है। कुछ लोग इसे एक खास जाति विमर्श के सीमित दायरे से जोड़कर देखते हैं। जबकि इसका दायरा काफी व्यापक है। क्योंकि "दलित विमर्श सिर्फ एक जाति का विमर्श नहीं है, जैसी कि आम धारणा है कि किसी दलित समस्या को लेकर किया गया विमर्श ही दलित विमर्श है। यह धारणा गलत है। दलित विमर्श के केंद्र में दलित समस्या को नहीं नकारा जा सकता। यह समस्या एक राष्ट्रीय समस्या के रूप में है। इसके केंद्र में दलित मुक्ति का प्रश्न राष्ट्रीय मुक्ति का प्रश्न है।"[27] दलित साहित्यकार इस विमर्श को विश्व के व्यापक धरातल पर देखता है और इसके केंद्र में कई सारे सवालों को देखता है जिससे दलित हजारों सालों से जूझता, लड़ता आया है। यह केवल भारत की ही समस्या नहीं है बल्कि अन्य देशों में भी मौजूद हैं। कँवल भारती कहते हैं कि-

[26] दलित विमर्श की भूमिका, पृष्ठ सं.- 15
[27] दलित विमर्श की भूमिका, पृष्ठ सं.- 17

"दलित विमर्श के केंद्र में वे सारे सवाल हैं, जिनका संबंध भेदभाव से है, चाहे यह भेदभाव जाति के आधार पर हो, नस्ल के आधार पर हो, लिंग के आधार हो या फिर धर्म के ही आधार पर क्यों न हो। देखने में यह सवाल साधारण-सा लगता है, पर यह साधारण सवाल नहीं है। यह अत्यंत गंभीर और असाधारण सवाल है, क्योंकि इसी सवाल को निरर्थक और महत्त्वहीन करने की सारी कोशिशें ब्राह्मण वर्ग द्वारा की गई हैं। ये कोशिशें अकारण नहीं की गई हैं, वरन इनके पीछे सांस्कृतिक फासीवाद और वर्णव्यवस्था का शासन स्थापित करने का लक्ष्य रहा है।"[28]

साहित्य में दलित विमर्श की मुख्य तौर पर तीन धाराएँ दिखाई देती हैं। जिसमें पहली धारा स्वयं दलित जातियों में जन्मे लेखकों की है जिनके पास स्वानुभूतियों का आधार है और इसी आधार पर उनका मानना है कि वास्तविक अर्थों में उन्हीं का सृजित साहित्य ही 'दलित साहित्य' है, जो बहुत हद तक सच भी है। दूसरी धारा हिन्दू (सवर्ण) लेखकों की है, जिनके रचना संसार में दलितों का चित्रण सौन्दर्य- सुख की विषय-वस्तु के रूप में होता है। तथा तीसरी धारा प्रगतिशील लेखकों की है जो दलित को सर्वहारा की स्थिति में देखते हैं।

दलित चिंतकों के अनुसार दलित-विमर्श की वेद और वर्ण विरोधी परम्परा बौद्धों, सिद्धों और नाथों से होती हुई मध्यकाल के दलित संतों तक पहुंची। जहाँ रैदास हिन्दू मान्यताओं का खंडन करते हैं और कबीर समकालीन हिन्दू-मुस्लिम सामाजिक कुरीतियों की उधेड़-बुन में व्यस्त रहते हैं। दलित संत कवियों का युग चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी का युग था। आगे की दो शताब्दियों में हमें इस दलित-विमर्श का विकास दिखाई नहीं देता। लेकिन अंग्रेजों के आते ही यह पुनः उभरती हुई दिखाई देती है। "इसका कारण यह था कि इस समय तक भारत में अंग्रेजी राज्य कायम हो चुका था और ईसाई मिशनरियों के प्रभाव से अछूतों में शिक्षा का प्रकाश पहुँचने लगा था। इस नवजागरण ने प्रायः सभी भाषाओं में दलित रचनाकार पैदा किए, जिन्होंने न सिर्फ अपना साहित्य और अपना इतिहास लिखा बल्कि अपने समय के

[28] दलित विमर्श की भूमिका, पृष्ठ सं.- 17

साहित्य को प्रभावित भी किया।"[29] इस क्रम में महात्मा ज्योतिबा फुले सबसे पहले आते हैं। इनकी रचना 'गुलामगिरी', नाटकों और पवाड़ा काव्य में दलित दर्द की यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है। हिन्दी में अछूतानंद और हीराडोम की कविताओं ने इस विमर्श को आगे बढ़ाया। लेकिन इसकी सुध हिन्दी साहित्यकारों ने कभी नहीं ली। डॉ. अम्बेडकर के आते ही दलित-विमर्श पूरी तेजी के साथ उभरता हुआ दिखाई देता है। हिन्दुओं के खिलाफ इनके सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक तर्कों से दलितों में चेतना का संचार होता है। उन्हें यह एहसास होता है कि यह जो हमारे ऊपर सामाजिक बंधन हैं वो कोई ईश्वरीय कारण नहीं बल्कि ब्राह्मणवादियों का बनाया हुआ एक जाल है। इसी क्रम में बड़ी संख्या में दलित हिन्दू धर्म छोड़कर डॉ. अम्बेडकर के साथ बौद्ध धर्म ग्रहण करते हैं।

वहीं दूसरी तरफ प्रगतिवादी या मार्क्सवादी साहित्यकारों ने दलित विमर्श को 'वर्ग' विमर्श के रूप में देखा। इनकी समस्याओं को आर्थिक सन्दर्भों में देखते हुए समाज को दो वर्गों में बांटा- अमीर और गरीब अथवा शोषक और शोषित। वे मानते हैं कि दलित समस्याओं का समाधान आर्थिक प्रश्नों के हल से ही संभव है। किन्तु दलित साहित्यकार इससे पूर्ण सहमत नहीं हैं। लेकिन वे इसे एक जरुरी हिस्सा अवश्य मानते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि आर्थिक हल के बावजूद भी सामाजिक भेद बरकरार रहेगा।

दलित-विमर्श जो सबसे अहम सवाल उठाता है, वह है- 'वर्ण-व्यवस्था' और जाति-व्यवस्था का सवाल। भारतीय समाज-व्यवस्था में जाति का सवाल ऐसा है जिसके प्रभाव से कोई भी मुक्त नहीं है। दलित लेखक और चिंतक मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन', जयप्रकाश कर्दम, डॉ. धर्मवीर, तेज सिंह, सूरजपाल चौहान, रजनी तिलक, प्रो. विमल थोरात, मलखान सिंह, कँवल भारती, नामदेव ढसाल आदि इसी सवाल को लेखन के माध्यम से लोगों के सामने रखते हैं। ये ब्राह्मणवादी धर्म के हितैषियों से पूछते हैं कि - "जिस देश में करोड़ों लोग जाति के आधार पर मानवाधिकारों से वंचित रखे गए हों, वह देश सभी का कैसे कहला सकता है? एक देश की समाज-व्यवस्था में एक सवर्ण हमेशा सवर्ण क्यों रहता है? एक अछूत हमेशा अछूत क्यों रहता है? यह व्यवस्था

[29] दलित विमर्श की भूमिका, पृष्ठ सं.-17

अपरिवर्तनीय क्यों है? यह कैसी व्यवस्था है, जिसमें व्यक्ति की योग्यता कोई मायने नहीं रखती है और जाति ही योग्यता का मापदंड है?"[30] इन सवालों के जवाब में ब्राह्मणवादियों के पास चुप्पी के अलावा कुछ भी नहीं रह जाता है।

दलित लेखकों के सवाल केवल स्वयं के सवाल नहीं हैं बल्कि यह पूरे दलित समुदाय के प्रश्न हैं। दलित चिंतक कँवल भारती कहते हैं कि- "डॉ. अम्बेडकर ने लिखा है कि किसी समय लार्ड बेल्फोर ने सवाल प्रत्यक्षवादियों से किए थे, आज वही सवाल दलित, हिन्दुओं के नायकों से पूछ सकते हैं। दलित तो और भी कई प्रश्न पूछ सकते हैं। वे पूछ सकते हैं कि क्या हिन्दू धर्म उन्हें मानव प्राणी के रूप में स्वीकार करता है? क्या वह उनके लिए समानता का समर्थन करता है? क्या उन्हें आजादी का लाभ देना चाहता है? क्या वह हिन्दुओं और दलितों के बीच भ्रातृत्व कायम करने में मदद करता है? क्या वह हिन्दुओं को सीखाता है कि दलित उन्हीं के सजातीय हैं? क्या वह हिन्दुओं से कहता है कि दलित के साथ बदतर अमानवीय व्यवहार करना पाप है? क्या वह हिन्दुओं से दलितों के प्रति न्याय करने को कहता है? क्या हिन्दू धर्म बिना किसी भेदभाव के जीवन के मूल्य को सर्वव्यापी बनाता है?"[31] ऐसे सवालों का जवाब देना हिन्दुओं के लिए कठिन है।

दरअसल इन सवालों का सीधा-सीधा जवाब ब्राह्मणवादी पोषकों के पास नहीं है। अगर वे इसका उत्तर देते भी हैं तो उसे कई तरह से तोड़-मरोड़कर कर जवाब देते हैं। जो बिना तर्क और आधार का होता है। अतः इसे उलझाने का काम करते हैं और सारे सवालों का जवाब हिन्दुओं के धार्मिक-ग्रंथों और स्मृतियों में खोजते हुए नजर आते हैं।

हम कह सकते हैं कि 'दलित-विमर्श' एक ऐसी अवधारणा है जो सामाजिक न्याय एवं लोकतांत्रिक संरचनाओं के संघर्ष से विकसित हुई है। इनके पास एक ऐसे समाज का सपना है, जिसमें सभी वर्गों के व्यक्तियों को विकास के समान अवसर उपलब्ध होंगे। इसमें धर्म के नाम पर किये जाने वाले

[30] दलित विमर्श की भूमिका, पृष्ठ सं.-17

[31] हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृष्ठ सं.-249

शोषण के विरुद्ध व्यक्ति की प्रतिष्ठा का चिंतन है। दलित विमर्श इसलिए आया है कि भारतीय समाज में सदियों से व्याप्त सामाजिक संकीर्णता, निम्न वर्गों के प्रति शोषण की प्रवृत्ति को उखाड़कर मानवीय एवं भेदभाव रहित समाज का निर्माण किया जा सके। आज नए दौर का दलित-विमर्श और उनसे उपजे सवाल दलितों को सामाजिक संघर्ष एवं नेतृत्त्व के लिए तैयार कर रहा है।

2.4 दलित वैचारिकता का विकास - हिन्दी दलित साहित्य के विकास की पृष्ठभूमि पर नजर डालें तो यह लगभग सौ वर्ष पहले हीराडोम की कविताओं से देखा जा सकता है। लेकिन दलित वैचारिकी एवं उसके सिद्धांत का विकास हजारों साल पहले ही दिखाई पड़ता है। जहाँ महात्मा बुद्ध ने और उनके बाद सिद्धों-नाथों ने जातिप्रथा का विरोध किया था। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में दलित आन्दोलन की पड़ताल से यह ज्ञात होता है कि दलित वैचारिकता का विकास ई. वी. रामास्वामी पेरियार, महात्मा ज्योतिबा फूले और डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर के दर्शन के आधार पर ही संभव हुआ है। सामाजिक समानता के लिए जब डॉ. अम्बेडकर ने पीने के पानी पर बराबरी के अधिकार का दावा किया तथा मंदिरों एवं पूजा-अर्चना में समान प्रवेश की बात उठाई तो उन्हें सवर्ण हिन्दुओं का भारी विरोध का सामना करना पड़ा। इस संघर्ष के दौरान डॉ. अम्बेडकर ने इस बात को महसूस किया कि "दलित समाज की सबसे बड़ी जरुरत है कि उन्हें उनके खोये हुए स्वाभिमान एवं आत्मसम्मान का एहसास कराना। वे मनुष्य हैं ये समझाना, वे गुलाम बना दिए गए हैं, इसका एहसास करवाना। इन सब चीजों के लिए जरुरी था, उन्हें शिक्षित करना, संघर्ष में उतारना और संगठित करना।"[32] आज डॉ. अम्बेडकर का दर्शन ही दलितों में अस्मिता पहचान की ललक पैदा कर सका है। अतः 'अम्बेडकर दर्शन' मानवीय संवेदनाओं, समतामूलक समाज की स्थापना, स्वतंत्रता के अधिकार, आपसी बंधुत्व की भावना और वर्ण-व्यवस्था से मुक्त होकर जीवन जीने के सरोकारों का दर्शन है।

भारतीय दलित लेखकों के प्रेरणा के मूल में डॉ. अम्बेडकर ही हैं। लेकिन अगर इसकी तह में जाए तो इसके विकास की जड़ बहुत ही प्राचीन है। जो हमें विद्वान् चार्वाक, महापंडित एवं दार्शनिक

[32] दलित चिंतन : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, पृष्ठ सं.- 77

आचार्य अश्वघोष और महात्मा बुद्ध के दर्शन से प्राप्त होता है। इन सभी दार्शनिकों ने ब्राह्मणवादी संस्कृति पर जबरदस्त प्रहार तथा उसका खंडन-मंडन किया था और समाज में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-व्यवस्था का घोर विरोध भी किया था। चार्वाक दर्शन के बारे में कहा जाता है कि "चार्वाक दर्शन को पढ़ने वाला वैदिक कर्मकांड का सम्मुख विरोधी हो जाता था।"[33] इनका दर्शन ब्राह्मणवादियों, मनुवादियों के लिए इतना घातक था कि ब्राह्मणों ने इनके दर्शन को ही नष्ट कर दिया। चार्वाक दर्शन के सार को देख सकते हैं- "ब्राह्मणों ने जनता को जिस स्वर्ग और परलोक का प्रलोभन दिया है, वह सब मिथ्या है। इस अनंत जगत का रचयिता कोई ईश्वर या पुरुष नहीं है। यह स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है और स्वभाव से ही इसका विनाश व रूपान्तर होता है। प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है (प्रत्यक्षमेकम चार्वाकः), अनुमान और शब्द या वेद आदि कोई प्रमाण नहीं है। वेद तो भांड, धूर्त और निशाचरों की रचना है (त्रयो वेदस्य कर्तारो भंड, धूर्त निशाचरः)।"[34] अतः चार्वाक ने पूरे ब्राह्मणवादी संस्कृति को चुनौती दी थी, ईश्वर संबंधी अवधारणा को पूरी तरह से ही ख़ारिज कर दिया था। ऐसे में ब्राह्मणों का तिलमिलाना स्वाभाविक ही था।

इसी क्रम में इस विरोध की परंपरा का विकास हमें महात्मा बुद्ध और अश्वघोष में भी दिखाई देता है। अश्वघोष ने 'वज्रसूची उपनिषद्' लिखा जिसमें उन्होंने केवल एक प्रश्न को ही केन्द्रित किया है। वह यह कि- ब्राह्मण कौन है? (को वा ब्राह्मणश्चेती)। अश्वघोष प्रश्न करते हैं कि " यदि ब्राह्मण श्रेष्ठ है, तो बताओ तुम किस चीज को ब्राह्मण कहते हो, क्या आत्मा ब्राह्मण है, या शरीर ब्राह्मण है? ब्राह्मण जन्म से होता है या ज्ञान से? आचरण से ब्राह्मण होता है या वेदों में पारंगत होने से? या वृत्ति और पौरोहित्य से ब्राह्मण होता है?"[35] इसके अलावा अन्य तर्कों के माध्यम से भी ब्राह्मणवादी विचारधारा का खंडन करते हुए यह बताते हैं कि जन्मवाद और शरीरवाद की बात मिथ्या है। ब्राह्मण केवल गुणों और कर्मों से ही हो सकता है भले ही वह व्यक्ति चाहे किसी भी देश में, किसी भी कुल या जाति में जन्मा हो।

[33] दलित वैचारिकी की दिशाएं, पृष्ठ सं.- 76
[34] दलित वैचारिकी की दिशाएं, पृष्ठ सं.- 76
[35] दलित वैचारिकी की दिशाएं, पृष्ठ सं.- 77

आगे यह मध्यकाल में सिद्धों, नाथों एवं कबीर, रैदास की वाणियों से होती हुई दलित लेखकों में दिखाई देती है। जहाँ कबीर और रैदास स्वर्ग-नरक, मोक्ष प्राप्ति की सारी गलत अवधारणाओं को तोड़ते हैं। प्रतिरोध की इस संस्कृति का विस्तार आज पूरे भारतीय साहित्य में देखा जा सकता है। तेलुगु, तमिल, मराठी, मलयालम, बांग्ला, पंजाबी आदि सभी भाषाओँ में दलित साहित्य तेजी से उभर रहा है।

आधुनिक काल में ज्योतिबा फुले की विचारधारा का दलित आन्दोलन को गति प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनकी रचनाएँ आज भी इस समाज के लिए प्रासंगिक हैं। ये रचनाएं आज भी उतनी ही ब्राह्मणवादी नीतियों पर करारी चोट करती हैं। "उनकी वैचारिकी यह है कि ब्राह्मण इस देश में बाहर से आये और उन्होंने यहाँ के मूल निवासियों को पराजित कर गुलाम बनाया। उन्होंने 'शिवाजी का पंवाड़ा' की प्रस्तावना में लिखा है कि ब्राह्मणों का शूद्रों के साथ जो व्यवहार होता है उससे यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मणों का इस देश से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।"[36]

वहीं डॉ. अम्बेडकर ने भी 'मनुस्मृति' को जलाकर ब्राह्मणवादी संस्कृति का कड़ा विरोध किया था। उन्होंने दलित मुक्ति आन्दोलन का जितना सशक्त नेतृत्व किया और जो दर्शन दिया है वह अतुलनीय है। बचपन से ही उनके मन मस्तिष्क में ब्राह्मणवादी परम्परा के खिलाफ एक तीव्र आक्रोश रहा। दलितों की मुक्ति, उनकी आजादी, और उनके अछूतपन को समाप्त कर एक नये समाज के निर्माण का स्वप्न था। और आगे चलकर यह उनका एकमात्र लक्ष्य बन गया। इसलिए उनका सम्पूर्ण दर्शन और चिंतन, मानवीय समानता, सामाजिक न्याय, मानवीय स्वतंत्रता पर आधारित था। सामाजिक समानता और आर्थिक समानता के लक्ष्य के साथ-साथ दलित समाज को शिक्षित, संगठित और संघर्ष करने की प्रेरणा भी उन्होंने दी। डॉ.अम्बेडकर द्वारा रचे गए साहित्य, उनके विचार, उनके द्वारा चलाये गए आन्दोलन आदि दलित समाज की सबसे बड़ी विरासत हैं। जिसे संभालना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। क्योंकि "जिस समाज के पास परिवर्तनशील विचारों की विरासत होती है, वैज्ञानिक चिंतन होता है, मानवतावादी, समतावादी मूल्यों पर आधारित दर्शन तथा चिंतन होता है, मानवीय आदर्श होते हैं,

[36] दलित विमर्श की भूमिका, पृष्ठ सं.- 106

जीवनवादी साहित्य होता है, समानतावादी धर्म होता है, ईश्वर, आत्मा- परमात्मा, कर्मकांड, पूजापाठ, होमयज्ञ, बलि-कर्म, पंडा-पुरोहित आदि मानवीय जीवन के शत्रुओं से मुक्त धर्म होता है, वही समाज सही मायने में अपनी मुक्ति पा सकता है। दलित समाज की मुक्ति इसी में है और यही दलित समाज की सबसे बड़ी विरासत है।"[37]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि दलित साहित्य की वैचारिकता के पीछे उपर्युक्त विद्वानों एवं महात्माओं के दर्शन, उनका ज्ञान, उनका सन्देश और उनके द्वारा बताये गए मार्गों का प्रमुख योगदान रहा है। इन्हीं विचारों एवं सिद्धांतों से आज के दलित लेखक प्रेरणा लेकर दलित साहित्य लिख रहे हैं। और ब्राह्मणवादी व्यवस्था के प्रतिरोध की मशाल को जलाये हुए हैं।

[37] दलित विमर्श के विविध आयाम, पृष्ठ सं.- 80

तृतीय अध्याय

आत्मकथा की संस्कृति और हिन्दी आत्मकथाओं की प्रकृति

तृतीय अध्याय

आत्मकथा की संस्कृति और हिन्दी आत्मकथाओं की प्रकृति

3.1 आत्मकथा की संस्कृति- हिन्दी साहित्य में आत्मकथा की संस्कृति लगभग नहीं के बराबर रही है। हाँ यह जरूर रही कि प्राचीन ग्रंथों में कृतिकारों ने आत्मकथात्मक रूप में स्वपरिचय जरूर दिया है। कई लोगों ने इसे 'जीवनी' भी कहा है। इसलिए बहुत से भारतीय विद्वानों का यह मानना रहा कि 'आत्मकथा', 'जीवनी' का ही एक अलग रूप है। क्योंकि भारतीय ग्रंथों में कुछ इस तरह के परिचय मिलते हैं, जिनमें ग्रंथों के रचयिताओं ने स्वयं अपने जीवन का थोड़ा-बहुत वर्णन किया है। जैसा कि- "मालतीमाधवं के आखिर में उसका सूत्रधार एक संक्षिप्त प्रशस्ति में नाटककार भवभूति का परिचय देते हुए उसके ज्ञान की और उसकी ज्ञानी पूर्वज-परम्परा की सराहना करता है।"[1] बात केवल यहीं तक सीमित नहीं है बल्कि संस्कृत ग्रंथों में कवियों को यह भलीभांति निर्देश भी दिया गया है कि वे अपने ग्रंथों में स्वयं का परिचय अवश्य दें और साथ ही हो सके तो अपने वंश के बारे में भी परिचय दें। "काव्य और साहित्य पर रुद्रट की प्रसिद्ध पुस्तक 'काव्यालंकार' में एक जगह कवियों को यह निर्देश दिया गया है कि उन्हें कथा लिखते वक्त परम्परा- प्रचलित आशीर्वचन के बाद पाठकों को अपना परिचय देना चाहिए और अपने परिवार तथा पूर्वजों के बारे में भी जरुरी जानकारी प्रदान करनी चाहिए।"[2] अतः प्राचीन ग्रंथों में इस तरह की परम्परा के फलस्वरूप कुछ आत्मकथात्मक जीवनियाँ देखने को अवश्य मिलती हैं। जैसे- बाणभट्ट द्वारा रचित 'हर्षचरित', जो सम्राट हर्ष की जीवनी है के आरम्भ में कवि ने कुछ आत्मकथात्मक सामग्री जरूर उपलब्ध करवाई है। इसी तरह बिल्हण की ऐतिहासिक कृति 'विक्रमांकदेवचरित' के एक अध्याय के अंतर्गत भी कुछ आत्मकथात्मक सामग्री प्राप्त होती है। तो वहीं आगे दंडी ने अपने उपन्यास 'अवन्तीसुन्दरिकथा' की कहानी स्वयं और अपने पूर्वजों से सम्बंधित एक विवरण से शुरू किया है। "लेखक ने अपने व्यक्तिगत इतिहास की एक संक्षिप्त, मगर जीवन्त झलक प्रस्तुत की है। दंडी बतातें हैं कि उनके पितामह बीस वर्ष की नई उम्र में घर से भाग गए थे। फिर अपने सुप्रसिद्ध कवि-मित्र भारवि के घनिष्ठ

[1] आत्मकथा की संस्कृति, पृष्ठ सं.-39

[2] आत्मकथा की संस्कृति, पृष्ठ सं.-40

संपर्कों के जरिये उन्हें कांची के राजा के रूप में अपना वह उदारमना स्वामी मिल गया, जिसके दरबार से उन्होंने खुद को सम्बद्ध कर लिया।"[3] इस तरह के कई परिचय मिलते हैं। लेकिन इन परिचयात्मक टिप्पणियों को हम आत्मकथा नहीं कह सकते। लेकिन हम यह मान सकते हैं कि 'आत्मकथा' तत्त्व के स्रोत इन ग्रंथों में जरूर दिखाई देते हैं।

आत्मकथा के प्रसंग में संस्कृत साहित्य के अंतर्गत दण्डी के बाद आत्मकथात्मक अभिव्यक्ति जैसी रचनात्मकता के उदाहरण नहीं मिलते हैं। एक लम्बे अंतराल के बाद सन् 1641 ई० में बनारसीदास जैन द्वारा रचित 'अर्द्धकथानक' हिन्दी की सबसे पहली आत्मकथा के रूप में प्राप्त होती है। जिससे हम हिन्दी साहित्य में आत्मकथा की शुरुआत मान सकते हैं।

आत्मकथा के बारे में तथाकथित जो भारतीय परम्परागत विचारधारा है वह यह की आत्मकथा वही लिख सकता है जिसने अपना पूरा जीवन लगभग जी लिया हो और साथ ही महानतम उपलब्धि भी हासिल कर लिया हो, जिससे की आमलोग प्रेरणा ले सके। आत्मकथा का विग्रह करें तो हम पाएंगे की आत्म अर्थात 'अपना या अपनी' और कथा अर्थात 'सबकी'। जब कोई व्यक्ति स्वयं की कथा लोगों के समक्ष अपने लेखन के माध्यम से रखता है तो फिर वह कथावस्तु स्वयं के साथ-साथ पाठक की भी हो जाती है। देखा जाय तो यह एक सरल विधा है जिसे कोई भी लिख सकता है, किसी भी ढंग से कह सकता है। आत्मकथाकार अपनी कहानी कहने के साथ-साथ अपने पूरे समाजिक परिवेश की कथा कहता है। एक तरह से कहा जाय तो "इसमें व्यक्ति समूचे समय और समाज के सन्दर्भ में रखकर अपने शब्द और कर्म, अपनी वैचारिकता और व्यक्तित्व की गहन और पारदर्शी पड़ताल करने की रचनात्मक कोशिश करता है।"[4] इस क्रम में लेखक अपने जीवन को एक बार पुनः जीता है और उसे व्याख्यायित भी करता है।

[3] आत्मकथा की संस्कृति, पृष्ठ सं.-43

[4] आत्मकथा की संस्कृति, पृष्ठ सं.-13

आत्मकथा की मांग तो यही होती है कि लेखक अपने व्यक्तित्व के साथ समय और समाज का यथार्थपरक वर्णन करे। जिसमें न तो कल्पना का कोई योग हो एवं न ही बनावटीपन। आत्मकथा-लेखन कोई आसान काम नहीं है। बल्कि इसके लिए लेखक को एक बार फिर से स्वयं के जीवन में आये सुख-दुःख के क्षणों से गुजरना, लड़ना, जूझना तथा संघर्ष करना पड़ता है। इस क्रम में लेखक से इस ईमानदारी की उम्मीद रहती है कि वो अपनी आत्मकथा में किसी भी प्रकार की कल्पना एवं झूठ का समावेश न करे और सकारात्मक पक्षों के साथ-साथ नकारात्मक पक्षों को भी चित्रित करे। क्योंकि सच की अभिव्यक्ति आत्मकथा की पहली बुनियादी शर्त होती है, चाहे वह अपनी हो या स्वयं से जुड़े किसी सामाजिक घटना अथवा प्रसंग का । इसलिए मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि "पूरा सच बोलना आत्मकथा या जीवनी की नैतिकता ही नहीं, सौन्दर्यबोधी शर्त भी है।"[5] लेकिन क्या इस प्रतिज्ञा का निर्वाह भारतीय आत्मकथाओं में दिखाई देता है? ऐसा पूरी तरह से संभव नहीं लगता। महात्मा गाँधी की आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' के सन्दर्भ में देखें तो यह सन्देह के घेरे में नजर आती है। गाँधी जी का मानना था कि एक सत्य ही है इसके अलावा संसार में दूसरा कुछ भी नहीं। जिसके प्रति उनका विश्वास दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है। गाँधी जी अपनी आत्मकथा के माध्यम से लोगों में सत्य के मार्ग पर आरूढ़ होने की प्रेरणा की बात करते हैं। साथ ही वे कहते हैं कि- "मैं चाहता हूँ कि मेरे लेखों को कोई प्रमाणभूत न समझे। यही मेरी विनती है। मैं तो सिर्फ यह चाहता हूँ कि उनमें बताये गए प्रयोगों को दृष्टान्तरूप मानकर सब अपने-अपने प्रयोग यथाशक्ति करें। मुझे विश्वास है कि इस संकुचित क्षेत्र में आत्मकथा के मेरे लेखों से बहुत कुछ मिल सकेगा, क्योंकि कहने योग्य एक भी बात मैं छिपाऊंगा नहीं।"[6] महात्मा गाँधी का यह अंतिम वाक्य 'सत्य के प्रयोग' को आत्मकथा के विधा से बाहर की ओर करता है। ऐसा लगता है कि वे अपने आत्ममोह से मुक्त नहीं हो पाते हैं और स्वीकार करते हैं कि स्वयं की अभिव्यक्ति में कथनी और करनी का ठीक-ठीक तालमेल नहीं। संभवतः इसी द्वन्द्व को ध्यान में रखते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि "जहाँ जीवन की अश्लीलता को शालीनता की चादर से ढककर जीने को ही सभ्यता माना जाता हो,

[5] आत्मकथा की संस्कृति, पृष्ठ सं.-15

[6] आत्मकथा की संस्कृति, पृष्ठ सं.-15

वहाँ बड़े लोगों के बारे में सच कहने-सुनने की आदत कैसे होगी?"[7] मैनेजर पाण्डेय की यह बात साबित करती है कि भारतीय साहित्य में आत्मकथा की संस्कृति क्यों नहीं रही।

आत्मकथा की संस्कृति का भारतीय साहित्य में न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जैसा कि हम जानते हैं कि आत्मकथा व्यक्ति के जीवन तथा उसके सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश का यथार्थपरक चित्रण होता है। जिसमें पूरी प्रामाणिकता सच-सच कह देने की इमानदारी होती है। अतः हम कह सकते हैं कि हिन्दी में आत्मकथा विधा का जन्म पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से ही हुआ है। आत्मकथा के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण को देखें तो पायेंगे कि इस पर एक खास वर्ग का प्रभुत्व है। जिन्होंने इसकी मूल अवधारणा से अलग एक-दूसरे तरह के दृष्टिकोण की स्थापना की और अपनी सुविधानुसार प्रतिमान और मापदंड गढ़े हैं।

हिन्दी आत्मकथाओं की प्रकृति के अंतर्गत आत्मकथा का लेखन हर कोई नहीं कर सकता। क्योंकि भारतीय विद्वानों ने संस्कृत के काव्यशास्त्रों के नियमों की तरह इसके भी कुछ प्रतिमान तय कर दिए हैं। जैसे कि- आत्मकथा लिखने के लिए व्यक्ति का जीवन महान होना चाहिए, उनमें उच्च-गुणों का समावेश होना चाहिए और साथ ही उनका जीवन लोगों के लिए प्रेरणादायक भी बन सके। इन सब के अलावा खास विशेषता यह होनी चाहिए कि वह अपना लगभग सम्पूर्ण जीवन जी चुका हो। आरंभिक आत्मकथाएँ कुछ ऐसे ही विद्वानों की मिलती हैं, जिन्होंने अपना जीवन लगभग पूर्ण कर लिया है। यहाँ तक तो ठीक है लेकिन जैसे ही हम आत्मकथाओं के अन्य तत्वों को देखते हैं, तो ये आत्मकथाएँ सन्देह के घेरे में आ जाती हैं और आत्मकथात्मक अवधारणाओं पर खरी नहीं उतरती। क्योंकि बहुत से विद्वानों के कथनी और करनी में जमीन-आसमान का अंतर रहा है। अतः ऐसे लोगों ने जब अपनी आत्मकथा लिखी तो उन्होंने केवल अपने सकारात्मक पक्षों को ही उद्घाटित किया तथा नकारात्मक पक्षों को छोड़ दिया।

[7] आत्मकथा की संस्कृति, पृष्ठ सं.-15

3.1.1 आत्मकथा सम्बन्धी पाश्चात्य दृष्टिकोण- वर्तमान में हम साहित्य की जिन विधाओं की चर्चा करते हैं जैसे- कहानी, उपन्यास, डायरी, यात्रा-वृत्तांत आदि ये सभी पाश्चात्य साहित्य की ही देन है। 'आत्मकथा' भी उनमें से एक है। 'आत्मकथा' शब्द की बात करें तो पाश्चात्य साहित्य में 'आत्मकथा' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन् 1796 ई० में जर्मनी में हर्डर नामक विद्वान ने किया था। वहीं दूसरी तरफ ब्रिटेन में 'आत्मकथा' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग रॉबर्ट साउथे ने सन् 1809 ई० में किया था। उस समय तक आत्मकथा को एक तरह से जीवनी ही माना जाता था। इस क्रम में आत्मकथा को ठीक-ठीक समझने के लिए अनेक यूरोपीय विद्वानों ने अपने मत तथा विचार प्रस्तुत किये हैं।

यूरोपीय विद्वानों का मानना है कि आत्मकथा एक तरह से स्वयं को समझने की ओर उन्मुख होना होता है। "सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कवि ऑडेन ने आत्मकथा की बड़ी चुस्त और सटीक परिभाषा करते हुए कहा था कि वह अपने-आपको समझने की ओर उन्मुख, एक 'सच्चा और गम्भीर आत्म-परिक्षण' है।"[8] जिसमें एक तरह से लेखक अपने आपको अर्थात् स्वयं को शोधने का कार्य करता है।

'डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर' में जे०टी० शिप्ले का कथन है- "आत्मकथा मूलतः लेखक के जीवन का सातत्यपूर्ण विवरण होता है जिसमें मुख्य भार आत्मनिरीक्षण और अपने जीवन की सार्थकता को बाह्य परिवेश में प्रस्तुत किया जाता है।"[9]

स्टीफन ज्वींग ने- "आत्मकथा को जीवन-स्मृति और जीवन के सत्यों का वर्णन कहा है ।"[10]

एच. जी. वेल्स ने- "अपने ही जीवन की विवेचना और गुत्थियाँ सुलझाते हए स्वान्तः सुखाय रचना करने को आत्मकथा नाम दिया है।"[11] कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक अपनी खुशी के लिए आत्मकथा की रचना करता है। उसके लिए सामाजिक सरोकार कोई विशेष मायने नहीं रखता ।

---

[8] आत्मकथा की संस्कृति, पृष्ठ सं.-17

[9] हिन्दी आत्मकथा : स्वरूप-विवेचन और विकासक्रम, पृष्ठ सं.-15

[10] हिन्दी आत्मकथा : स्वरूप-विवेचन और विकासक्रम, पृष्ठ सं.-15

[11] हिन्दी आत्मकथा : स्वरूप-विवेचन और विकासक्रम, पृष्ठ स.- 15

इसी क्रम में डिल्थे कहते हैं कि- "आत्मकथा वह सर्वोच्च और गहनतम रचना-विधान है, जिसमें जिंदगी की समझ हमारे सामने प्रगट होती है।"[12]

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण में आत्मकथा का जो स्वरूप है उसमें कुछ विभिन्नताएं और कुछ समानताएं दोनों मौजूद हैं। वे आत्मकथा को सहज और गंभीर दोनों तरह से लेते हैं। वे जानते हैं कि आत्मकथा काफी प्रभावशाली होती है जो पाठक या आम आदमी को कई तरह से प्रभावित करती है। जिसके फलस्वरूप समाज भी कहीं-न-कहीं प्रभावित होता है। इसलिए वे मानते हैं कि आत्मकथा के लेखन में लेखक को आत्मनिरीक्षण की सख्त जरूरत होती है। लेखक अपने आपको प्रस्तुत करने के साथ-साथ स्वयं को समझते हुए अपनी व्याख्या भी करता रहता है।

3.1.2 आत्मकथा सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोण- वहीं जब हम आत्मकथा के सन्दर्भ में भारतीय विद्वानों का नजरिया अथवा दृष्टिकोण देखते हैं, तो वे एक से नहीं मिलते। उनमें कुछ-न-कुछ भिन्नता अवश्य दिखाई देती है।

'आत्मकथा' की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए प्रेमचंद कहते हैं- "साहित्य में कल्पना भी होती है और आत्मानुभव भी। जहाँ जितना आत्मानुभव अधिक होता है, वह साहित्य उतना ही चिरस्थायी होता है। आत्मकथा का आशय है कि केवल आत्मानुभव लिखे जावें, उसमें कल्पना का लेश भी न हो।"[13]

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'मेरी आत्मकथा' की भूमिका में 'आत्मकथा' के सन्दर्भ में लिखा है कि- "आत्मकथा जीवन का सत्यान्वेषण है, कल्पना के अवकाश की कोरी उड़ान नहीं है। आम आदमी का जीवन प्रेरणास्पद नहीं हो सकता; महान व्यक्तियों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व आम आदमी के लिए दिशा-बोध का काम करता है; उनके जीवन के आदर्शनिष्ठ मूल्यों को स्वीकार करता हुआ उस पथ पर अपने आपको ढालने का प्रयास करता है। 'आत्मकथा' सत्य एवं स्पष्टवादिता को लेकर चलती

[12] आत्मकथा की संस्कृति, पृष्ठ सं.-17
[13] आत्मकथा की संस्कृति, पृष्ठ सं.-21

है।"[14] कहने का अर्थ है कि यह पूर्णतः सच पर आधारित होती है लेकिन यह आम आदमी की कथा न होकर महान व्यक्ति की कथा होती है।

हिन्दी के विद्वान बाबू गुलाब राय ने 'आत्मकथा' के सन्दर्भ में लिखा है- "आत्मकथा लेखक जितना अपने बारे में जान सकता है, उतना लाख प्रयत्न करने पर भी कोई दूसरा नहीं जान सकता, किन्तु इसमें कहीं तो स्वाभाविक आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति बाधक होती है, और किसी के साथ शील-संकोच आत्मप्रकाश में रुकावट डाल देता है। यद्यपि सत्य के आदर्श से दोनों ही प्रवृत्तियाँ निन्द हैं, तथापि आत्मविस्तार कुछ अधिक अवांछनीय है।"[15]

इस सन्दर्भ में रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते हैं कि- "आत्मकथा लेखन में विनम्रता का गुण उतना अपेक्षित नहीं, जैसा सामान्यतः समझा जाता है, जितना निर्वैयक्तिकता का। इस निर्वैयक्तिकता वृत्ति के कारण आत्मकथा निश्चय ही एक आधुनिक और अपेक्षया कठिन कला है।"[16]

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत का मत है कि- "आत्मकथा लेखक के जीवन की दुर्बलताओं, सबलताओं आदि का वह संतुलित और व्यवस्थित चित्रण है, जो उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के निष्पक्ष उद्घाटन में समर्थ होता है।"[17]

इस प्रकार उपर्युक्त विद्वानों ने जहाँ आत्मकथा को साहित्य और समाज के लिए आवश्यक माना तो वहीं कुछ लोगों ने इसका विरोध भी किया। क्योंकि सन् 1932 ई० में प्रेमचंद के संपादकत्व में 'हंस' पत्रिका में जब आत्मकथात्मक अंक निकालने की बात चली थी, तो इसका मुखर विरोध नंददुलारे वाजपेयी ने किया था। उनका मानना था कि यह एक महत्वपूर्ण विधा है, जिसे हर कोई नहीं लिख सकता। इसका लेखन केवल प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति के द्वारा ही होना चाहिए। इसलिए वे आत्मकथा के विरोध में कहते हैं कि- ".... आत्मकथा लिखने के योग्य हिन्दी में कितने आदमी हैं? कितने ऐसे

[14] मेरी आत्मकथा, (भूमिका से), पृष्ठ सं.-ii
[15] काव्य के रूप, पृष्ठ सं.-232
[16] हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृष्ठ सं.-161
[17] शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, पृष्ठ सं.-508

महच्चरित हैं, जिनकी जीवनी हिन्दी-जनता की पथ-नियामक बन सकती है?"[18] दरअसल आत्मकथा एक तरह का ऐतिहासिक दस्तावेज होता है। जिसमें हम अपने जीवन के सुख-दुःख को तय करती आयी ठोस सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा शक्तियों और उनसे अपनी सत्ता के संबंधों की प्रकृति को उजागर करने का काम करते हैं। आत्मकथा सत्य कथन की मांग करती है। जीवन-व्यवहार में अपनी सोच और संवेदना को सही दिशा देने के लिए हमें जिस आत्मालोचन की सख्त जरूरत होती है, आत्मकथा उसी मुकाम पर ले जाकर हमें खड़ा करती है।

भारतीय सन्दर्भ में यह भी माना जाता है कि एक आधुनिक वैज्ञानिक इतिहास-चेतना के बगैर आत्मकथा नहीं लिखी जा सकती। क्योंकि आत्मकथा में कई बार आत्म के बहाने अपने समय और समाज की कहानी भी कही जाती है और उनके विकास-क्रम का चित्रण किया जाता है। हिन्दी साहित्य में इस बात का एक महत्वपूर्ण उदाहरण राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' को देखा जा सकता है। मैनेजर पाण्डेय मानते हैं कि-राहुल की जीवन-यात्रा की कथा भारत की विकास-यात्रा की कथा बन गई है।

अतः सीधे-सीधे अर्थों में कहा जाय तो आत्मकथा वह विधा है जिसमें लेखक अपने जीवन में भोगे हुए यथार्थ को अभिव्यक्ति देता है। चाहे वह सुख की हो या दुःख की। वह जो कुछ भी कहता है उसके मूल में अनेक ऐसी घटनाएं होती हैं जिनका वह अकेला प्रत्यक्षदर्शी होता है। जिन्हें अभिव्यक्त करने अथवा न करने का दायित्व भी उसी का होता है। किन्तु आवश्यक यह है कि वह असत्य को प्रतिपादित ना करे। लेखक स्रष्टा भी होता है और स्वयं सामग्री भी। आत्मकथा विधा के लिए यह जरुरी माना गया है कि उसमें ऐतिहासिक सत्य के समान प्रमाणिक वर्णन किया जाय। अभी तक 'आत्मकथा' साहित्य का कोई मान्यता प्राप्त समीक्षा-दर्शन विकसित नहीं हो पाया है। किन्तु आत्मकथाकार से यह अनिवार्य मांग की जाती है कि वह उपदेश, अतिबौद्धिकता, प्रचार, आत्मस्थापन, आत्मश्लाघा, परनिंदा

[18] आत्मकथा की संस्कृति, पृष्ठ सं.- 22

आदि से बचते हुए जिस सत्य को उसने अनुभव किया है उसे निर्लिप्त और निर्द्वन्द्व भाव से अभिव्यक्त कर दे, यही आत्मकथाकार की चरम उपलब्धि भी मानी गई है।

3.2 हिन्दी आत्मकथाओं का परिचयात्मक : विवेचन- हिन्दी आत्मकथाओं की परम्परा में सर्वप्रथम बनारसीदास जैन की आत्मकथा 'अर्द्धकथानक'(सन्1641 ई०) प्राप्त होती है। 'अर्द्धकथानक' इस अर्थ में की उन्होंने उस समय तक अपना आधा अर्थात् सम्पूर्ण जीवन का पचपन वर्ष ही जिया था, शेष पचपन वर्ष अभी बाकी था। क्योंकि भारतीय संस्कृति और शास्त्रों के अनुसार मनुष्य की सम्पूर्ण आयु 110 वर्ष की मानी जाती है। अतः बनारसीदास जी ने अपने आधा जीवन का ही जिक्र अपनी 'आत्मकथा' में किया है। इसके बाद हिन्दी आत्मकथा के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा गैप नजर आता है। दुबारा इसकी शुरुआत भारतेन्दु जी की आत्मकथा 'कुछ आप बीती कुछ जगबीती' से होती है। इसके बाद तो आत्मकथाओं का दौर ही शुरू हो जाता है। तब से अर्थात् हिन्दी आत्मकथा के आरम्भ से लेकर और अब तक कई आत्मकथाएं लिखी गई। इन आत्मकथाओं को दो भागों में बाँट कर देखा जा सकता है- (1) आजादी-पूर्व आत्मकथा-लेखन और (2) आजादी-पश्चात आत्मकथा-लेखन।

3.2.1 आजादी-पूर्व आत्मकथा-लेखन- आजादी से पूर्व लिखी गई आत्मकथाओं को निम्नलिखिरूप में देख सकते हैं –

बनारसीदास जैन	- अर्द्धकथानक (1641 ई.)
स्वामी दयानंद	- आत्मचरित (1860 ई.)
सीताराम सूबेदार	- सिपाही से सुबेदार तक (1861ई.)
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	- कुछ आपबीती कुछ जगबीती (1876 ई.)
अम्बिकादत्त व्यास	- निजवृत्तांत (1901 ई.)
सत्यानन्द अग्निहोत्री	- मुझमें देव जीवन का विकास (1910 ई.)

भाई परमानन्द	- आपबीती (1921 ई.)
स्वामी श्रद्धानंद	- कल्याण-मार्ग का पथिक (1924 ई.)
रामप्रसाद बिस्मिल	- आत्मचरित्र (1927 ई.)
महात्मा गांधी	- सत्य के प्रयोग (1927 ई.)
रामविलास शुक्ल	- मैं क्रांतिकारी कैसे बना (1933 ई.)
भवानीदयाल सन्यासी	- प्रवासी की आत्मकथा (1939 ई.)
बाबू श्यामसुंदर दास	- मेरी आत्मकहानी (1941 ई.)
गुलाबराय	- मेरी असफलताएं (1941 ई.)
राहुल सांकृत्यायन	- मेरी जीवन-यात्रा (1946 ई.)
हरिभाऊ उपाध्याय	- साधना के पथ पर (1946 ई.)
राजेन्द्र प्रसाद	- आत्मकथा (1947 ई.)

उपर्युक्त आत्मकथाओं पर प्रकाश डालें तो हम पाते हैं कि लेखकों ने स्वयं की कथा के साथ-साथ अपने समाज की अन्य समस्याओं का भी वर्णन किया है। 'अर्द्धकथानक' की बात करें तो यह पूरी तरह पद्यात्मक रूप में लिखी आत्मकथा है। जिसके अंतर्गत बड़े ही सहज और सरल ढंग से अपने जीवन की सच्चाईयों का चित्रण किया गया है। भाषा दोहा-चौपाई छन्द का आधार लिए हुए है। ऐसे में यह प्रतीत होता है कि साधारण या आम पाठक के लिए गद्यात्मक न होने के कारण दुरूह है। बनारसीदास ने जहाँ अपनी जीवन की तल्ख़ सच्चाईयों को उजागर किया है वहीं बहुत से अपने जीवन प्रसंगों को छुपा भी लिया है। अपनी सीमा का हवाला देकर चुप रहना ही उचित समझा है। जब आगरा में प्लेग की महामारी फैलने के समय एक अन्य गाँव में शरण लेना और उनसे वहाँ एक पाप होना और इस विषय में

चुप रहना। दूसरी तरफ आत्मकथा में व्यापार कर्म में असफलता का वर्णन तो खूब होना लेकिन सफलता तथा संपत्ति को अर्जित करने के तरीकों के बारे में खामोश रह जाना। कई तरह के आत्मकथा की अवधारणा पर प्रश्न चिन्ह खड़ा कर देता है। चुप रहने के सन्दर्भ में वे प्राचीन लोक साहित्य का सहारा लेते हैं। पंकज चतुर्वेदी इसके बारे में संकेत करते हैं कि- "प्राचीन लोक-साहित्य की आड़ में छिपकर वे एक उक्ति का हवाला देते हैं; जिसका तात्पर्य यह है कि अपने बारे में नौ चीजें किसी को नहीं बतानी चाहिए, जैसे धन-संपत्ति, स्त्री-संसर्ग, उम्र वगैरह।"[19] ऐसी कई सारी कमियाँ होने के बावजूद भी यह हिन्दी की प्रथम आत्मकथा होने के नाते महत्वपूर्ण है।

आत्मकथात्मक विकास में स्वामी दयानंद की आत्मकथा 'आत्मचरित' बहुत ही महत्वपूर्ण आत्मकथा है। यह कुल चौबीस पृष्ठों की गद्य में लिखित आत्मकथा है। कम पृष्ठों में होने से जाहिर है कि इसमें उनके जीवन की केवल प्रमुख घटनाओं की ही चर्चा है। इस आत्मकथा का लेखन अंग्रेज अधिकारी कर्नल अल्काट के आग्रह पर हुआ है। भाषा व्यावहारिक होने के कारण यह भारतीय लोकजीवन को एक सूत्र में जोड़ने का काम भी करती है। इसी क्रम में सन् 1861 ई. में सीताराम सूबेदार की आत्मकथा 'सिपाही से सूबेदार तक' भी है जिसका उल्लेख हिन्दी साहित्य में न के बराबर है।

जिस प्रकार भारतेंदु युग में अन्य गद्य विधाओं की शुरुआत हुई उसी तरह इसी युग में भारतेंदु ने अपनी आत्मकथा 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती'(सन् 1876 ई.) लिखकर इसकी धारा की शुरुआत कर दी। जो अब तक अनवरत चल रही है। अगर हम हिन्दी में आत्मकथा की परम्परा का विकास इसी आत्मकथा से माने तो गलत नहीं होगा। यह आत्मकथा केवल दो पृष्ठों की है। "दो पृष्ठों में लिखा गया अपूर्ण लेख भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की आत्मकथा के रूप में एक सशक्त प्रयास है।"[20] कुछ इसी तरह सन् 1901 ई. में अंबिकादत्त व्यास द्वारा लिखित 'निजवृत्तांत' नामक आत्मकथा भी है। जो कुल 58 पृष्ठों की है। जिसमें आत्मकथाकर अन्य लेखकों को सचेत करते हुए कहता है कि आत्मकथा कोई आसान काम नहीं है। बल्कि यह एक जिम्मेदारी का काम है। इसलिए इसकी जिम्मेदारी किसी एक व्यक्ति की न होकर

[19] आत्मकथा की संस्कृति, पृष्ठ सं.-50

[20] हिन्दी आत्मकथा : स्वरूप विवेचन और विकासक्रम, पृष्ठ सं.-62

प्रत्येक भारतवासी की है। सत्यानन्द अग्निहोत्री की आत्मकथा 'मुझमें देव जीवन का विकास'(सन् 1910 ई.) एक धार्मिक प्रधान आत्मकथा के रूप में देख सकते हैं।

'आपबीती' (1921 ई.) भाई परमानंद की आत्मकथा है। जो लेखक की कहानी से अधिक अपने सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों से जुड़ी हुई है। इसी दौरान स्वामी श्रद्धानंद की 'कल्याण मार्ग का पथिक' (1924 ई.) आत्मकथा आई। जिसका स्वरूप और शिल्प एकदम नया था। 1926 एवं 1927 ई. तक आते-आते श्रीधर पाठक ने भी अपनी आत्मकथा स्वजीवनी के रूप में लिखी थी। जिसका प्रकाशन 'माधुरी' पत्रिका के अंकों में छपा था। इन आत्मकथाओं के बीच एक बहुत ही महत्वपूर्ण आत्मकथा आई। जिसने अपने समय की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों की पोल खोलती है। वह है अमर शहीद क्रांतिकारी रामप्रसाद बिस्मिल की आत्मकथा 'आत्मचरित' (1927 ई.)। जिसे उन्होंने जेल में अपनी फाँसी से दो दिन पहले लिखी थी। जिसमें उन्होंने युवाओं को विशेष रूप से आजादी के लिए क्रांति करने से पहले कई तरह के सुझाव दिए हैं। क्योंकि जिस भारतीय जनता के लिए वे लड़ रहे थे वे ही लोग समय पर उनका साथ नहीं दिए । कई जगह तो उनके अपने साथी लोगों ने ही धोखा दिया।

'आत्मकथा' के महत्व को समझते हुए प्रेमचंद ने सन् 1932 ई. में 'हंस' पत्रिका में आत्मकथांक निकाला जिसमें कई महत्वपूर्ण साहित्यिक विद्वानों ने अपनी पूरी आत्मकथा तो नहीं लेकिन अपने वास्तविक जीवन से जुड़ें कुछ एक प्रसंगों या घटनाओं का यथार्थ वर्णन जरूर किया है। जिसके अंतर्गत जयशंकर प्रसाद, मुंशी प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्लजी, बाबू शिवपूजन सहाय, रायकृष्ण दास, भाई परमानन्द, धीरेन्द्र वर्मा, गोपालराम गहमरी, सन्तरामजी, गंगाप्रसाद उपाध्याय, केदारनाथजी पाठक, विश्वम्भरनाथजी शर्मा कौशिक, दयानारायण निगम, बाबू हरिदासजी वैद्य, रमाशंकरजी अवस्थी, पं० गंगाप्रसादजी दीक्षित 'मस्त', सुदर्शनजी, कृष्णानंदजी गुप्त आदि कई साहित्यकारों ने अपना इसमें योगदान दिया। इस अंक ने आत्मकथा लेखन में चिंगारी का काम किया।

भवानी दयाल सन्यासी की 'प्रवासी की आत्मकथा' (सन् 1939 ई.) भी एक महत्वपूर्ण आत्मकथा है। जिसमें भवानी जी ने अपने माता-पिता की गुलामी का वर्णन किया है। तो दूसरी ओर अफ्रीका में भारतीय स्वतंत्रता के संग्राम की पृष्ठभूमि की गाथा है। इसी कड़ी में प्रसिद्ध साहित्यकार श्यामसुन्दर की आत्मकथा 'मेरी आत्मकहानी' (सन् 1941 ई.) प्रकाशित हुई। जिसमें साहित्यिक दलबंदी के संकेत का चित्रण किया गया है। इन्होंने बेबाकी से कई प्रसंगों का वर्णन किया है जहाँ कोई छिपाव नहीं है। श्यामसुन्दर जी आत्मकथा के संबंध में कहते हैं- "जिस समय जैसी भावना मेरे मन में थी और जिन उद्देश्यों से प्रेरित होकर जो काम मैंने किया है तथा जिस प्रकार मेरे कार्यों में विघ्न-बाधायें उपस्थित हुई हैं, उनका मैंने यथातथ्य वर्णन किया है।"[21] इसी क्रम में गुलाबराय की आत्मकथा 'मेरी असफलताएँ' (1941 ई.) को भी देख सकते हैं। राजेंद्र प्रसाद ने भी अपनी आत्मकथा लिखी वह भी 'आत्मकथा' (1947 ई.) नाम से। भारतीय स्वतंत्रता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के कारण इनकी आत्मकथा में राष्ट्रीय और व्यक्तिनिष्ठ चेतना का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। सन् 1946 ई. में राहुल सांकृत्यायन ने अपनी आत्मकथा तीन भागों में लिखी है जिनमें- 'मेरी जीवन यात्रा' नाम से पहला भाग सन् 1946 ई.में, दूसरा भाग सन् 1950 ई. में और तीसरा भाग सन् 1967 ई. में प्रकाशित हुआ।

उपर्युक्त आत्मकथाओं के अतिरिक्त आजादी के पहले कुछ और भी आत्मकथाएँ लिखी गई। जैसे- कृष्णदत्त पालीवाल की 'मेरी आत्मकहानी' (1930 ई.), रघुवीर सिंह की 'जीवन के द्वार पर', श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की 'मेरी अपनी बात' (1939 ई.), प्रो० अक्षयवट मिश्र 'विप्रचंद' की 'आत्मचरित चम्पू' (1937 ई.), मूलचंद्र अग्रवाल की 'पत्रकार की आत्मकथा' (1944 ई.) आदि। ऐसे में देखा जाय तो आजादी पूर्व आत्मकथाओं का संसार ज्यादा बड़ा नहीं रहा है। इन आत्मकथाओं में तथ्यपरक और जानकारी देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। ये केवल लेखकों के जीवन वृत्तों को ही नहीं बताती, वरन् तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी बोध कराती हैं इन आत्मकथाओं में कहीं संस्मरणात्मक तो कहीं डायरी शैली का सहारा लिया गया है।

[21] हिन्दी आत्मकथा : स्वरूप विवेचन और विकासक्रम, पृष्ठ सं.-67

3.2.2 आजादी-पश्चात आत्मकथा-लेखन- आजादी पश्चात लिखी गयी आत्मकथाओं को निम्नलिखित रूप से देख सकते हैं-

वियोगी हरि	- मेरा जीवन प्रवाह (1948 ई.)
स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	- स्वतंत्रता की खोज में (1951 ई.)
यशपाल	- सिंहावलोकन (1951-52-55 ई.)
शांतिप्रिय द्विवेदी	- परिव्राजक की प्रजा (1952 ई.)
देवेन्द्र सत्यार्थी	- चाँद सूरज के बीरन (1953 ई.)
सेठ गोविन्ददास	- आत्मनिरीक्षण (1958 ई.)
सुमित्रानंदन पन्त	- साठ वर्ष : एक रेखांकन (1960 ई.)
पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'	- अपनी खबर (1960 ई.)
आचार्य चतुरसेन शास्त्री	- मेरी आत्मकहानी (1963 ई.)
भुवनेश्वर मिश्र माधव	- जीवन के चार अध्याय (1966 ई.)
हरिवंशराय बच्चन	- क्या भूलूँ क्या याद करूँ (1969 ई.) - नीड़ का निर्माण फिर (1970 ई.) - बसेरे से दूर (1978 ई.) - दशद्वार से सोपान तक (1985 ई.)
डॉ० देवराज उपाध्याय	- यौवन के द्वार पर (1970 ई.)

वृन्दावनलाल वर्मा	- अपनी कहानी (1970 ई.)
बलराज साहनी	- मेरी फ़िल्मी आत्मकथा (1974 ई.)
डॉ० रामविलास शर्मा	- घर की बात (1983 ई.)
शिवपूजन सहाय	- मेरा जीवन (1985 ई.)
अमृतलाल नागर	- टुकड़े-टुकड़े दास्तान (1986 ई.)
यशपाल जैन	- मेरी जीवन धारा (1987 ई.)
फणीश्वरनाथ रेणु	- आत्मपरिचय (1988 ई.)
डॉ० नगेन्द्र	- अर्धकथा (1988 ई.)
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	- तपती पगडंडियों पर पदयात्रा(1989 ई.)
रामदरश मिश्र	- सहचर है समय (1991 ई.)
कमलेश्वर	-जो मैंने जिया (प्रथम खण्ड- 1992 ई.)
	-यादों का चिराग(द्वितीय खण्ड-1997 ई.)
	-जलती हुई नदी (तृतीय खण्ड- 1999 ई.)
गोपाल प्रसाद व्यास	- कहो व्यास कैसी कटी (1994 ई.)
रवीन्द्र कालिया	- ग़ालिब छुटी शराब (2000 ई.)
भगवती चरण वर्मा	- कहि न जाय का कहिए (2001 ई.)
राजेन्द्र यादव	- मुड़-मुड़ कर देखता हूँ (2001 ई.)

भीष्म साहनी - आज के अतीत (2003 ई.)

वहीं कुछ आत्मकथाओं में संस्मरण तथा रेखाचित्र के तत्त्वों का भी समावेश दिखाई देता है। इन कृतियों में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'मेरी अपनी आत्मकथा'(1969), रामनाथ सुमन की 'छायावाद युगीन स्मृतियाँ'(1975), शिवपूजन सहाय की 'मेरा जीवन'(1985) और पुरुषोत्तमदास टंडन की 'राख की लपटें'(1984) उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार हिन्दी में आत्मकथा लेखन के शुरुआत के बाद अनेकों आत्मकथाएँ लिखी गई। विभिन्न क्षेत्रों से जुड़े हुए लोगों ने अपनी-अपनी आत्मकथाएँ लिखी। स्वतंत्रता से पूर्व तथा स्वतंत्रता के बाद भी अनेक देशभक्तों, स्वतंत्रता सेनानियों, समाज सुधारकों, साहित्यकारों तथा पत्रकारों आदि के द्वारा पर्याप्त मात्रा में आत्मकथा लेखन किया गया।

जहाँ एक तरफ पुरुषों ने आत्मकथाएँ लिखीं वहीं दूसरी ओर स्त्रियों ने भी बिना किसी डर एवं संकोच के अपनी आत्मकथाएं लिखीं तथा अपने प्रति होने वाले सामाजिक, पारिवारिक शोषण एवं अत्याचार का खुलकर चित्रण किया। महिलाओं ने एक तरह से इसे अपने हथियार के रूप में इस्तेमाल किया। जिसे निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है-

जानकीदेवी बजाज - मेरी जीवनयात्रा (1956 ई.)

प्रतिभा अग्रवाल - दस्तक जिंदगी की (प्रथम भाग- 1990 ई.)

मोड़ जिंदगी का (दूसरा भाग-1996 ई.)

कुसुम अंसल - जो कहा नहीं गया (1996 ई.)

कृष्णा अग्निहोत्री - लगता नहीं है दिल मेरा (1997 ई.)

पद्मा सचदेव - बूँद बावड़ी (1999 ई.)

शीला झुनझुनवाला - कुछ कही कुछ अनकही (2000 ई.)

मैत्रेयी पुष्पा - कस्तूरी कुंडल बसै (2002 ई.)

महिला आत्मकथाकारों में जानकीदेवी बजाज हिन्दी की पहली महिला लेखिका हैं। जिनकी आत्मकथा 'मेरी जीवनयात्रा' 1956 ई. में प्रकाशित हुई थी। जिसे स्वयं न लिखकर बल्कि बोलकर किसी अन्य से लिखवाया गया है। "यह आत्मकथा स्वयं उनके पति, महात्मा गाँधी एवं अन्य अनेक व्यक्तियों के हाथों सजी-संवरी है। लेखिका को भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान अनेक शीर्षस्थ नेताओं के संपर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ था। फलतः यह कृति भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के अनेक अछूते पहलुओं को संजोए हुए है।"[22] ऐसा लगता है कि लेखिका का आंतरिक पक्ष कम और बाह्य पक्ष का वर्णन ज्यादा हुआ है।

भारतेन्दु परिवार से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिभा अग्रवाल जी ने भी अपनी आत्मकथा दो भागों में क्रमशः 'दस्तक जिन्दगी की' (1990 ई.) और 'मोड़ जिन्दगी का' (1996 ई.) में अपने व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख के दोनों स्थितियों का चित्रण किया है। वहीं कुसुम अंसल जो एक कथा-लेखिका के रूप में जानी जाती हैं ने अपनी आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' (1996 ई.) लिखकर स्त्री पीड़ा, उसके दुःख-दर्द का चित्रण किया है। देश-विदेश के अनुभवों के अंतर्गत अपनी व्यक्तिगत पीड़ा का सूक्ष्म तरीके से वर्णन किया है। कुसुम अंसल कहती हैं कि - "कुछ अनुभव ऐसे होते हैं, जिन्हें बयान नहीं किया जाता, वह भीतर ही भीतर बुनते हैं- इन्हीं अनुभवों के आधार पर मैं अपने भीतर मनुष्य की संरचना, मानसिकता और फिर उसकी चेतना को जानने हेतु एक अनुसन्धान करने में जुट गई हूँ।"[23]

कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं दिल मेरा' (1997 ई.) विशेष चर्चित रही। इसमें उन्होंने अपने जीवन से सम्बंधित सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षों का बेबाक चित्रण किया है। इस आत्मकथा में पुरूषवादी समाज से कई सारे सवाल भी किये गए हैं- कि क्यों मनुष्य, दूसरे मनुष्य की पीड़ा नहीं समझता है? क्यों स्त्री के प्रति वह जानवर बन जाता है? क्यों उसके भीतर का पशु रह-रह

[22] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ सं.-817

[23] हिन्दी गद्य-साहित्य, पृष्ठ सं.-388

कर जीवित हो जाता है? आदि । डोगरी भाषा की प्रख्यात कवयित्री पद्मा सचदेव की आत्मकथा 'बूँद बावड़ी' (1999 ई.) उनके जीवन संघर्ष की अनूठी गाथा है। बचपन से लेकर जीवन पर्यन्त तक वे कई सारी कठिनाईयों का सामना करती हैं। एक अकेली स्त्री का सामाजिक जीवन कैसा होता है इसे देखा जा सकता है। लेखिका अपने समाज से पूछती है कि- "स्त्री को मुक्ति किससे चाहिए? अपने बच्चों से? उनके बाप से? या उस घर से जिसमें तिनका-तिनका जोड़कर उसने गृहस्थी सहेजी है। मैं यह मानती हूँ कि स्त्री को मुक्ति उन बुराइयों से चाहिए, जो आज ज्यादा बढ़ गई है।"[24]

शीला झुनझुनवाला की 'कुछ कही कुछ अनकही' (2000 ई.) संयुक्त आत्मकथा कही जा सकती है। क्योंकि शीला जी और उनके पति दोनों ने मिलकर अपनी कथा का वर्णन किया है। पत्रकार होने के नाते उनका सम्बन्ध साहित्यकारों के साथ-साथ राजनेताओं से भी था। इसलिए जहाँ एक तरफ साहित्यकारों की छवि प्रस्तुत होती है वहीं राजनेताओं का भी जिक्र इनकी आत्मकथा में देखने को मिलता है। मैत्रेयी पुष्पा हिन्दी साहित्य में एक जाना माना नाम है। इनकी आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै' 2002 ई. में प्रकाशित हुई। इसमें उनके विद्रोही स्वभाव की झलक दिखाई देती है जिसमें अपनी संघर्ष कथा के साथ अपनी माँ की भी संघर्ष गाथा की कहानी कहती हैं। जीवट महिला होने के नाते वे कई सारी पारम्परिक समाज की जड़ताओं को तोड़ती भी हैं। इस आत्मकथा ने हिन्दी आत्मकथा-लेखन को एक नई दिशा प्रदान की है।

3.3 हिन्दी दलित आत्मकथाओं की पृष्ठभूमि- इसी आत्मकथात्मक क्रम में दलित आत्मकथाओं का भी आगमन हुआ। चूँकि मराठी में दलित आत्मकथाएँ पहले आई। इसलिए यह मानना उचित है कि हिन्दी दलित आत्मकथाओं की शुरुआत मराठी दलित आत्मकथाओं के प्रभाव से ही हुई। मराठी दलित आत्मकथाओं का हिन्दी अनुवाद सन् 1984 ई. से होना प्रारम्भ हुआ। चाहे दया पवार की आत्मकथा 'बलूत' का हिन्दी अनुवाद 'अछूत' हो अथवा शरण कुमार लिंबाले की 'अक्करमाशी' का हिन्दी अनुवाद 'दोगला' या फिर लक्ष्मण गायकवाड़ की 'उचल्या' का हिन्दी

[24] हिन्दी गद्य साहित्य, पृष्ठ सं.-389

अनुवाद 'उठाईगीर' ही क्यों न हो। ये सभी हिन्दी दलित आत्मकथाओं के लिए प्रेरक साबित हुई। अतः कहा जा सकता है कि मराठी दलित आत्मकथाएँ हिन्दी दलित आत्मकथाओं की मार्गदर्शक रही हैं। दलित आत्मकथाओं ने हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। इसलिए आज यह माना जाता है कि दलित आत्मकथाओं के आने से ही हिन्दी गद्य की आत्मकथा नामक विधा अत्यधिक प्रचलित हुई।

हिन्दी दलित आत्मकथा की बात करें तो इसका इतिहास ज्यादा पुराना नहीं है। इसीलिए इन आत्मकथाओं की संख्या भी कम है। हिन्दी में सर्वप्रथम दलित आत्मकथा भगवानदास की आत्मकथा 'मैं भंगी हूँ' (सन् 1981) प्रकाशित हुई। पर साहित्य जगत में इसकी चर्चा आत्मकथा के रूप में न होकर एक समुदाय विशेष की सामाजिक प्रस्तुति के रूप में अधिक हुई। इसके बाद बींसवी सदी के अंतिम दशक में मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' का पहला भाग सन् 1995 ई. में तथा दूसरा भाग सन् 2000 ई. में प्रकाशित हुआ। इसी क्रम में ओमप्रकश वाल्मीकि की 'जूठन'(भाग-1 1997 ई. और भाग-2 2015 ई.), कौशल्या वैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप'(1999 ई.), सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' (सन् 2002 ई.), और 'सन्तप्त'(सन् 2006 ई.), माता प्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन' (सन् 2002 ई.), प्रो० श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' (सन् 2009 ई.), डॉ० धर्मवीर की 'मेरी पत्नी और भेड़िया' (सन् 2009 ई.), डॉ. सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' (2011 ई.), प्रो० तुलसीराम की 'मुर्दहिया'(सन् 2012 ई.) और 'मणिकर्णिका' (सन् 2014 ई.) आदि प्रमुख रूप से देखा जा सकता है। इन आत्मकथाओं के आगमन ने हिन्दी साहित्य में एक हलचल पैदा कर दी है। हलचल पैदा करने का कारण इन आत्मकथाओं में अभिव्यक्त मानवता को शर्मसार कर देने वाला जीवन यथार्थ है जो बेहद अमानवीय है। जिसे दलित लेखकों एवं उनके सम्पूर्ण समाज के लोगों ने भोगा है। इन पर टिप्पणी करते हुए श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने लिखा है कि- "दलित आत्मकथाओं में दलित छवि एक सचेतन आत्मसंघर्षरत स्वाभिमानी व्यक्ति की छवि के रूप में उभरकर सामने आई है। दलित आत्मकथाकार अतीत की भद्दी तस्वीरें देखते हैं। साथ-साथ उन हाथों को भी पकड़ते हैं जिन्होंने कई सौन्दर्य से भरी जीवन झांकियों पर ईर्ष्यावश कालिख पोत दी है। इतिहास-विहीन समाज में ये

आत्मकथाएँ सूचनाओं, तथ्यों और स्थितियों के ऐसे प्रमाण जुटाती हैं जिनके बगैर हिन्दी समाज का अध्ययन अधूरा है।"[25]

3.4 हिन्दी दलित आत्मकथाओं का संक्षिप्त परिचय- अब तक हिन्दी में लिखे दलित आत्मकथाओं का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। इसलिए उसका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं-

'अपने-अपने पिंजरे' दो भागों में (क्रमशः 1995 ई. तथा 2000 ई.) हिन्दी में लिखी प्रथम दलित आत्मकथा है। जिसके लेखक मोहनदास नैमिशराय हैं। इस आत्मकथा का क्षेत्र मेरठ शहर के आसपास का है। जहाँ दलित परिवारों की बस्तियाँ बसी हुई है। दलित परिवार से सम्बन्ध रखने के कारण मोहनदास अपने परिवार तथा अपने समाज के लोगों का यथार्थ रूप में चित्रण करते हैं। बचपन में ही माँ की मृत्यु हो जाने के बाद मोहनदास अपने ताऊ और ताई के साथ रहने लगते हैं। चूँकि इनके पिता सरकारी नौकरी में कार्यरत रहते हैं इसलिए इन्हें आर्थिक समस्या जैसी कोई परेशानी नहीं होती। लेकिन दलित जाति के होने के नाते वे और उनका परिवार हमेशा सवर्णों द्वारा अपमानित और दंशित होते रहता है। साथ ही समाज के अन्य दलित भी अर्थाभाव, जातिगत शोषण, बेगारी की समस्या से लगातार जूझते रहते हैं। हिन्दू सवर्ण हो या मुसलमान सभी दलितों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। मोहनदास अपनी आत्मकथा में कहते हैं कि गरीबी के कारण दलितों के घरों में खाद्य पदार्थ की हमेशा कमी बनी रहती थी। जिसके कारण उन्हें मृत जानवरों पर आश्रित रहना पड़ता रहता था। उनकी दलित बस्ती में कोई सवर्ण अध्यापक पढ़ाने के लिए नहीं आता था अगर आता भी तो जल्दी ही वहाँ से चला जाता था। सवर्ण अध्यापकों द्वारा दलित बच्चों को शिक्षा कम और गालियाँ तथा जातिगत अपमान ज्यादा मिलता था। समय के साथ मोहनदास के परिवार में कई तरह की परेशानियां आती हैं। उनके पिताजी को शराब की बुरी लत तथा नये मकान के लिए कर्ज लेना परिवार में कई तरह की समस्याओं को जन्म दे देती है और अंततः मोहनदास मेरठ छोड़कर बंबई चले जाते हैं। वहाँ कुछ दिन के रहने के बाद फिर वापस मेरठ चले

[25] वंचितों का वृत्तांत, लेख: डॉ० श्यौराज सिंह 'बेचैन', जनसत्ता दैनिक (दिल्ली), 25 नवम्बर-2001, पृष्ठ-4

आते हैं। यहाँ आकर अधूरी पढ़ाई को पूरी करते हैं। इसके बाद कई तरह की सरकारी नौकरियाँ भी करते हैं। लेकिन वे सब धीरे-धीरे छुट जाती हैं। घर की आर्थिक हालत इतनी ख़राब हो जाती है की पत्नी और बच्चों का देखभाल भी नहीं कर पाते। इसी बीच राजनीती और डॉ. अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित होकर दलित आन्दोलन में शामिल हो जाते हैं। घर की देखभाल न कर पाने से इनके अपने ही रिश्तेदार इनसे अलग हो जाते हैं। अंततः पैसों के आभाव में इलाज न हो पाने के कारण उनके पुत्र मनीष की मृत्यु हो जाती है। परिवार बिखर जाता है। इतना सब कुछ होने के बाद भी वे फिर उसी दलित आन्दोलन में वापस चले जाते हैं।

'जूठन' हिन्दी की दूसरी दलित आत्मकथा है। जिसके लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि हैं। इसके भी दो भाग हैं- पहला 1997 ई. और दूसरा 2015 ई.| दलित परिवार से सम्बन्ध रखने के कारण ओमप्रकाश अपने जीवन की घटनाओं के माध्यम से दलित जीवन की सामाजिक पीड़ा को रेखांकित करते हैं। बचपन से लेकर आजीवन जातिगत दंश का अपमान सदैव झेलते रहते हैं। अपनी आत्मकथा में कहते हैं कि गाँव में दलित परिवारों एवं बस्तियों की इतनी बुरी हालत रहती है कि वहाँ चारों तरफ गंदगी फैली रहती है और इसी गंदगी में ओमप्रकाश का बचपन बीतता है। पिताजी द्वारा स्कूल में प्रवेश दिलाने के बाद वहाँ भी अध्यापकों द्वारा जातिगत अपमान और गालियाँ सुननी पड़ती है। स्कूली शिक्षा खत्म करने के बाद आगे की ट्रेनिंग के लिए जबलपुर जाते हैं जहाँ उन्हें कई तरह के सामाजिक अनुभव प्राप्त होते हैं। फिर वहाँ से बंबई प्रस्थान करते हैं, जहाँ मिसेज कुलकर्णी द्वारा उन्हें जातिगत भेदभाव का अहसास होता है। उसके बाद महाराष्ट्र के आर्डिनेंस फैक्टरी, चंद्रपुर में ही नौकरी लग जाती है। जहाँ उनका परिचय साहित्य और कला से होता है। चंद्रपुर में रहते हुए देखते हैं कि शहरी हो या ग्रामीण दोनों जगहों पर दलितों की हालत अच्छी नहीं है। इसलिए उनके बीच जाकर कई तरह के सामाजिक कार्यक्रम भी करते हैं। और अंततः वहाँ से ट्रांसफर होकर देहरादून आ जाते हैं। वहाँ भी दलित जाति के होने के नाते उन्हें कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जैसे कि- दलित जाति के होने के कारण मकान न मिलने की समस्या, नौकरी में जातिभेद की समस्या आदि। इसी दौरान उन्हें कई तरह की

स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएं भी होती हैं। नौकरी से अवकाश लेने के बाद 'भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में एक फेलो के रूप में ज्वाइन हो जाते हैं। लेकिन वहाँ तबियत ज्यादा बिगड़ जाने के बाद इलाज के लिए दिल्ली चले आते हैं। और अंततः उनकी मृत्यु हो जाती है।

'दोहरा अभिशाप' (1999 ई.) एक दलित स्त्री की आत्मकथा है। जिसकी लेखिका कौसल्या बैसंत्री हैं। कौसल्या जी नागपुर में दलित बस्ती में अपने परिवार के साथ रहती हैं। एक दलित स्त्री होने के नाते जहाँ वह सवर्ण समाज में जातिगत भेदभाव की शिकार होती हैं। वहीं अपने परिवार में पति के द्वारा भी अपमानित और प्रताड़ित होती रहती हैं। कई तरह की समस्याओं को झेलते हुए आखिर में अपने पति से अलग हो जाती हैं।

'झोपड़ी से राजभवन' (2002 ई.) माता प्रसाद की आत्मकथा है। उत्तर प्रदेश के जौनपुर के मछली शहर में दलित परिवार में जन्में माता प्रसाद का बचपन का जीवन काफी संघर्षों में बीतता है। कई तरह के पारिवारिक और सामाजिक संघर्षों से गुजरते हुए राजनीती के माध्यम से राज्यपाल के पद पर सुशोभित होते हैं। और इस प्रकार गाँव के झोपड़ी से निकल कर राजभवन तक का सफ़र तय करते हैं।

'मेरा सफ़र, मेरी मंजिल' (2000 ई.) आत्मकथा के लेखक डॉ. डी.आर. जाटव हैं। दलित परिवार में पैदा हुए जाटव जी अपने मेहनत के बल पर एक सफल शिक्षक के रूप में अपनी पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हैं। तो वहीं 'नागफनी' (2007 ई.) में रूपनारायण सोनकर अपने गांवों में दलितों के प्रति सवर्ण समाज का नजरियाँ और व्यवहार का बेबाकी के साथ चित्रण करते हैं। और दलित समाज में ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह की चेतना का संचार करते हैं।

सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' (2002 ई.) और 'संतप्त' (2006 ई.) दो भागों में लिखित दलित आत्मकथा है| लेखक अपनी कथा के माध्यम से दलितों की सवर्ण समाज पारिवारिक और सामाजिक स्थिति का चित्रण करते हैं| दलित परिवार में पैदा हुए सूरजपाल चौहान की परिवारिक स्थिति ठीक नहीं रहती है| उनकी माँ गाँव के मौहल्लों में साफ-सफाई का काम करती हैं और पिताजी दिल्ली में

निजामुद्दीन रेलवे स्टेशन पर मजदूरी करते हैं| यही हालात उनके समाज के पूरे दलित समुदाय की रहती है| समाज में अन्धविश्वास और धार्मिक कर्मकांड का बोलबाला रहता है| बीमार पड़ने पर डॉक्टर के पास न जाकर पाखण्डी साधू और भगतों के पास जाकर इलाज करवाते हैं| माँ की मृत्यु के बाद पिता के साथ दिल्ली आकर अपनी स्कूली शिक्षा पूरी करते हैं| इस दौरान कई सारी घटनाएँ उनके जीवन में घटती हैं| ग्यारहवीं कक्षा में ही उनकी शादी हो जाती है| इस बीच नौकरी न लगने के कारण कई तरह की पारिवारिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है| अंततः नौकरी मिलने के बाद अपने बच्चों के साथ सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं| इसी दौरान साहित्यिक लेखन का भी काम करते हैं| इसी बीच उन्हें पता चलता है कि उनके दत्तक पुत्र जयसिंह से उनकी पत्नी विमला का नाजायज सम्बन्ध हैं| जिससे वे बहुत दुखी होते है| बावजूद इसके वे कई सारी समस्यों को झेलते हुए अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं|

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर'(2009 ई.) एक महत्त्वपूर्ण दलित आत्मकथा है। जिसके रचनाकार प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' हैं। भारतीय समाज के ग्रामीण दलित परिवार और समाज का यथार्थ चित्रण इस आत्मकथा में हुआ है| श्यौराज सिंह का जन्म एक गरीब दलित परिवार में होता है| बचपन में ही पिता की मृत्यु हो जाने से स्वयं के जीवन का भार उनके कंधों पर आ जाता है| घर में गरीबी के कारण और परिवार के लगभग सभी सदस्यों का विकलांग होना उनके जीवन को और भी कष्टमय बना देता है| अपने अथक परिश्रम और मेहनत से तथा प्रेमपाल सिंह यादव के सहयोग से अंत में मेट्रिक की परीक्षा पास कर लेते हैं| इस दौरान कई तरह के शारीरिक काम उन्हें करने पड़ते हैं, जहाँ उन्हें जातिगत भेदभाव, उत्पीड़न, छुआछूत का अपमान झेलना पड़ता है| और अंततः आज एक सफल व्यक्ति के रूप में अपना जीवन-यापन कर रहे हैं|

'शिकंजे का दर्द' (2011 ई.) एक दलित स्त्री की आत्मकथा है| जिसकी लेखिका डॉ. सुशीला टाकभौरे हैं| अपनी आत्मकथा के माध्यम से सवर्ण समाज के साथ-साथ स्वयं के दलित समाज में दलित स्त्रियों की बुरी हालात का चित्रण करती हैं| दलित स्त्रियाँ जो सवर्ण समाज में शोषण का शिकार

तो होती ही हैं अपने परिवार में भी पुरुषों द्वारा अपमानित और प्रताड़ित होती रहती हैं| सुशीला टाकभौरे की पारिवारिक और सामाजिक स्थिति कुछ ऐसी ही है|

'घुटन' (2007 ई.)आत्मकथा के लेखक डॉ. रमाशंकर आर्य हैं| जो बिहार के बक्सर जिले के एक छोटे से गाँव के निवासी हैं| दलित परिवार में में पैदा होने के कारण समाज में कई तरह के जातिगत शोषण का दंश झेलते रहते हैं| चाहे वह गाँव का सामाजिक परिवेश हो या स्कूली शिक्षा का माहौल| यही स्थिति पूरे दलित समाज की रहती है| अपने परिश्रम के द्वारा विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बनने के बाद भी दलित जाति का दंश झेलते रहते हैं| और इस शोषण के तंत्र में पूरा सवर्ण समाज शामिल रहता है|

नवेन्दु महर्षि की आत्मकथा 'इंसान से इश्वर तक'(2006 ई.), 'मेरे मन की बाइबिल'(2007 ई.) और 'रुकी हुई रोशनी' (2011 ई.) तीन भागों में प्रकाशित है| इन आत्मकथाओं में बंबई शहर में फ़िल्मी सफ़र से लेकर, एक शिक्षक के रूप में जातिगत प्रताड़ना का दंश और गाँव में बचपन के अनुभव तक की कहानी है|

'मेरी पत्नी और भेड़िया' (2009 ई.) डॉ. धर्मवीर द्वारा लिखित एक दलित आत्मकथा है| जिसमें सम्पूर्ण जीवन की कथा तो नहीं बल्कि एक विशेष समय लगभग 1990 ई. से लेकर 1995 ई. तक के अपने पारिवारिक जीवन की घटनाओं का चित्रण किया गया हैं| चूँकि डॉ. धर्मवीर एक आई. ए. एस. अधिकारी रहते हैं इसलिए घर में किसी भी प्रकार की आर्थिक समस्या नहीं रहती है| फिर भी उनकी पत्नी उन्हें छोड़कर अपने बच्चों के साथ धर्मवीर के छोटे भाई महिपाल के साथ रहने लगती है| और इस प्रकार पूरी आत्मकथा पति-पत्नी झगड़े और उनके बच्चों के बीच केन्द्रित होकर रह जाती है|

'मुर्दहिया'(2012 ई.) तथा 'मणिकर्णिका'(2014 ई.) हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण दलित आत्मकथा है| जिसके लेखक प्रो. तुलसीराम है| आजमगढ़ जिले के एक छोटे से गाँव में पैदा होने से लेकर बनारस के उच्च शिक्षण संस्थान बी.एच.यू. तक के सफ़र की कहानी इन आत्मकथाओं में देखने को मिलता है| दलित परिवार में जन्में तुलसीराम कई तरह की सामाजिक कठिनाइयों को झेलते हुए

अपनी मेहनत से उच्च शिक्षा ग्रहण करते हैं| इस सफ़र के दौरान उन्हें जीवन में कई तरह के उतार-चढ़ाव देखने को मिलते हैं| जातिगत भेदभाव गाँव से लेकर बनारस शहर तक उनका पीछा नहीं छोड़ता है| बावजूद इसके अपने संघर्षों से वे एक उच्च शिक्षण संस्थान के प्रोफेसर बनते हैं|

अतः हम देख सकते हैं कि इन सभी आत्मकथाओं का केन्द्र बिन्दू मूलतः सवर्ण समाज के द्वारा अपने और अपने समाज के प्रति किये गए शोषण का चित्रण करना रहा है| एक ऐसा समाज जिसका अब तक कोई इतिहास ही नहीं रहा है अथवा उसे कभी समाज का हिस्सा ही नहीं समझा गया|

अंततः हम कह सकते हैं कि आत्मकथा एक तरह का ऐतिहासिक दस्तावेज होता है। जिसमें हम अपने जीवन के सुख-दुःख को तय करती आई ठोस सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा शक्तियों और उनसे अपनी सत्ता के संबंधों की प्रकृति को उजागर करने का काम करते हैं। अपनी आस्था और अध्यवसाय को हम अपने संवेदना और विवेक की कसौटी पर परखते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मकथा का फलक बहुत बड़ा होता है। यह जितना सरल और सहज दिखाई देता है उतना है नहीं। आत्मकथा सत्य-कथन की मांग करती है। जीवन- व्यवहार में अपनी सोच एवं संवेदना को सही दिशा देने के लिए हमें जिस आत्मालोचन की सख्त जरूरत होती है, आत्मकथा उसी मुकाम पर ले जाकर हमें खड़ा करती है। अतः हम कह सकते हैं कि आत्मकथा हिन्दी गद्य की एक ऐसी आधुनिक विधा है जो निरंतर प्रगति के पथ पर अग्रसर है, जहाँ लेखक अपने निजी जीवन से जुड़े अनुभवों, विचारों तथा अनुभूति को देशकाल और युगीन परिवेश के समानांतर यथार्थ और प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त करता है।

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त परिवार एवं समाज

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त परिवार एवं समाज

भारतीय साहित्य का लेखन किसी-न-किसी रूप में प्राचीन काल से ही होता आ रहा है। जिसे हम वेद, पुराण,स्मृति ग्रंथों के रूप में देख सकते हैं। जिसमें हिन्दू परिवार और समाज की मर्यादा एवं नियम का सम्पूर्ण रुपरेखा का परिचय दिखाई देता है। इन ग्रंथों में एक स्वस्थ एवं आदर्श समाज के निर्माण के लिए कई सारे नियमों तथा सिद्धांतों की स्थापना की गई है और साथ ही सामाजिक प्रगति के नियम भी बताए गए हैं। जिसमें असाधारण से लेकर साधारण मनुष्य की समानता एवं सुख की बात कही गई है। इसी बात का बखान और गुणगान उसके परवर्ती साहित्य अब तक लगातार करते आ रहे हैं जिसमें यथार्थ और कल्पना के माध्यम से समाज में चारों तरफ व्याप्त सुख-समृद्धि का चित्रण किया गया है।

लेकिन जब भी इस समाज की वास्तविक स्थिति की जाँच-पड़ताल की जाती है तो एक ऐसे समाज का रूप दिखाई पड़ता जो साहित्य में कहीं भी उपस्थित ही नहीं रहा। उस सामाजिक तबके का कहीं भी नामों निशान तक नहीं रहा। समानता और सुख की सारी दलीलें खत्म हो गई और सुख-समृद्धि की कल्पना मात्र कल्पना ही रह गई। यह वह तबका था जिसे भारतीय समाज में 'अछूत' के रूप में जाना जाता रहा है और जिसे आज हम 'दलित' कहकर संबोधित करते हैं।

भारत में दलितों पर ब्राह्मणवादी शोषण एवं अत्याचार की परम्परा हजारों वर्षों से चली आ रही है। समय के साथ इस देश पर कई आक्रमण हुए कई अलग-अलग धर्मों को मानने वाले राजाओं ने इस पर राज किया। लेकिन दलितों की दशा में कोई व्यापक परिवर्तन नहीं हुआ। अंग्रेजों के आगमन के बाद जब देश औद्योगीकरण और बाजारवाद में तब्दील होने लगा तो कई तरह के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिवर्तन हुए। लोकतंत्र के फलस्वरूप आरक्षण के अधिकार के द्वारा दलितों का भी शिक्षाकरण हुआ। जिन्हें अब तक शिक्षा से दूर रखा जा रहा था उन्हें शिक्षा में शामिल करने के लिए बाध्य होना पड़ा। फलस्वरूप उनमें सामाजिक अधिकारों के प्रति चेतना का विकास हुआ। दलितों ने यह

देखा कि साहित्य में जिस सम्पूर्ण समाज की बात की जाती रही दरअसल वह पूरी बेईमानी है। क्योंकि उस सम्पूर्ण समाज की अभिव्यक्ति में उनकी उपस्थिति कहीं भी नहीं है। अतः ऐसे में दलितों ने अपनी हाथों में लेखनी उठाकर स्वयं अपने समाज का प्रतिनिधित्व करने लगे। जिसे हम दलित साहित्य के नाम से जानते हैं। दलित साहित्य के अंतर्गत दलित आत्मकथा सबसे सशक्त विधा के रूप में उभरी जिसमें भारतीय समाज तथा संस्कृति का यथार्थ रूप दिखाई देता है। भारतीय समाज में दलितों की पारिवारिक और सामाजिक स्थिति कैसी रही? उसके क्या-क्या कारण रहे? उनका जीवन-संघर्ष, रहन-सहन, वेष-भूषा, खान-पान की स्थिति कैसी रही? आदि की यथार्थ अभिव्यक्ति इन दलित आत्मकथाओं में हुई है।

हिन्दी की दलित आत्मकथाएं एक-दूसरे से प्रेरणा हासिल करते हुए अब तक कई आत्मकथाएँ लिखी जा चुकी हैं। इन आत्मकथाओं में दलितों की पारिवारिक और सामाजिक स्थिति का खुले रूप में चित्रण किया गया है। चूँकि इन आत्मकथाओं के लेखक कुछ ही दलित समुदाय का प्रतिनिधित्व करते है, जैसे - भंगी, चमार, खटिक, दुसाध आदि। लेकिन भारत में अनेक दलित जातियां हैं और उन लोगों के व्यवसाय और रहन-सहन में अन्तर भी है। फिर भी वर्णाश्रमी एवं जातिवादी-व्यवस्था का कहर सभी दलित जातियों पर लगभग एक समान ही रहता है। इसलिए ये आत्मकथाएं एक तरह से सम्पूर्ण दलित जातियों का प्रतिनिधित्व करती हुई दिखाई देती हैं। इन आत्मकथाओं की समय सीमा लगभग आजादी से कुछ पहले और बाद से लेकर अब तक की है। इन आत्मकथाओं में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि विभिन्न परिस्थितियों का गहराई एवं सूक्ष्मता के साथ वर्णन किया गया है। एक दलित व्यक्ति जो समाज में अस्पृश्य के रूप में जाना जाता है को कितना अपमान,जिल्लत, शोषण और उत्पीड़न का जीवन इस विषमतावादी समाज में जीना पड़ता है। मानवीय प्रवृत्ति के विपरीत माने जाने वाले कार्यों को न चाहते हुए भी उसे वह सब करने के लिए कैसे बाध्य किया जाता है। ऐसे में उन्हें कई तरह की समस्याओं से लगातार जूझना पड़ता रहता है। हर तरह से उन्हें हीनता की दृष्टि से देखा जाता है। ब्राह्मणवादी समाज उन्हें मुख्यधारा से काटकर सदा हाशिये पर रखता है। इसीलिए आज दलित अपनी अस्मिता को प्राप्त करने की हर संभव कोशिश कर रहा है। दरअसल सम्पूर्ण दलित साहित्य ही

अस्मिता की तलाश है, चाहे वह सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक ही क्यों न हो।

हिन्दी दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त परिवार और समाज का स्वरूप हिन्दू धर्म ग्रंथ 'मनुस्मृति' में वर्णित समाज के अनुरूप ही है। जिसे वर्ण और जातिगत आधार पर चार श्रेणियों में बांटा गया है- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। सामाजिक क्रम में सबसे नीचे माने जाने वाली जातियों (अछूतों) का वर्णन इन दलित आत्मकथाओं में किया गया है। आत्मकथाकारों ने कथा के साथ-साथ अपने परिवार और समाज के साथ सवर्ण समाज के लोगों का भी चित्रण अपनी आत्मकथाओं में किया है। एक ऐसा समाज जहाँ एक व्यक्ति की सामाजिक श्रेष्ठता इतनी ऊँची है कि वह गलत करे तब भी सही और दूसरा व्यक्ति जो निम्न श्रेणी का है अगर सही करे तो भी वह शोषण का शिकार होता ही रहता है, वो भी इसलिए क्योंकि वह 'अछूत' है। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध दलित चिंतक प्रो० विमल थोरात का कहना हैं कि- "भारतीय समाज के बहुत बड़े हिस्से को समाज ने हमेशा दुत्कारा, अपमानित किया और मनुष्य होकर भी उसके साथ पशु से भी बदतर व्यवहार किया है। यह अहसास वेदनामय है और यह वेदना एक व्यक्ति की नहीं, पूरे दलित वर्ग की है।"[1] क्योंकि ब्राह्मणवादी व्यवस्था के पोषकों ने धार्मिक संसार का ऐसा चक्रव्यूह रचा जिसमें दलित आजीवन पिसने के लिए मजबूर हो गया। जिसका सिलसिला अब तक चला आ रहा है।

4.1 पारिवारिक-स्थिति- किसी भी व्यक्ति के चरित्र निर्माण में उसके परिवार की बहुत बड़ी भूमिका होती है। बचपन में वह सबसे पहले बोली-व्यवहार, आचार-विचार आदि चीजें अपने परिवार में माता-पिता तथा उसमें रहने वाले सदस्यों से ही सीखता है। एक स्वस्थ्य पारिवारिक परिवेश बच्चों के विकास में सही दिशा प्रदान करता है। इसलिए कहा जाता है कि "परिवार कुशल व्यक्तित्व और उन्नतशील सामाजिक जीवन का आधार स्तम्भ है। परिवार में ही वह परिवेश मिलता है जिसमें एक

[1] दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृष्ठ सं.-49

व्यक्ति का शारीरिक, सांस्कृतिक, भावनात्मक विकास संभव है।"[2] अतः जैसा परिवार होगा व्यक्तित्त्व की संरचना लगभग वैसी ही होगी। दलित आत्मकथाओं में दलित परिवार के कई स्वरूप दिखाई देते हैं। जिनमें एक तो ग्रामीण स्तर पर अर्थात् गाँवों में रहने वाले दलित हैं। जो अनपढ़, अशिक्षित, कम पढ़े-लिखे लोग हैं। दूसरे शहरों की बस्तियों में रहने वाले दलित जो कई तरह की पारिवारिक और सामाजिक कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए शिक्षित होकर एक सम्मानित जीवन जी रहे हैं। गाँवों में रहने वाले दलितों का जीवन ज्यादा कष्टमय है अपेक्षा शहरी दलितों के। वर्ण-व्यवस्था,जातिवाद, सामाजिक भेदभाव, छुआछूत आदि दोनों जगहों पर मौजूद हैं। यह भेदभाव केवल हिन्दू समाज में ही नहीं मुस्लिम समाज में भी है। मुस्लिम परिवारों के लोग भी हिन्दू सवर्णों की तरह दलितों के साथ छुआछूत का बर्ताव करते हैं। लेकिन वहीं कुछ मुसलमान दलित परिवारों के साथ मिल-जुलकर भी रहते हैं। ऐसे में परिवारों के कई रूप देखने को मिलते हैं।

4.1.1 ग्रामीण-परिवार- दलित आत्मकथाओं में अधिकतर परिवारों का परिवेश जो है वह ग्रामीण ही है। ऐसे तो सभी आत्मकथाओं में ग्रामीण जीवन का चित्रण हुआ है लेकिन मुख्य रूप से 'जूठन', 'झोपड़ी से राजभवन', 'शिकंजे का दर्द', 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', 'मुर्दहिया', 'नागफनी', 'घुटन', 'मेरे मन की बाइबिल' में देखा जा सकता है। दलित और सवर्ण दोनों परिवारों का चित्रण इन में देखा जा सकता है। अधिकतर दलित परिवारों की स्थिति संयुक्त परिवार की हैं। ये परिवार सामाजिक, आर्थिक रूप से अत्यंत पिछड़े हुए हैं। पारिवारिक स्थिति ऐसी है कि दो वक्त की रोटी का जुगाड़ भी कर पाना इनके लिए अत्यंत मुश्किल है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी पारिवारिक स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि- "उसी बगड़ में हमारा परिवार रहता था। पाँच भाई, एक बहन, दो चाचा, एक ताऊ का परिवार। चाचा और ताऊ अलग रहते थे। घर में सभी कोई न कोई काम करते थे। फिर भी दो जून की रोटी ठीक ढंग से नहीं चल पाती थी।"[3] चूँकि परिवार में सभी लोग काम करने वाले थे फिर भी खाने की समस्या हरदम बनी रहती थी। खाने के लिए मुर्दा जानवरों और सवर्णों के जूठन पर निर्भर रहना पड़ता

[2] परिवार में सौहार्द्र, पृष्ठ सं. सं.-3

[3] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-12

था। अतः ऐसे परिवार में पैदा होने वाले बच्चों की स्थिति क्या होगी? उसके व्यक्तित्त्व का विकास कैसा होगा? दूसरी तरफ ग्रामीण परिवेश की दशा भी बहुत खराब है जहाँ दलित परिवार के लोग रहते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि का परिवार और उनके साथ अन्य दलित परिवार जहाँ रहता है उस परिवेश का चित्रण करते हुए कहते हैं कि- "चारों तरफ गंदगी भरी होती थी। ऐसी दुर्गंध की मिनट भर में साँस घुट जाए। तंग गलियों में घूमते सूअर, नंग-धड़ंग बच्चे, कुत्ते, रोजमर्रा के झगड़े, बस यह था वह वातावरण जिसमें बचपन बीता। इस माहौल में यदि वर्ण-व्यवस्था को आदर्श-व्यवस्था कहने वालों को दो-चार दिन रहना पड़ जाए तो उनकी राय बदल जाएगी।"[4] इसी क्रम में प्रो. तुलसीराम भी अपने पारिवारिक स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं कि- "अपने पांच भाइयों में मेरे पिता सबसे छोटे थे। सभी का एक संयुक्त परिवार था, जिसमें छोटे-बड़े लगभग पचास व्यक्ति एक साथ रहते थे। पिता के बीच वाले भाई जो वरीयता क्रम में तीसरे नम्बर पर थे, अत्यंत क्रोधी एवं क्रूर पुरुष थे।"[5] अर्थात् इतने बड़े परिवार की हालत क्या होगी? वह भी तब जब सभी लोगों की आर्थिक दशा ख़राब हो।

दलित परिवारों की स्थिति ग्रामीण क्षेत्र में अच्छी नहीं थी। क्योंकि दलित गाँव के किसी न किसी सवर्ण जमींदार के यहाँ काम या उनकी हरवाही करने के लिए मजबूर रहते हैं। उस पर भी उन्हें पूरी मजूरी नहीं मिलती है। प्रो. तुलसीराम कहते हैं कि- "मेरे दादा-परदादा गाँव के ब्राह्मण जमींदारों के खेतों पर बंधुआ मजदूर थे। उन जमींदारों ने ही कुछ खेत उन्हें दे दिया था। गाँव के अन्य दलित भी उन्हीं जमींदारों के यहाँ हरवाही (हल चलाने का काम) करते थे। यह हरवाही पुश्त-दर-पुश्त चली आ रही थी।"[6] चूँकि आज ग्रामीण स्तरीय जीवन में दलित परिवारों की स्थिति में सुधार हुआ है। लेकिन अति पिछड़े इलाकों में ऐसे दृश्य आज भी देखने को मिल जाते हैं।

जहाँ एक तरफ ग्रामीण जीवन में संयुक्त परिवारों का स्वरूप दिखाई देता हैं वहीं कई परिवार आगे चलकर एकल परिवार के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। दलित परिवारों में पुरुष की प्रधानता होने के

[4] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-11
[5] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.- 13
[6] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-14

बावजूद स्त्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। वे भी पुरुषों के साथ बाहर खेतों में काम करती है। डॉ. सुशीला टाकभौरे कहती हैं कि "नाना और नानी मिलकर गाँव का काम सँभालते थे। गाँव से मिली जूठन, रोटी, अनाज और उतरन के कपड़ों से उनका जीवन चलता था। नानी दुःख और कष्ट उठाते हुए पहले निजी रूप में गाँव का काम करती थी। बाद में नगर परिषद की सफाई कर्मचारी के रूप में नौकरी करने लगी।"[7] लेकिन बहुत से दलित परिवारों में स्त्रियाँ बाहर काम न करके केवल घर का ही काम सँभालती थी। श्यौराज सिंह 'बेचैन' भी अपनी पारिवारिक जीवन की चर्चा करते हुए कहते हैं कि पिता की मृत्यु होते ही "जैसे हमारे घर का एकमात्र कमाऊ व्यक्ति चला गया था, उसी तरह जमीन की उर्वरता भी जा चुकी थी। बाकी पुरुषों में बड़े बब्बा भागीरथ, छोटे बब्बा गंगी और ताऊ बाबुराम तीनों नेत्रहीन थे ही। चौथे सदस्य बचे विधाराम बब्बा के चाचा के पिता सो 'फ़िराक' (वह बैलगाड़ी केवल दो-तीन सवारियों के लिए होती थी।) की दुर्घटना में उनकी एक टाँग टूट चुकी थी। कुल मिला कर, घर असहायों और अपाहिजों से भरा था।"[8] और उस पर घर की आर्थिक-स्थिति का अत्यंत खराब होना इत्यादि।

इन परिवारों में कई तरह के रिति-रिवाज, प्रथाएं और परम्पराएं भी मौजूद हैं । अशिक्षा के कारण ग्रामीण परिवारों में अंधविश्वास और कुरीतियाँ भी देखने को मिलती है। लोगों के बीमार पड़ने पर डॉक्टर के पास न जाकर ओझाओं के झाड़-फूंक द्वारा इलाज करवाते हैं। दलित परिवार के लोग अपने द्वारा निर्धारित पारम्परिक पेशा को ही ज्यादा अपनाते हैं, चाहे उससे उनका परिवार का भरण-पोषण हो या न हो। चूँकि आज ऐसी परिस्थिति नहीं है। लेकिन आत्मकथाओं में ऐसी स्थितियां देखी जा सकती हैं।

4.1.2 शहरी-परिवार- आत्मकथाओं में शहरी परिवेश और उनमें रहने वाले परिवारों का भी चित्रण हुआ है। इनमें प्रमुख रूप से 'अपने-अपने पिंजरे', 'जूठन', 'दोहरा अभिशाप', 'संतप्त', 'मेरा सफ़र मेरी मंजिल', 'झोपड़ी से राजभवन', 'शिकंजे का दर्द', 'मणिकर्णिका', 'मेरी पत्नी और भेड़िया' और 'घुटन' को देखा जा सकता है। ग्रामीण परिवारों की अपेक्षा शहरी परिवारों का स्वरूप मुख्यतः

[7] शिकंजे का दर्द, पृष्ठ सं.-13

[8] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृष्ठ सं.-21

एकल परिवार का होता है। मोहनदास नैमिशराय शहरों में दलितों की सामाजिक और पारिवारिक स्थिति का वर्णन करते हुए मेरठ शहर के बारे में बताते हैं कि- "हमारी बस्तियां नंगी और सपाट होतीं, गंधहीन, पर अब-सी दुर्गंध परिवेश में फैली होती। घर-घर में चमड़ा भरा होता, आँगन में चमड़े के गीले टुकड़े सूखने के लिए पड़े होते। ऐसी बस्तियों के आसपास हवा चलती तो महसूस होता, यहीं कहीं चमारवाड़ा है।"[9] ऐसी परिस्थितियों से ही पता चल जाता है कि दलित परिवारों के हालात कैसे होंगे? मोहनदास यह भी बताते हैं कि बम्बई जैसे बड़े शहरों में दलित परिवारों के लोग झुग्गी और झोपड़ियों में रहते हैं। जहाँ चारों तरफ गंध और गंदगियाँ फैली रहती थी। लेकिन जो एक बात सबसे अच्छी थी वह यह कि- "बंबई में भूख थी, गरीबी थी और बेरोजगारी थी, लेकिन आदमी-आदमी के बीच जातियों की दीवारें न थीं। मुझसे कभी किसी ने मेरी जात न पूछी थी। मेरे शहर का नाम अवश्य पूछा था। पर मेरा धर्म न पूछा था। लोगों को जैसे यह सब पूछने की जरूरत ही न थी। पहली बार मुझे अच्छा लगा था।"[10] आज भी बड़े शहरों में लोगों के बीच जातिभेद और छुआछूत तो लगभग नहीं हैं, लेकिन परिवार में वैवाहिक संबंधों को लेकर पूरी तरह जातिगत संस्कार देखे जा सकते हैं। लोगों में व्यवहार भले ही न हो लेकिन कुछ लोगों में मानसिक रूप से अब भी जातिगत भावनाएं मौजूद हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि का जो परिवार गाँव में संयुक्त परिवार के रूप में था देहरादून शहर में आकर एकल परिवार के रूप में बदल गया था। वे कहते हैं कि- "इन्द्रेश नगर में मामा का परिवार था, मेरा बड़ा भाई जसबीर उनके ही साथ रह रहा था। जनेसर जो जसबीर से छोटा था, अपने परिवार के साथ इन्द्रेश नगर में ही अलग रहता था। दोनों परिवारों के पास इतनी जगह नहीं थी की हम वहाँ रह सकें।"[11] शहरी-समाज में इस तरह की बातें आम होती हैं। जनसंख्या इतनी अधिक होती है और जगह इतनी कम कि अगर आर्थिक स्थिति अच्छी न हो तो लोगों का एक साथ रह पाना बहुत मुश्किल होता है।

[9] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-12
[10] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-136
[11] जूठन (भाग-2), पृष्ठ सं.-23

'दोहरा अभिशाप' में कौसल्या बैसंत्री के माता-पिता और उनकी बहनें नागपुर शहर में रहते थे। दलित परिवार से होने के नाते घर की आर्थिक स्थिति ख़राब तो होती थी लेकिन बावजूद इसके उनके पिता सभी लड़कियों को स्कूली शिक्षा देते। दूसरी तरफ परिवार में अपने और अपने पति देवेन्द्र कुमार के बीच ख़राब संबंधों की चर्चा करती हुई कहती हैं कि- "देवेन्द्र कुमार को पत्नी सिर्फ खाना बनाने और उसकी शारीरिक भूख मिटाने के लिए चाहिए थी। उसने मेरी इच्छा, भावना, खुशी की कभी कद्र नहीं की। बात-बात पर गाली देना, वह भी गंदी-गंदी और हाथ उठाना। मारता भी था बहुत क्रूर तरीके से।"[12] इसी तरह के मतभेद सूरजपाल चौहान और उनकी पत्नी विमला के बीच में भी रहता है। डॉ. धर्मवीर की पत्नी भी उनसे अलग रहती है। और इस प्रकार के संबंधों में बच्चों की स्थितियां दोयम दर्ज़े की हो जाती है। डॉ. सुशीला टाकभौरे का परिवार भी नागपुर शहर में रहता है। पढ़े-लिखे होने के बावजूद भी पति का व्यवहार उनके प्रति अच्छा नहीं रहता है। और दोनों लोगों के बीच कई बार झगड़े भी होते हैं। डॉ. सुशीला टाकभौरे कहती है कि- "मेरे साथ घर में मारपीट- गाली-गलौज सब कुछ हुआ। बाल पकड़कर खींचना, लातों से मारना, गर्दन पर मुक्के बनाकर मारना, पीठ पर घूँसे मारना- मैनें सब कुछ सहा। बेंत के निशान कई दिनों तक मेरे शरीर पर रहते थे।"[13]

वहीं शहरी समाज में कुछ ऐसे भी दलित परिवार थे जिनकी पारिवारिक स्थिति काफी अच्छी थी। पति-पत्नी और बच्चों के सम्बन्ध भी काफी मधुर थे। इसके उदाहरण के रूप में डॉ. डी. आर. जाटव के परिवार को देखा जा सकता है। जयपुर में रहते हुए उनके बीच कभी भी कोई मतभेद नहीं हुआ और उनके बच्चे भी अच्छी तरह से शिक्षा ग्रहण करके अपना पारिवारिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अपने वैवाहिक सम्बन्ध के बारे में डी.आर. जाटव कहते हैं कि- "मेरा विवाह ग्यारह वर्ष की आयु में शकुन्तला से हुआ था जो न तो निरक्षर थी, न ही भलीभांति शिक्षित, वह थी सामान्यतः एक साक्षर लड़की। वह मेरी एक अच्छी साथी-संगी बनी रही, एक सच्ची सहजीवन यात्री।"[14] कुछ इसी प्रकार की स्थिति माता

[12] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-104
[13] शिकंजे का दर्द, पृष्ठ सं.-196
[14] मेरा सफ़र, मेरी मंजिल, पृष्ठ सं.-216

प्रसाद के परिवार की भी है। जौनपुर के मछली शहर के कस्बे में उनका पूरा परिवार रहता था। माता प्रसाद अपने श्रम और मेहनत से एक साधारण दलित परिवार से उठकर राज्यपाल की कुर्सी तक पहुचते हैं तो इसमें उनकी पत्नी का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। इस संदर्भ में पत्नी के बारे में कहते हैं कि- "पत्नी के त्याग और तपस्या से ही मैं आज ऐसा बना हूँ। श्रीमती ने मेरे लिए जो त्याग किया, कष्ट उठाया है, वह अविस्मरणीय है।"[15] लेकिन दूसरी तरफ घर के कामों को लेकर उनके भाई की पत्नी और स्वयं की पत्नी के बीच झगड़े भी होते रहते थे।

अतः हम देख सकते हैं कि शहरों में दलित परिवार के अच्छे और बुरे दोनों रूप दिखाई देते हैं। जो एक तरह से स्वाभाविक भी है। पारिवारिक-संबंधों की बात करें तो कुछ परिवारों में पति-पत्नी के रिश्ते काफी अच्छे हैं, जैसे – ओमप्रकाश वाल्मीकि, डॉ. डी. आर. जाटव, माता प्रसाद, श्यौराज सिंह 'बेचैन', डॉ. रमाशंकर आर्य आदि । इन लोगों के परिवार में रहने वाले बच्चों और सदस्यों के सम्बन्ध भी अच्छे हैं। तो कुछ लोगों के पारिवारिक रिश्तों में दरार भी है, जैसे- डॉ. धर्मवीर, सूरजपाल चौहान, डॉ. सुशीला टाकभौरे, कौसल्या बैसंत्री, मोहनदास नैमिशराय आदि।

4.1.3 परिवार में स्त्रियों की स्थिति- पितृसत्तात्मक परिवार में स्त्रियों की दशा हमेशा दोयम दर्ज़े की रही है। उन्हें सदा ही उपेक्षा और हीन दृष्टि से देखा जाता रहा है। समाज हो या परिवार दोनों जगहों पर उन्हें समानता का दर्जा नहीं दिया गया। स्त्रियों की दशा, चाहे सवर्ण परिवार में हो या दलित दोनों जगहों पर दोयम दर्ज़े की ही रही है। दलित आत्मकथाओं के अंतर्गत दलित स्त्रियों ने भी अपनी पारिवारिक स्थिति की अभिव्यक्ति आत्मकथा के माध्यम से की है। इनके अलावा अन्य दूसरी आत्मकथाओं में भी स्त्रियों की पारिवारिक स्थिति का चित्रण हुआ है।

भारतीय परिवार में स्त्री होना जैसे एक अभिशाप माना जाता है। परिवार और समाज में उन्हें पुरुषों की अपेक्षा कम महत्त्व दिया जाता है। क्योंकि ऐसी मान्यता है कि स्त्री तो परायी धरोहर होती है उसके ऊपर पढ़ाई-लिखाई का खर्च और शादी-विवाह के लिए दहेज़ का खर्च क्यों किया जाये। इसलिए

[15] झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ सं.-43

उसका परिवार में पैदा होना ही घर की आर्थिक जिम्मेदारियों को व्यर्थ में बढ़ा देना समझा जाता है। डॉ. सुशीला टाकभौरे कहती है कि "स्त्री होना ही जैसे व्यथा की बात है। चाहे हमारा देश हो या विश्व के अन्य देश, हर जगह शोषण, उत्पीड़न का शिकार स्त्री ही रही है। जिस देश में वर्णभेद, जातिभेद की कलुषित परम्पराएं हैं वहाँ दलित स्त्री-शोषण की व्यथा और भी गहरी हो जाती है। "[16]

परिवार में स्त्रियों के साथ भेदभाव का व्यवहार लैंगिक आधार पर ही किया जाता है। पुरुष समाज की ऐसी धारणा है कि स्त्रियाँ शारीरिक और मानसिक रूप से पुरुषों की अपेक्षा कमजोर होती है। वे केवल घरेलू कामकाज और बच्चों को सँभालने के लिए ही उपयुक्त हैं। घर के बाहर के काम करना उनके बस की बात नहीं। लेकिन दलित स्त्रियों के संदर्भ में यह बात बहुत जगहों पर गलत नजर आती है। क्योंकि दलित आत्मकथाओं में स्त्रियाँ बाहर खेतों में शारीरिक श्रम करती हुई, मजदूरी करती हुई, अपने परिवार का भरण-पोषण करती हुई नजर आती हैं। सूरजपाल चौहान बताते हैं कि उनकी माँ मौहल्लों की साफ-सफाई का कार्य किया करती थी। जिसके बदले सवर्णों के घरों से एक-एक रोटी ही मिलती थी। परिवार की दयनीय स्थिति के कारण दलित स्त्रियों का काम पर जाना मजबूरी था। इसी तरह 'दोहरा अभिशाप' में कौसल्या बैसंत्री की माँ हो या फिर श्यौराज सिंह बेचैन की माँ अथवा डॉ. सुशीला टाकभौरे की माँ हो, इन्हें उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि-दलित स्त्रियाँ घर-परिवार के साथ बाहर के काम भी करती हैं जिसके लिए उनके ऊपर कोई पारिवारिक बंदिश नहीं रहती थी।

कुछ दलित परिवारों में स्त्रियों की दशा का स्वछन्द रूप भी दिखाई देता है। जहाँ बिना किसी लैंगिक भेदभाव के उन्हें भी शिक्षा के लिए स्कूल भेजा जाता है। डॉ. सुशीला टाकभौरे कहती हैं कि- "जुलाई 1960 में पिता ने प्रायमरी स्कूल 'गंज प्राथमिक शाला बानापुरा' की पहली कक्षा में मेरा नाम लिखवाया- 'कुमारी सुशीला रामप्रसाद घांवरी'। .... स्कूल में एडमिशन के बाद, मैं छोटी थैली में स्लेट

[16] शिकंजे का दर्द, पृष्ठ सं.-7

पट्टी और लिखने की कलम लेकर स्कूल जाने लगी थी।"[17] लेकिन ऐसा बहुत कम घरों में ही था। क्योंकि समाज में लड़कियों की अपेक्षा लड़कों को अधिक सम्मान और महत्त्व दिया जाता था। तो वहीं उनपर कई तरह की बंदिशें भी दिखाई देती हैं। जैसे कि स्त्रियों के लिए शिक्षा ग्रहण को महत्त्वहीन समझना। उन्हें शिक्षा से इसलिए वंचित किया जाता है कि वे पढ़-लिख कर क्या करेंगी, आखिर उन्हें जब दूसरों के घर ही जाना है और घर के काम काज ही करना है। डॉ. सुशीला टाकभौरे दलित परिवारों में लड़कियों की स्थिति के बारे में कहती हैं कि- "घर-परिवार में लड़कियों के लिए अनेक बंदिशें थीं। जवाब नहीं देना, ज्यादा नहीं बोलना, धीरे बोलना हर समय सिखाया जाता था। हम बहनें, बड़े भाईयों से अधिक बातें नहीं करती थीं, केवल काम की बातें ही होती।"[18] ऐसे में देखा जा सकता है कि परिवार में जहाँ एक तरफ स्त्रियाँ मुक्त एवं स्वछंद हैं वहीं दूसरी तरफ कई सारी बंदिशें भी उनके ऊपर लगीं हैं।

दलितों के परिवार में 'विधवा-विवाह' का भी प्रचलन है। सवर्ण स्त्रियों की तरह उन पर पाबंदियाँ वह बंदिशें या सती-प्रथा जैसी परम्पराएं उनके बीच नहीं है। आत्मकथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि- "हमारी विरादरी में विधवा-विवाह को प्रारंभ से ही मान्यता थी। हिन्दू-परम्पराओं की तरह विधवा-विवाह हीन दृष्टि से नहीं देखा जाता था।"[19] विधवा-विवाह के संदर्भ में ही प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' कहते हैं कि परिवार में "पुनर्विवाह करना, विधवा-विवाह करना या स्त्री-पुरुष को परस्पर सहमति से छोड़ना-जोड़ना हमारे यहाँ सामान्य प्रक्रिया थी। ब्राह्मणों जैसी जटिलता हमारे यहाँ आज भी नहीं है, जिसमें विधवा स्त्री जिंदगी-भर दूसरों पर बोझ बनी बैठी रहती है।"[20] इसलिए बड़ी आसानी से श्यौराज सिंह के पिता की मृत्यु के बाद उनकी माँ का पुनर्विवाह भिकारीलाल नामक व्यक्ति से हो जाता है।

इन आत्मकथाओं में केवल दलित स्त्रियों की ही नहीं सवर्ण स्त्रियों की भी पारिवारिक दशा का चित्रण किया गया है। इस संदर्भ में रूपनारायण सोनकर बताते हैं कि केवल दलित ही नहीं सवर्ण स्त्रियाँ

[17] शिकंजे का दर्द, पृष्ठ सं.-18
[18] शिकंजे का दर्द, पृष्ठ सं.-62
[19] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-22
[20] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृष्ठ सं.-37

भी अपने घरों में शोषित और पददलित होती रहती हैं। 'नागफनी' में कहते हैं कि- "हकीकत यह थी कि ब्राह्मण अपनी औरतों और लड़कियों को घर में बंद करके रखते थे। कभी भी अपने रिश्तेदारों की शादियों में नहीं जाने देते थे। मैंने कभी भी गाँव के मेलों में उनके घर की स्त्रियों और लड़कियों को जाते नहीं देखा। बहुत कम उनके परिवारों की स्त्रियाँ बाहर निकलती थीं। वास्तव में ब्राह्मणों के घर उनके लिए कैद या यातनागृह बन जाते थे।"[21] जबकि दलित परिवार की स्त्रियों के संदर्भ में ऐसी बातें नहीं थी।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि परिवार में स्त्रियों के कई रूप दिखाई देते हैं। वह किसी परिवार में सुखमय जीवन व्यतीत करती है। किसी में आजीवन सांसारिक संघर्षों से जूझती हुई नजर आती हैं। कहीं परिवार से विद्रोह कर अपना रास्ता खुद तय करती हैं। तो कहीं समाज के निकृष्ट मान्यताओं और परम्पराओं को मानते हुए अपने जीवन को पूर्ण रूप से परिवार के प्रति समर्पण कर देती हैं।

4.1.4 परिवार में बालकों की स्थिति- बच्चों के व्यक्तित्त्व के विकास में उसके परिवार की बहुत बड़ी भूमिका होती है। परिवार के ही अन्दर अच्छे और बुरे संस्कार का प्रभाव पड़ता है। उसके मनोवैज्ञानिक विकास का स्वरूप बहुत कुछ परिवार पर ही निर्भर करता है। इसलिए जैसा परिवार होगा वैसा ही बच्चे का व्यक्तित्त्व का निर्माण होगा। एक अनपढ़ परिवार और एक शैक्षिक परिवार में पलने वाले बच्चे का व्यवहार, बोली, रहन-सहन, वेश-भूषा में काफी अन्तर होता है। परिवार की आर्थिक और धार्मिक स्थितियों का प्रभाव भी बच्चों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। डॉ. अभिषेक शर्मा कहते हैं कि- "प्रायः बालक के अन्दर गुणों और दुर्गुणों के संस्कार परिवार के वातावरण में ही पड़ते हैं। सच बोलना, चोरी न करना, उदार रहना आदि जीवन में अपनाने वाली बातों और झूठ बोलना, आलस्य, स्वार्थ वृत्ति आदि दुर्गुणों के पीछे परिवार की ही पृष्ठभूमि होती है।"[22] इसलिए बच्चों के व्यक्तित्त्व के विकास में परिवार की अहम भूमिका होती है।

---

[21] नागफनी, पृष्ठ सं.-66

[22] भारत में समाज, पृष्ठ सं.-205

आत्मकथाओं में वर्णित परिवार के अंतर्गत दलित बच्चों की परिस्थितियों पर नजर डालें तो कई तरह की चीजें देखने को मिलती हैं। सर्वप्रथम सामाजिक रूप से पिछड़े और शोषित होने के कारण दलित परिवारों की स्थिति अत्यंत दयनीय है। ऐसे में घर के बच्चे शिक्षा ग्रहण करने के समय गरीबी के कारण, पारिवारिक बोझ के कारण, खाने की समस्या के कारण कम उम्र में ही मजदूरी करने को विवश हो जाते हैं। क्योंकि किसी भी मनुष्य के लिए पेट की समस्या सबसे पहले होती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि उनके परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। लेकिन परिवार के सदस्यों का अपने बच्चों के प्रति सोच सकारात्मक थी। ओमप्रकाश के पिता शिक्षा के महत्त्व को समझते हुए ओमप्रकाश का दाखिला बड़ी कठिनाइयों से स्कूल में करवाते हैं। चूँकि उनकी पारिवारिक स्थिति बहुत ख़राब रहती है। यहाँ तक की उनके परिवार को जूठन तक पर आश्रित होना पड़ता है। सवर्ण घरों के बच्चों का भी पारिवारिक संस्कार का चित्रण करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि- "त्यागियों के बच्चे 'चूहड़े का' कहकर चिढ़ाते थे। कभी-कभी बिना कारण पिटाई भी कर देते थे।"[23] क्योंकि उनके परिवारों में यह संस्कार दिया जाता था कि अछूत माने जाने वाले लड़कों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता। उनसे किसी भी –प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखा जाता, उन्हें छुआ भी नहीं जाता आदि। इस प्रकार की शिक्षा केवल गाँवों तक ही सीमित नहीं थी, शहरों में भी मौजूद थी। बंबई के कुलकर्णी परिवार जो एक सवर्ण परिवार था का चित्रण करते हुए ओमप्रकाश कहते हैं कि मिसेज कुलकर्णी अपनी पुत्री सविता के अन्दर भी छुआछूत जैसी अमानवीय परंपरा को गहरे तक बैठा दी थी। सविता और ओमप्रकाश के संवादों से इसे देखा जा सकता है। ओमप्रकाश सविता से कहते हैं कि- "यह भेदभाव तुम्हें सही लगता है?.....उसका कहना था, एस. सी. अनकल्चर्ड (असभ्य) होते हैं। गंदें रहते हैं। मैंने उससे पूछा, 'तुम ऐसे कितने लोगों को करीब से जानती हो? इस विषय में तुम्हारे व्यक्तिगत अनुभव क्या हैं?' वह चुप हो गई थी। उसका परिचय ऐसे किसी व्यक्ति से नहीं हुआ था। फिर भी पारिवारिक पूर्वाग्रह उस पर हावी थे।

[23] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-13

उसका कहना था, आई (माँ), बाबा (पिता) ने बताया। यानी बच्चों को यह सब घरों में सिखाया जाता है कि एस. सी. से घृणा करो।"[24]

'अपने-अपने पिंजरे' की बात करें तो मोहनदास नैमिशराय के परिवार की स्थिति अन्य दलितों के मुकाबले काफी अच्छी थी। पिता सरकारी नौकरी में थे। खाने-पीने की समस्या नहीं थी। संयुक्त परिवार होने के कारण माँ की मृत्यु के बाद वे अपने पिता के साथ न रहकर अपने ताऊ और ताई के साथ रहते हैं। जहाँ उन्हें किसी भी प्रकार की समस्या नहीं होती है। वे कहते हैं कि- "ताई ने मुझे गोद ले लिया था। जन्म के कुछ माह बाद माँ की मृत्यु मेरे लिए दुखद घटना थी, पर ताई माँ का गोद लेना सुखद भी। मेरे पिता बने मेरे ताऊ, घर में उन्हें 'बा' कहकर पुकारते थे।"[25] जबकि उनके ताऊ की आर्थिक स्थिति उतनी अच्छी नहीं थी, फिर भी दोनों लोगों का प्यार और स्नेह भरपूर मिलता था। जहाँ उन्हें किसी प्रकार की कमी महसूस नहीं होती थी।

अक्सर यह माना जाता है कि सौतेली माँ का व्यवहार बच्चों के साथ अच्छा नहीं होता। वह दूसरे बच्चों पर कई तरह के प्रतिबन्ध लगाती है आदि। लेकिन इस मामले में मोहनदास का परिवार विपरीत नजर आता है। मोहनदास नैमिशराय कहते हैं कि- "मेरी दोनों बहने हवेली में ही नई माँ के साथ रहती थीं। भाई भी। वे सब पढ़ते थे। चचेरी बहन के साथ दोनों बहनें एक साथ पढ़ने जाती थीं।"[26] इसका मुख्य कारण यह था कि सौतेली माँ का व्यवहार अच्छा था और पिता भी पढ़े-लिखे होने के कारण शिक्षा के महत्त्व को समझते थे। दूसरी बात घर की आर्थिक स्थिति भी अच्छी थी। लेकिन ऐसे परिवार दलित समाज में बहुत ही कम थे, जिनके बच्चे स्कूल जाते थे। जिन परिवारों के बच्चे स्कूल नहीं जाते उसके पीछे परिवार में शिक्षा का अभाव होना, दूसरा धार्मिक कुरीतियों, रीति-रिवाजों और परम्पराओं से घिरा होना भी था। बस्ती के अन्य दलित परिवारों में बच्चों की परिस्थितियों का चित्रण करते हुए मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं कि- "शेष सभी लड़कियाँ चूल्हे-चौके में लगी रहती थीं। दूसरे कम उम्र में

[24] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-118
[25] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-13
[26] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-37

लड़कियों की शादी हो जाती थी। ब्याह से पहले लड़कियों का घर से बाहर निकलना अच्छा न माना जाता था। यही नहीं उनके प्रति कड़ाई भी बरती जाती थी।"[27] आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसी स्थितियाँ देखने को मिल जाती है। 'भूमंडलीकरण' के कारण उन परिवारों में थोड़ा विकास तो हुआ है। लेकिन अति पिछड़े इलाकों में इस प्रकार की समस्या अब भी मौजूद है। परिवार में लैंगिक भेदभाव बच्चों में अब भी किया जाता है और यह स्थितियां दलित और सवर्ण दोनों परिवारों में देखने को मिलती हैं।

4.1.5 परिवार में शिक्षा की स्थिति- आज के संदर्भ में बात की जाय तो दलित परिवारों में शैक्षणिक स्तर में काफी सुधार हुआ है। लेकिन आज से 20-30 साल पहले की बात की जाय ऐसी स्थिति नहीं थी और उसके पहले तो हालात और भी बुरे थे। दलित आत्मकथाओं में परिवार के अंतर्गत शिक्षा के स्तर को देखें तो बहुत कम लोग थे जिन्होंने पढ़ाई-लिखाई की थी। इन आत्मकथाओं के लेखकों की बात की जाय तो वे सभी लोग पढ़े-लिखे हैं। उनके भाई-बहन ने भी शिक्षा ग्रहण किया है। लेकिन अगर उनके सम्पूर्ण परिवार की बात अर्थात् माता-पिता, चाचा-चाची एवं रिश्तेदारों की बात की जाय तो उनमें अधिकतर लोग अनपढ़ और अशिक्षित थें। सामाजिक भेदभाव और शोषण के कारण वे पढ़ ही नहीं सके या उन्हें पढ़ने ही नहीं दिया गया। केवल मोहनदास नैमिशराय के पिता पढ़े-लिखे थे और सरकारी नौकरी में कार्यरत थे, नवेन्दु महर्षि के पिता भी कुछ दर्ज़े पढ़े-लिखे थे और रमाशंकर आर्य के पिता को भी अक्षर ज्ञान था। ऐसा ही हाल लगभग सभी दलित परिवारों का था। लेकिन आगे चलकर धीरे-धीरे लेखकों के परिवार में सभी शिक्षित हुए।

दलित परिवारों में शिक्षा न होने के बावजूद उनके माता-पिता ने अपने बच्चों को पढ़ाया-लिखाया जिससे की एक बेहतर जिंदगी जी सके। जैसे - ओमप्रकाश वाल्मीकि के पिता अपने बच्चे को इसलिए पढ़ाना चाहते हैं कि पढ़-लिखकर एक अच्छा इंसान बन सके। उसी तरह प्रो. तुलसीराम के पिता कहते हैं कि कम से कम वह चिट्ठी लिखना-पढ़ना सीख जाए। कौसल्या बैसंत्री के माता-पिता परिवार में लड़कियाँ होने के बावजूद बिना किसी लैंगिक भेदभाव के सबको पढ़ाते हैं, ठीक इसी तरह डॉ. सुशीला

[27] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-37

टाकभौरे भी दलित परिवार में लड़की होने के बावजूद शिक्षा प्राप्त करती है। जिनमें उनके माता-पिता का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है।

शिक्षा के संदर्भ में दलित आत्मकथाओं में परिवारों के बीच कई तरह की बातें देखने को मिलती हैं। आजादी के बाद कहीं दलित परिवार जागरूक होकर अपने बच्चों को शिक्षा प्रदान करवाते हैं। तो कहीं अब भी अपने बच्चों को जान-बूझकर शिक्षा से दूर रख रहा है। माता प्रसाद अन्य दलित परिवारों के संदर्भ में कहते हैं कि उनके अन्दर "दूसरी बुराई अपने बच्चों को न पढ़ाना था। लड़कों से बकरी या पशु चरवाना, तपनी के लिए लकड़ी बिनवाना, तम्बाकू चढ़वाना और घरेलू काम लेना पसंद था। यद्यपि उस समय प्राइमरी स्कूलों में फीस माफ़ थी। कुछ को वजीफा भी मिलता था किंतु पढ़ाने में कोई रूचि नहीं रखते थे। कभी तो ताना भी सुनना पड़ता था कि पढ़-लिखकर तुम ही 'मुंशी दरोगा' बनो।"[28] दरअसल आजादी के बाद भी पूर्वगामी सोच इस कदर हावी थी कि बहुत से दलित परिवारों में शिक्षा के प्रति चेतना ही नहीं आई थी। चूँकि आज का दलित परिवार बहुत हद तक बदला है और शिक्षा के प्रति जागरूक हो चुका है।

4.1.6 दलित समाज में वैवाहिक-स्थिति- मनुष्य के जीवन में विवाह संस्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विवाह के बिना परिवार की कल्पना असंभव है। विवाह के द्वारा ही परिवार का विस्तार और वंश की परम्परा आगे बढ़ती है। प्रत्येक समाज में वैवाहिक विधियाँ, रीति-रिवाज, परम्पराएँ अलग-अलग भले हो लेकिन विवाह संबंधों की अनिवार्यता जरुर होती है। आत्मकथाओं में परिवार की वैवाहिक स्थितियों की बात करें तो अलग-अलग समाजों में उसके भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखाई देते हैं।

4.1.6.1 बाल-विवाह- दलित परिवारों में बाल-विवाह का प्रचलन प्राचीन काल से चला आ रहा है। कम उम्र में अपने लड़के-लड़कियों का विवाह कर देना उनके लिए आम बात होती है। इस तरह के कई उदाहरण दलित आत्मकथाओं में देखे जा सकते हैं। यहाँ तक की विवाह के लिए बच्चे राजी न भी हो, तो भी सामाजिक मर्यादा के लिए उनकी शादी कर दी जाती थी। डॉ. डी. आर. जाटव

[28] झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ सं.-35

बाल-विवाह का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि- "उन दिनों जब कोई लड़का या लड़की आठ-नौ साल में प्रविष्ट करता, गाँव के बुजुर्ग उनकी शादी-विवाह की बातें प्रारंभ कर देते थे, यह सोचे-समझे बिना कि उनमें से कोई स्कूल जायेगा या नहीं। .....बाल-विवाह सामाजिक प्रतिष्ठा का सूचक माना जाता था। जितना शीघ्र बच्चे-बच्ची का विवाह हो जाए, यह शुभ होता था। वस्तुतः उन दिनों बाल-विवाह का सर्वत्र प्रचलन था। उनको अच्छा और शुभ माना जाता था। रजस्वला के पूर्व किसी लड़की का विवाह, नैतिक एवं धार्मिक दृष्टि से बहुत पवित्र तथा श्रेष्ठ समझा जाता था।"[29] इसी बाल-विवाह के चलते सूरजपाल चौहान का भी बचपन में ही विवाह हो जाता है। इस प्रथा की बुराई का ज़िक्र करते हुए वे कहते हैं कि- "हमारे दलित समाज के लोगों में वैसे तो कई कुरीतियाँ हैं, लेकिन जो सबसे भयंकर और गंभीर बुराई है कि इस समाज में बच्चों का शादी-ब्याह गुड्डा-गुड़िया का खेल समझकर बचपन में ही कर दिया जाता है जिसके कारण वे जीवन-संग्राम में पिछड़ जाते हैं।"[30]

4.1.6.2 विधवा-विवाह - विधवा-विवाह का प्रचलन दलित परिवारों में सामान्य बात है। सवर्णों की तरह उनमें बंदिशें नहीं है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के परिवार में उनके भाई सुखबीर की मृत्यु हो जाने के बाद उनकी विधवा भाभी की शादी छोटे भाई जसबीर के साथ हो जाती है। इसी तरह श्यौराज सिंह के पिता की मृत्यु के बाद उनकी माँ की भी शादी भिकारीलाल नामक व्यक्ति से हो जाती है।

4.1.6.3 वैवाहिक संबंध विच्छेद- कहीं-कहीं दलित परिवारों में स्त्री-पुरुष के बीच वैवाहिक सम्बन्ध विच्छेद भी दिखाई देते हैं। आपसी मनमुटाव और झगड़े के कारण दोनों एक ही परिवार में रहते हुए भी अलग-अलग हो जाते हैं। जिससे उसका गलत प्रभाव बच्चों पर भी पड़ता है। सूरजपाल चौहान अपने वैवाहिक संबंधों की बात अपनी आत्मकथा में करते हुए दिखाई देते हैं। वे बताते हैं कि किस तरह उनके दत्तक पुत्र जयसिंह और पत्नी विमला के बीच नाजायज रिश्ते कायम हो जाते हैं और धीरे-धीरे पति-पत्नी के बीच रिश्तों में दरार आने लगती हैं। इस बात की सच्चाई सूरजपाल को तब

[29] मेरा सफ़र, मेरी मंजिल, पृष्ठ सं.-6

[30] तिरस्कृत, पृष्ठ सं.-45

लगती है जब जयप्रकाश उन्हें बदनामी का डर दिखाकर ब्लेकमेल करता है। नाजायज संबंधों के बारे में कहते हैं कि एक दिन "मुझे के. पी. सिंह की माँ ने बुलाया और पार्क में एक ओर एकांत में ले जाकर बोली- 'सूरजपाल बेटा, विमला तुम्हारे साथ छल कर रही है, कल रात बारात से आने के बाद सभी औरतें नाच-गाने में लगी रहीं और यह इस लड़के को लेकर रात भर नीचे वाले कमरे में सोती रही।"[31] इसी सम्बन्ध के चलते जयप्रकाश और उसकी अपनी पत्नी पूनम के वैवाहिक संबंधों में भी दरार आ चुकी थी। इसी तरह की समस्या का ज़िक्र डॉ. धर्मवीर भी अपनी आत्मकथा में करते हैं उनकी भी पत्नी 'रमेश' सम्बन्ध विच्छेद करके उनके भाई महिपाल के साथ रहने लगती है। एक घटना का ज़िक्र करते हुए डॉ. धर्मवीर कहते हैं कि- "मैंने इन तीनों बच्चों के सामने कहा-'रमेश महिपाल के रहती है और सन् 1986 में मैंने महिपाल को दिल्ली में अपने घर से इसीलिए भगाया था'।"[32] लेकिन इस वैवाहिक रिश्तों में आए बिखराव के कारणों पर न तो सूरजपाल चौहान और न ही डॉ. धर्मवीर ही प्रकाश डालते हैं। इस बिखराव का सबसे बुरा प्रभाव उनके बच्चों पर पड़ता हैं। और समस्या यह हो जाती है कि अब वे किसके साथ रहें? अतः हम देख सकते हैं कि परिवार में वैवाहिक संबंधों में कई तरह के चित्र दिखलाई पड़ते हैं।

4.1.7 दलित समाज में गोत्रीय-प्रणाली और रिश्तेदारी- हिन्दू परिवार में गोत्रीय प्रणाली का वैवाहिक संबंधों में विशेष स्थान है। ऐसा माना जाता है विवाह सम्बन्ध में वर और वधू पक्ष के लोग अगर एक गोत्र के हुए तो उनमें वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हो पायेगा। क्योंकि गोत्र के हिसाब से दोनों भाई-बहन का रिश्ता हो जाता है। इसलिए वैवाहिक रिश्तों के लिए अलग-अलग गोत्र का होना जरुरी होता है। लेकिन यह गोत्रीय प्रणाली मूल रूप से सवर्णों में ही प्रचलित है। दलितों में ऐसी कोई गोत्रीय प्रणाली देखने को नहीं मिलती है। उनमें विवाह सम्बन्ध जातियों की समानता को देखकर होती है। अर्थात् दोनों परिवारों का एक जाति का होना बहुत ही जरुरी होता है।

---

[31] संतप्त, पृष्ठ सं.-101

[32] मेरी पत्नी और भेड़िया, पृष्ठ सं.-30

दलित आत्मकथाओं में दलित परिवार में जितने भी विवाह सम्बन्ध स्थापित होते हैं, वह अपनी ही जातियों में होते हैं। इसके अतिरिक्त अपने सगे-संबंधियों के रिश्तेदारों में भी होते हैं। रिश्तेदारों का महत्त्व परिवार और समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जिसका निर्माण वैवाहिक और रक्त-संबंधों के आधार पर होता है। पारिवारिक मुसीबत के वक्त यही रिश्तेदार काम में आते हैं। सुख हो या दुःख हरेक परिस्थितियों में काम आते हैं।

4.1.8 पारिवारिक-विघटन तथा पलायन- परिवार में विघटन के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों कारण होते हैं। एक वह जो आर्थिक कारणों से होता है और दूसरा आपसी-मतभेद के कारण। दलित आत्मकथाओं में पारिवारिक विघटन के दोनों रूप दिखाई देते हैं।

सकारात्मक कारण वह होते हैं- जिसमें व्यक्ति अपने परिवार की गरीबी दूर करने के लिए, उसकी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए गाँवों से बाहर अथवा शहरों की तरफ रोजगार के लिए पलायन करता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि इन्हीं कारणों से अपने माता-पिता तथा घर-परिवार से दूर महाराष्ट्र में नौकरी करने के लिए चले जाते हैं। ठीक इसी प्रकार प्रो. तुलसीराम भी अपना घर छोड़कर बनारस और फिर कलकत्ता की तरफ जाते हैं। मोहनदास नैमिशराय अपने पारिवारिक अर्थव्यवस्था के गड़बड़ाने के चलते बम्बई की ओर पलायन कर जाते हैं। शिक्षा ग्रहण करने के संदर्भ में भी घर से पलायन की प्रवृत्ति दिखाई देती है। जिसका उदाहरण प्रो. तुलसीराम के रूप में 'मुर्दहिया' आत्मकथा में देख सकते हैं।

नकारात्मक कारणों के अंतर्गत- पारिवारिक संबंधों में मतभेद या आपसी मतभेद अर्थात् पति-पत्नी संबंधों में आई दरारों के कारण होता है। इस प्रकार के पारिवारिक-विघटन का स्वरूप 'दोहरा अभिशाप' में, 'संतप्त' में, 'मेरी पत्नी और भेड़िया' आदि में देखा जा सकता है।

4.1.9 आर्थिक आधार पर परिवार एवं समाज की स्थिति- दलित परिवारों का आर्थिक आधार पर वर्गीकरण करें तो इसके कई स्तर नजर आते हैं। कुछ दलित परिवार अब भी पहले

की तरह गरीबी में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं तो कुछ शिक्षा ग्रहण करके सरकारी नौकरी प्राप्त करके एक सुखमय जीवन बिता रहे हैं। नौकरी करने वालों का जीवन स्तर अन्य दलित परिवारों जो अब भी सवर्णों के यहाँ खेती और मजदूरी का काम करते हैं के तुलना में बहुत ही ज्यादा अन्तर हैं। जहाँ आर्थिक रूप से सम्पन्न परिवार में भूख की समस्या नहीं होती, वहीं आर्थिक रूप से विपन्न परिवारों में भूख की समस्या ही प्रमुख होती है। इसलिए आर्थिक आधार पर दलित परिवारों को बांटे तो इसके निम्नलिखित स्तर होते हैं-

4.1.9.1 अतिनिम्नवर्गीय परिवार- निम्नवर्गीय परिवार के अंतर्गत वे परिवार आते हैं जिनकी आर्थिक स्रोत का कोई आधार नहीं होता । वो दूसरे लोगों के यहाँ मजदूरी या हरवाही करने के लिए विवश होता है। दलित आत्मकथाओं में देखें तो ऐसे परिवार के रूप में प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' के परिवार, ओमप्रकाश वाल्मीकि के परिवार की प्रारम्भिक स्थिति को देखा जा सकता है।

4.1.9.2 निम्नवर्गीय परिवार- ऐसे परिवार जो ग्रामीण क्षेत्रों में थोड़ी जमीन पर अपनी खेती-बारी करते हुए अपना सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं। इसके अंतर्गत प्रो. तुलसीराम का परिवार, माता प्रसाद के परिवार की प्रारम्भिक स्थिति, डॉ. डी. आर. जाटव के परिवार की प्रारम्भिक स्थिति को देखा जा सकता है।

4.1.9.3 निम्नमध्यवर्गीय परिवार- इस परिवार के अंतर्गत कौसल्या बैसंत्री का परिवार, डॉ. सुशीला टाकभौरे का परिवार, रूपनारायण सोनकर का परिवार, रमाशंकर आर्य का परिवार, नवेन्दु महर्षि का परिवार को देखा जा सकता है।

4.1.9.4 मध्य-मध्यवर्गीय परिवार- मध्यवर्गीय परिवारों के अंतर्गत मोहनदास नैमिशराय का परिवार, डॉ. धर्मवीर का परिवार को देखा जा सकता है।

4.2 दलित समाज की सामाजिक-स्थिति- भारतीय समाज-व्यवस्था कई सामाजिक इकाइयों का समूह है। इन सामाजिक इकाइयों की अपनी-अपनी अलग एक सोच और

विचारधारा है। सामाजिक रहन-सहन, बोल-चाल समान होने के बावजूद भी एक वैचारिक मतभेद है। इस वैचारिक मतभेद पर उनके धर्म का बहुत ही बड़ा प्रभाव है। यह धर्म ही उनके कर्म और जीवन-शैली को निर्धारित करता है। अगर हम ग्रामीण क्षेत्रों का अवलोकन करें तो हर एक जाति का अपना एक अलग सामाजिक समूह है, जैसे-ब्राह्मण की टोली एक तरफ है, ठाकुरों की अलग, कुम्हारों की अलग, यादवों की अलग, भंगियों की अलग, जाटवों की अलग, चमारों की अलग आदि ऐसे कई उदाहरण मौजूद हैं। आज के समय में थोड़ा-बहुत बदलाव जरुर देखने को मिल रहा है। लेकिन अगर प्राचीनकाल में देखें या फिर आज से 40-50 साल पहले की सामाजिक स्थिति को देखें तो लगभग ऐसी ही थी। हिन्दी दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त समाज का स्वरूप उपर्युक्त सामाजिक समूहों जैसा ही है। दलित समाज वर्ण-व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर होने के कारण उसी शोषण और अमानवीयता का शिकार है जिसका वर्णन 'मनुस्मृति' जैसे धर्म ग्रंथों में किया गया है। अशिक्षा तथा आर्थिक अभाव के कारण उनका जीवन इतना दयनीय है कि वे अपना भला-बुरा तक सोच नहीं पाते। भूख की विवशता उनसे वो सब कुछ करवाती है जिसे वह चाह कर भी मना नहीं कर पाता है। प्रश्न है की इसके लिए जिम्मेदार कौन है? क्या स्वयं दलित समुदाय या फिर समाज का पढ़ा लिखा सवर्ण तबका जो अपने आपको श्रेष्ठ कहता है?

किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में उसके आसपास के वातावरण, सामाजिक परिवेश तथा लोगों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जिसका प्रभाव कहीं-न-कहीं उसके चरित्र में हमें जरुर दिखाई देता है। हिन्दी दलित आत्मकथाओं के अंतर्गत पहली बार मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' में दलित परिवार एवं समाज की पूर्ण अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है। भारतीय समाज-व्यवस्था में माने जाने वाले दलित समाज के परिवेश का चित्रण करते हुए मोहनदास नैमिशराय कहते हैं कि शहर हो या गाँव कहीं भी दलित समाज की स्थितियाँ अच्छी नहीं थी। सवर्ण और दलित बस्तियों कि तुलना करते हुए कहते हैं कि- "हिन्दू-बस्तियों में सुबह जलेबी-कचौरी बनाई जातीं। शाम को बालूसाई और इमरती। पर हमारी बस्तियां नंगी और सपाट होतीं, गंधहीन, पर अजीब सी दुर्गंध परिवेश में फैली

होती। घर-घर में चमड़ा भरा होता, आंगन में चमड़े के गिले टुकड़े सूखने के लिए पड़े होते। ऐसी बस्तियों के आसपास हवा चलती तो महसूस होता, यहीं कहीं चमारवाड़ा है।"[33] अर्थात् दलित समाज का परिवेश ऐसा था कि उसके आस-पास से भी अगर कोई व्यक्ति गुजर जाए तो उसे पता चल जाता था कि यहाँ कहीं दलित बस्ती जरुर होगी। ऐसे सामाजिक परिवेश में दलित अपना जीवन जी रहे थे। लेखक के जन्म के कुछ ही वर्ष बाद उनकी माँ का देहान्त हो जाता है। पिता सौतेली माँ लाते है लेकिन उसका कोई विशेष फर्क मोहनदास पर नहीं पड़ता है। क्योंकि उनका परिवार संयुक्त परिवार था, जिसमें ताऊ और ताई का इनके प्रति स्नेह और प्यार का साथ था। चूँकि लेखक के पिता सरकारी नौकरी के पद पर थे इसलिए आर्थिक स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। लेकिन जातिभेद का दंश इन्हें सवर्णों का झेलना ही पड़ता था। दलित समाज में जो अन्य दलित लोग थे उनकी स्थिति बहुत ख़राब थी। खाने के कमी के कारण दलितों को मृत पशुओं के मांस पर निर्भर रहना पड़ता था। मोहनदास कहते हैं- "उन दिनों भैंस और गाय का मांस खाना आम बात थी। बकरे का मांस तो कम ही मिलता था। मांस भले ही मुर्दा जानवर का हो।"[34] यह तो स्थिति थी गाँवों की, लेकिन वहीं बम्बई शहर में दलितों की बात करते हुए कहते हैं कि वहां भूख थी, गरीबी थी, बेरोजगारी थी लेकिन आदमी-आदमी के बीच जातियों की दीवारें नहीं थी। यह एक अच्छी बात थी लेकिन ऐसे शहर थे ही कितने? मेरठ शहर में बम्बई जैसी स्थिति नहीं थी। वहां भी दलितों की बस्ती गाँवों की तरह सवर्ण समाज से अलग थी। जहाँ कई तरह के दुःख-दर्द और समस्याएं थीं। बिजली नहीं थी, पानी नहीं था। कई तरह की परेशानी दलित समाज में मौजूद थीं। मोहनदास कहते हैं कि- "सवर्णों का मूलमंत्र भी तो यही था। दलितों की पुरानी पीढ़ी के साथ नई पीढ़ी को भी गुलाम बनाकर रखना। हमारा काम था सेवा करना। .....उनके हाथ में हंटर होते, चाक़ू होते, लाठी-बल्लम होते। वे इनके साथ धर्म, भाग्य और भगवान के हथियार भी इस्तेमाल करते। यही तो

[33] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-12

[34] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-18

हमारा भाग्य था।"[35] ऐसे समाज में दलित बच्चों का भविष्य क्या होता होगा? जहाँ पैदा होते ही उन्हें गुलाम बना दिए जाते हो।

ऐसा नहीं था कि यह समस्या केवल मोहनदास के समाज में ही थी। बल्कि अन्य दलित आत्मकथाकारों के भी परिवार और समाज की हालत लगभग ऐसी ही थी। ओमप्रकाश वाल्मीकि बताते हैं कि उनका भी परिवार संयुक्त परिवार था। घर के सभी लोगों के काम करने के बाद भी दो जून की रोटी ठीक ढंग से नहीं चल पाती थी। परिवेश तो ऐसा था कि चारों तरफ गंदगी फैली रहती। तंग गलियों में सूअर जहाँ-तहां घूमते रहते। और इसी में दलित बच्चों का भी भविष्य घूमता रहता। और ऊपर से सवर्ण समाज का व्यवहार ऐसा कि उनके लिए "कुत्ते-बिल्ली, गाय-भैंस को छूना बुरा नहीं था लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इनसानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ जरुरत की वस्तु थे। काम पूरा होते ही उपयोग खत्म।"[36] स्थिति ऐसी कि उनके समाज को सवर्णों के जूठन तक पर निर्भर होना पड़ता था। तो कुछ इसी तरह की स्थिति सूरजपाल चौहान की भी थी। भंगी समाज के होने के नाते उनकी भी हालत ओमप्रकाश वाल्मीकि की तरह ही थी।

इसी प्रकार चाहे 'दोहरा अभिशाप' की लेखिका कौसल्या बैसंत्री हो, 'झोपड़ी से राजभवन' के लेखक माता प्रसाद हो, 'मेरा बचपन मेरे कंधो पर' के लेखक प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' हो, 'नागफनी' के लेखक रूपनारायण सोनकर हो, 'मुर्दहिया' के लेखक प्रो. तुलसीराम हो, 'शिकंजे का दर्द' की लेखिका डॉ. सुशीला टाकभौरे हो, 'घुटन' के लेखक रमाशंकर आर्य हो, 'मेरा सफ़र मेरी मंजिल' के लेखक डॉ. डी.आर. जाटव ही क्यों न हो दलित परिवार और समाज से सम्बन्ध रखने के कारण इनका भी जीवन छुआछूत और गरीबी में ही बीता था। यह उस समय की स्थिति थी जब देश आजाद हुआ था। दलित लोगों को ये उम्मीद थी कि अंग्रेजों के साथ-साथ वे भी सवर्णों की गुलामी से मुक्त हो जायेंगे। उनकी भी अपनी आजादी होगी, उनको भी सामाजिक समानता का हक मिलेगा। अस्पृश्यता का भेदभाव मिट जाएगा, भूख की समस्या खत्म हो जाएगी, एक खुशहाल जिन्दगी जीने का अवसर प्राप्त होगा। उन्हें

[35] अपने-अपने पिंजरे (भाग-2), पृष्ठ सं.-11

[36] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-12

शिक्षा का अधिकार मिलेगा, उनके भी बच्चे स्कूल जायेंगे। लेकिन ये सब सपने केवल सपने ही साबित हुए, परिस्थितियाँ वैसी की वैसी ही रही। जहाँ भूख की समस्या ही प्रमुख हो वहां कोई शिक्षा की बात कैसे सोच सकता था? अब ऐसे में एक दलित बच्चे की मानसिकता, उसके व्यक्तित्व का विकास कैसा होगा? जहाँ उसके परिवार से लेकर उसका समाज तक अनपढ़ और अशिक्षित हो, घर का कोई भी सदस्य माता-पिता, दादा-दादी, चाचा-चाची, अगल-बगल के रिश्तेदार कोई भी पढ़ा-लिखा ना हो।

प्रत्येक व्यक्ति को संवैधानिक अधिकार है कि वह शिक्षा प्राप्त करे। यह उसका सामाजिक अधिकार भी है जिसमें कोई भी तत्त्व बाधक नहीं बन सकता। लेकिन ब्राह्मणवादी व्यवस्था के अंतर्गत केवल ब्राह्मण या फिर उच्च वर्ग के लोग ही शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं, दलित नहीं। अब ऐसे समाज में एक दलित बच्चे को शिक्षा ग्रहण करने में कितनी मुश्किल होगी जिसकी डोर ब्राह्मणवादी समाज के लोगों के हाथों में हो। मोहनदास नैमिशराय हिन्दू समाज का चित्रण करते हुए कहते हैं कि उनकी माँ का देहांत उनके जन्म के कुछ ही समय बाद हो जाता है। ऐसे में उनका लालन-पालन उनकी ताई और ताऊ करते है जो असल में उनके स्वयं के चाचा-चाची हैं। छः-सात वर्ष की उम्र हो जाने के बाद उन्हें पढ़ने के लिए स्कूल में भेजा जाता है। चमारों की बस्ती में स्कूल होने के कारण उस स्कूल को अक्सर चमारों का स्कूल कहा जाता है। इसलिए कोई भी सवर्ण अध्यापक जातिगत भेदभाव और छुआछूत के कारण उस स्कूल में आना नहीं चाहता है। दरअसल "सही बात तो यह थी की हमारे स्कूल में सवर्ण जाति का कोई अध्यापक आना ही नहीं चाहता था। इसके सीधे-सीधे दो कारण थे। पहला यह कि स्कूल चमारों की बस्ती में था, दूसरा इसमें सभी चमारों के बच्चे पढ़ते थे। जो अध्यापक आ भी जाते थे वे नाक-भौंह सिकोड़कर पढ़ाया करते थे। हमारी ही बस्ती में हमारी जात के नाम पर गालियाँ दे बैठते और हम सुनते थे।"[37] दूसरी तरफ जहाँ आजादी के बाद सामाजिक समानता की बात की गई थी वह अब भी पूरी तरह लोगों से दूर थी। 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि "सरकारी स्कूलों के द्वार अछूतों के लिए खुलने तो शुरू हो गए थे, लेकिन जन सामान्य की मानसिकता में कोई विशेष बदलाव नहीं आया था।

[37] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-33

स्कूल में दूसरों से दूर बैठना पड़ता था, वह भी जमीन पर।"[38] सामाजिक परिवेश के साथ- साथ स्कूली परिवेश भी छुआछूत का शिकार था। क्योंकि अध्यापकों के साथ-साथ त्यागियों (सवर्ण) के बच्चे भी दलित बच्चों को 'चूहड़े' का कहकर चिढ़ाते रहते थे। अगर स्कूल में प्यास लग जाय तो किसी सवर्ण बच्चे का इंतजार करना पड़ता था क्योंकि अछूत होने के कारण उसे हैंडपंप छूने की मनाही थी। यह उस समय का समाज था जब भारत अंग्रेजों की गुलामी से आजाद हो गया था और लोगों को संवैधानिक अधिकार के तहत समानता का अधिकार मिल चुका था। बावजूद इसके लोगों में जातिवादी मानसिकता का असर उसी तरह मौजूद था जैसे आजादी के पहले था।

कौसल्या बैसंत्री जो महाराष्ट्र राज्य की थी वहां भी दलितों की स्थिति अच्छी नहीं थी। आजादी के बाद शिक्षा का अधिकार चाहे सबको मिल गया था लेकिन अधिकतर दलित बच्चे अब भी शिक्षा से वंचित ही थे। जिसके लिए सवर्ण समाज जिम्मेदार तो था ही कहीं-न-कहीं दलित लोग भी इसके लिए खुद जिम्मेदार थे। कौसल्या बताती हैं कि- "हमारी बस्ती में स्कूल नहीं था। परंतु पास में गड्डी गोदाम नाम की बड़ी बस्ती थी, वहाँ नगरपालिका का स्कूल था जिसमें लड़के ही जाते थे। लड़की एक भी नहीं जाती थी। आसपास लड़कियों का कोई स्कूल नहीं था। लोगों में इतनी जागृति भी नहीं आई थी। बस्ती में किसी भी जाति में लड़के-लड़कियों को पढ़ने में माँ-बाप को रूचि नहीं थी।"[39] उसके ऊपर सवर्ण अध्यापकों का दलित बच्चों के साथ नकारात्मक रवैया भी उन्हें स्कूल जाने से रोकता था। बहुत कम ऐसे दलित परिवार थे जो अपने बच्चों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते थे। कौसल्या के माता-पिता उनमें से एक थे।

उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग के रहने वाले माता प्रसाद का भी बचपन कष्टमय ही बीता था। अपने आसपास का शैक्षिक वातावरण की दशा का ज़िक्र करते हुए कहते हैं कि स्कूलों में अस्पृश्यता तो जरुर थी लेकिन उस हद तक नहीं कि कोई दलित बच्चा पढ़ ही न सके। बात यह थी कि सामाजिक प्रथाओं के कारण दलितों में बाल-विवाह का प्रचलन अधिक था। जिसके चलते कम उम्र में शादी होने

[38] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-13
[39] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-32

के कारण घर-परिवार की सामाजिक जिम्मेदारी उनके कंधों पर आ जाती थी। उसके बाद बहुत कम दलित बच्चे होते जो शिक्षा के प्रति रूचि लेते और न ही उनके माता-पिता इसके लिए प्रयास करते। जबकि सरकारी सुविधा स्कूलों में मौजूद थी। यह उस समय कि स्थिति थी जब भारत में अंग्रेजी राज कायम था।

सूरजपाल चौहान भी सन् 1962-63 के समय की बात बताते हैं कि आजादी मिले पंद्रह-सोलह साल हो चुके थे फिर भी भंगी मौहल्ले से केवल तीन लड़के ही पाठशाला जाते थे। वह भी सभी बच्चों से उन्हें दूर पीपल के पेड़ के नीचे बैठाया जाता जहाँ सवर्णों की गन्दी नाली बहा करती थी। ऐसा व्यवहार इसलिए किया जाता क्योंकि पाठशाला के अध्यापक सवर्ण होते थे, जो दलित के प्रति अस्पृश्यता का भाव रखते थे। कुछ बच्चे अपने पारिवारिक हालात के कारण पढ़ने की इच्छा होते हुए भी पढ़ नहीं पाते। श्यौराज सिंह के साथ कुछ ऐसी ही समस्या थी। बचपन में ही पिता के गुजर जाने के कारण स्वयं का बोझ अपने ही कंधों पर आ गया था। इसलिए पढ़ाई से पहले पेट की समस्या आ गई थी। वहीं दूसरी तरफ जो लोग थोड़े-बहुत पढ़-लिख गए थे उन्हें उस समय नौकरी भी नहीं मिलती थी। फिर भी श्यौराज जी ने किसी न किसी तरह अपने अक्षर ज्ञान की सीखने की प्रवृत्ति को जारी रखा। और अंततः उन्होंने प्रेमपाल सिंह यादव के सहयोग और अपने परिश्रम से दसवीं पास कर ही लिया। लेकिन सोचने वाली बात है कि ऐसे कितने दलित बच्चे हैं जो श्यौराज जैसे दृढ़ इच्छा शक्ति वाले हैं और जिन्हें प्रेमपाल जैसे लोग मिलते हैं? लेखक बताते हैं कि अब भी बहुत से दलित बच्चे उसी २० साल पहले की तरह जातिगत पेशा आज भी कर रहे हैं।

दलितों के प्रति भेदभाव का ज़िक्र करें हुए प्रो. तुलसीराम कहते हैं कि कैसे सवर्ण अध्यापक स्कूलों में पढ़ने वाले दलित बच्चों का नाम रजिस्टर में अलग से लिखते थे। ताकि अछूत बच्चों की पहचान आसानी से हो जाए। वातावरण ऐसा था कि छोटी-छोटी गलती पर भी उन्हें जाति सूचक शब्दों का इस्तेमाल करके गालियाँ भी देते रहते। दलित बच्चे "शुरू-शुरू में अधिकतर 'उपस्थित' शब्द का उच्चारण नहीं कर पाते थे जिस पर मुंशी अविलम्ब गालियों की बौछार कर देते थे। विशेषकर, दलित

बच्चों को वे 'चमरकिट' कहकर अपना गुस्सा प्रकट करते।"[40] इस प्रकार उनका मनोबल हमेशा जातिगत प्रताड़ना के द्वारा गिराया जाता था। गाँव के सवर्ण, दलित बच्चों को शिक्षा से रोकने के लिए कई तरह के अफवाहों को भी फैलाते रहते थे जैसे कि ज्यादा पढ़ने से लोग पागल हो जाते हैं। और इस अफवाह को कई दलित अनपढ़ होने के कारण सच मान लेते। जिससे वे आगे अपने बच्चों को नहीं पढ़ाते। इसके पीछे हकीकत यह होती थी कि ब्राह्मणों का कोई बच्चा उस समय तक हाई स्कूल पास नहीं कर पाया था, कारण वह फेल होकर पढ़ाई छोड़ देते थे। इसलिए वे चाहते थे कि कोई भी दलित का बच्चा सवर्ण बच्चों से आगे नहीं बढ़े। इस तरह के प्रयासों से उन्हें हमेशा रोका जाता था।

प्रो. तुलसीराम उच्च शिक्षा को ग्रहण करने की कठिनाइयों का भी वर्णन करते हैं कि किस तरह बनारस में दलित बच्चों को किराए पर कमरे लेने के लिए आपनी जाति को छुपा कर, अपनी पहचान को छुपाकर रहना पड़ता था। क्योंकि सवर्ण घर के लोग दलित बच्चों को किराए पर कमरा नहीं देते थे। इस तरह कि परिस्थितियाँ आज भी इलाहाबाद और बनारस में देखी जा सकती हैं। चूँकि पैसे के लालच ने बहुत हद तक इस प्रथा को खत्म कर दिया है लेकिन अब भी कहीं-न-कहीं ऐसी स्थितियाँ देखने को मिल ही जाती हैं। शैक्षिक वातावरण का ज़िक्र करते हुए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उस जातिवादी चेहरे को भी उजागर करते हैं जहाँ ब्राह्मणवादी व्यवस्था पूरी तरह कायम थी। "इसका सबसे बड़ा प्रतीक यह था कि बी.एच.यू. का जो ऐडमिशन फार्म प्रकाशित होता था, उसमें एक कालम के तहत साफ तौर पर लिखा होता था : आर यू ब्राह्मण आर नान ब्राह्मण? अर्थात् आप ब्राह्मण हैं या गैर-ब्राह्मण?"[41] इससे साफ पता चलता है कि इतने उच्च संस्थान में शिक्षित सवर्णों की मानसिकता में जब कोई बदलाव नहीं आया था। तो गाँव के स्कूली परिवेश की मानसिकता कितनी बदली होगी।

सुशीला टाकभौरे बताती हैं कि जब गाँवों में स्कूलों का निर्माण नहीं हुआ था तब किसी सेठ-साहूकारों के यहाँ जो सवर्ण कहलाते थे के यहाँ किसी कमरे में स्कूल कि कक्षाएँ लगती थी। और अध्यापक भी सवर्ण जाति का होता था। ऐसे में वहाँ अछूतों की शिक्षा प्राप्ति की कोई गुंजाइश नहीं रहती।

[40] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-24
[41] मणिकर्णिका, पृष्ठ सं.-45

अछूतों के लिए शिक्षा प्राप्ति की सम्भावना तब हुई जब उन्हें संवैधानिक अधिकार प्राप्त हुआ। उसके बाद भी स्कूलों में उन्हें अछूत होने का एहसास बराबर दिलाया जाता था। स्कूल के "कक्षा में ब्राह्मण, बनियों के बच्चों को सबके आगे बैठाया जाता था। पिछड़ी जाति के बच्चों को पीछे बैठाया जाता। अछूत बच्चे सबसे पीछे अलग बैठते थे। कक्षा में यह श्रेणी वर्गीकरण जैसा था, इससे हमें अपने वर्ण और जाति का आभास हमेशा रहता था।"[42] इतने समय बीत जाने के बाद भी वर्ण और जाति का आभास गाँव के स्कूलों में अब भी दिलाया जाता है। सवर्ण शिक्षक अप्रत्यक्ष रूप से ही सही लेकिन सवर्ण बच्चों को दलित बच्चों से किस प्रकार दूरी बना कर रखनी चाहिए ये बताते रहते हैं। दलितों को जाति सूचक शब्दों से उन्हें बुलाना और गाली देना अब भी गाँवों में आम बात है। दलित सब कुछ सुनकर भी विरोध का साहस नहीं कर पाता। 'घुटन' में रमाशंकर आर्य अपने स्कूली घटना का ज़िक्र करते हुए हए बताते हैं कि अछूतपन का पहली बार एहसास मिसिर मास्टर जो सवर्ण थे, उन्होंने ही कराया था। क्योंकि स्कूल के कुंए पर रखी बाल्टी से मुँह लगाकर पानी पी लिया था। चूँकि इसी तरह सभी बच्चे पी रहे थें। लेकिन "मिसिर मास्टर की बकुली सटासट मेरी पीठ पर बाम उखाड़ने लगी। कारण, मैं अछूत था। मेरे स्पर्श से लोहे की बाल्टी में छूत लग गई थी। और इतना ही नहीं मिसिर मास्टर सभी अछूत छात्रों को नाम से नहीं, जाति से संबोधित करते थे-दुसधा...चमरा...तेलिया...धोबिया...गड़ेरिया...मुसहरवा...आदि-आदि।"[43] दूसरी तरफ डॉ. डी.आर.जाटव स्कूली शिक्षा के सन्दर्भ में कहते हैं कि जहाँ स्कूलों में दलित बच्चों के साथ भेदभाव था वहीं मदरसों में इस तरह की भावना नहीं थी। दलित बच्चे वहां आसानी से शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। लेखक अपनी प्रारम्भिक पाठशाला मदरसा से ही शुरू करता है और आगे दसवीं पास करने के बाद कालेज में प्रवेश लेता है। कालेज में स्कूलों जैसी परिस्थितियाँ नहीं थी। वहां की स्थितियों का ज़िक्र करते हुए कहते हैं कि- "स्कूलों की अपेक्षा कॉलेज का वातावरण मुझे बिलकुल भिन्न मिला। अधिकतर छात्र उच्च जातियों से सम्बंधित थे, किन्तु वे छुआछूत का व्यवहार नहीं करते थे। केवल

[42] शिकंजे का दर्द, पृष्ठ सं.-18

[43] घुटन, पृष्ठ सं.-16-17

जातिगत भावनाएं विद्यमान थी।"[44] आज के उच्च शिक्षण संस्थानों की बात करें तो कुछ-कुछ स्थितियां ऐसी ही हैं। कुछ बच्चे ऐसे हैं उनका बाहरी व्यवहार तो अच्छा ही रहता हैं लेकिन मन में सवर्ण और दलित की भावना कहीं-न-कहीं मौजूद रहती हैं। जो समयानुकूल होते ही बाहर निकल आती है। चाहे वह शिक्षण-संस्थानों में प्रवेश को लेकर हो या नौकरियों के क्षेत्र में हो। इस तरह दलित समाज के बच्चों को शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर रोकने की तमाम कोशिश की जाती रही है। कभी वह अपने आर्थिक हालातों के कारण से नहीं पढ़ पाता तो कभी सामाजिक भेदभाव के कारण और ऐसे में अशिक्षित होने के कारण, न तो अपना समुचित विकास कर पाता है और न ही अपने बच्चों का।

दलित परिवारों के लोगों का अनपढ़ होना दरअसल उनकी गलती नहीं थी। क्योंकि हिन्दू धर्म के अनुसार शूद्र चाहकर भी शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता था। अब ऐसे में दलित परिवार में माता-पिता, दादा-दादी, चाचा-चाची अथवा घर का कोई भी सदस्य शिक्षित नहीं होता था। ऐसे में वे मजदूर, गुलाम तथा घोर गरीबी में जीवन-यापन करने के लिए मजबूर थे। पेट पालने के अलावा उन्हें दूसरी चिंता कैसे होती?

अंग्रेजों के आगमन से हिन्दू समाज-व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन हुआ। और अनजाने में ही सही उन्होंने धार्मिक परम्परा को तोड़ते हुए दलितों को सैनिकों में भर्ती एवं उनके बच्चों को स्कूलों में प्रवेश देना आरम्भ किया। फलस्वरूप कुछ दलित समाज के लोग शिक्षित हुए। लेकिन बहुत से दलित अनपढ़ ही रहे। लेकिन शिक्षा के महत्त्व को समझते हुए डॉ. अम्बेडकर ने सबके लिए शिक्षा का अधिकार संविधान में दिया। आजादी के बाद तथा डॉ. आंबेडकर की प्रेरणा से धीरे-धीरे दलितों ने अपने बच्चों को स्कूलों में भेजना आरम्भ किया। लेकिन वही बहुत से दलित अब भी उस सामाजिक दबाब और आर्थिक परेशानियों के कारण अपने बच्चों को स्कूल भेजने में अक्षम हैं।

दरअसल दलितों के समाज में शिक्षा का वातावरण कभी रहा ही नहीं और न ही कभी उसे पनपने ही दिया गया। अब ऐसे में एक दलित बच्चे का सामाजिक विकास क्या होगा? अगर आज

[44] मेरा सफ़र, मेरी मंजिल, पृष्ठ सं.-14

दलित बच्चों का सही दिशा में विकास नहीं हो पा रहा है तो उसके पीछे निश्चय ही उसका परिवार और उसका दलित समाज है। लेकिन साथ ही हमें उसके पीछे जो हिन्दू धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा जिम्मेदार रही हैं उसे हमें अनदेखा नहीं करना चाहिए। जिसका वर्चस्व अब भी समाज पर बना हुआ है तथा उसकी जड़ें अब भी उसी तरह मजबूत है।

4.2.1 आर्थिक-सुरक्षा का अभाव- अर्थ की समस्या प्रत्येक मनुष्य की प्रमुख समस्या होती है। दलित हो या सवर्ण सभी लोग इसके प्रभाव से मुक्त नहीं रहते। अर्थ के अभाव में व्यक्ति का सामाजिक अस्तित्व शून्य सा हो जाता है। आत्मकथाओं के अंतर्गत जो दलित परिवारों की आर्थिक हालत का चित्रण है वह अत्यंत ही दयनीय है। सामाजिक व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर होने के कारण न तो उनके पास खेती के लिए जमीन है और न ही कोई रोजगार। इसलिए गाँवों में वे सवर्णों की हरवाही तथा मजदूरी करने के लिए विवश हैं। बदले में सवर्ण मालिक जो कुछ भी दे दे बस उसी में उन्हें गुजारा करना पड़ता है। स्थिति ऐसी बदतर हो जाती है की उन्हें अपना जीवन मुर्दा जानवरों के मांस पर गुजारना पड़ता है। इसलिए दलितों के विकास का न होना एक कारण आर्थिक कारक भी रहा है।

दलित आत्मकथाओं में आर्थिक कठिनाइयों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जिसके कारण दलित बच्चों का सही दिशा में विकास नहीं हो पाता। दलित आत्मकथाओं के नायक और उनके समाज में पलने वाले बच्चे इन्हीं आर्थिक समस्याओं के वजह से कम उम्र में ही बाल-मजदूरी करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। दलितों की स्थिति ऐसी थी कि दो वक्त के खाने के लिए उन्हें घंटों संघर्ष करना पड़ता था फिर भी पेट भर भोजन नसीब नहीं होता। ऐसे में "उन दिनों भैंस और गाय का मांस खाना आम बात थी। बकरे का मांस तो कम ही मिलता था। मांस भले ही मुर्दा जानवर का हो। गाँव के जिन लोगों के अधिक संबंध थे, बस्ती के वे कुछ लोग मुरदारी भी खाते थे।"[45] ऐसे में खाने की समस्या होने के कारण बड़ों के साथ बच्चों को भी काम करना पड़ता था। बालश्रम विरोधी कानून होने पर भी कोई क्या कर सकता था? लेखक कहता है कि सवर्णों के घर जब भी शादी-ब्याह के दिन आते तो उनके चेहरे पर

[45] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-18

ख़ुशी आ जाती थी, यह सोचकर की अब कुछ दिनों के लिए भूख की समस्या से उन्हें छुटकारा मिल जाएगा।

आज भी गाँवों के दलित बच्चे आर्थिक समस्याओं के कारण ही कम उम्र में दिल्ली, कलकत्ता, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात आदि जैसे राज्यों में मजदूरी करने जाते रहते हैं। सरकार द्वारा कई ग्रामीण योजनाएँ और किसान योजनाएँ चलाने के बाद भी दलितों की हालत में कोई सुधार नहीं हुआ। उनके लिए आवंटित रोजगार और तरह-तरह के योजनाओं के बावजूद भी उनकी आर्थिक हालत में कोई बदलाव नहीं हुआ। दलितों के लिए आवंटित सरकारी राशि बीच में बिचौलिए ही खा जाते हैं। ऐसे में उनके पास कुछ भी नहीं पहुँचता। इसके खिलाफ न तो कोई पुलिस कार्रवाई होती हैं और न ही कोई जांच-पड़ताल ही। दरअसल यह सब मिली भगत के साथ होता है जिसमें पुलिस से लेकर अधिकारी और गाँव के प्रधान तक शामिल होते हैं। पहले से ही आर्थिक रूप से कमजोर दलित इसके खिलाफ कोई आवाज भी नहीं उठा पाता है। अगर उठाता भी है तो उसे डरा-धमकाकर, मार-पीट कर या फिर क़ानून का भय दिखाकर चुप करा दिया जाता है। ऐसी ही घटना का वर्णन करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते है कि- "गाँव में चकबंदी चल रही थी। कोई बड़ा अफसर आने वाला था। हमेशा की तरह भंगी-बस्ती में एक सरकारी कर्मचारी आया। साफ-सफाई के लिए कुछ लोगों की जरुरत थी जिसके बदले में कोई पैसा या मजूरी मिलने की उम्मींद नहीं थी। बेगार थी यह हमेशा की तरह। कई-कई दिन तक भूखे-प्यासे लोग कोठी की साफ-सफाई में लगे रहते थे, बदले में गालियाँ अलग।"[46]

आजादी से पहले जमींदारी प्रथा होने के कारण अधिकांश दलित समाज भूमिहीन था। जमीन न होने के कारण ये जमींदारों के यहाँ अथवा सवर्ण अमीरों के यहां हरवाही एवं मजदूरी करने को विवश रहते थे। माता प्रसाद कहते हैं कि ये जहाँ बसे होते थे वह जमींदारों की ही भूमि होती थी। अतः बसने के कारण दलितों को मुफ्त में उनकी बेगारी करनी पड़ती थी। घंटों काम करने के बाद उन्हें नाश्ते के नाम पर केवल दो रुपया ही दिया जाता था। और इसके बदले खेत से लेकर घर तक के सभी काम करना पड़ता

[46] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-50

था। एक तरह से दलितों को गुलामों की तरह उनकी दिन-रात सेवा करते थे। जमींदार और सूदखोर महाजन मिलकर किसानों-मजदूरों (जो दलित होते थे) का अत्यधिक शोषण कर उन्हें असहाय बना दिया था। लेकिन आजादी के बाद उनके लिए दिए जा रहे सरकारी आर्थिक सहयता के बाद भी आर्थिक हालत में अब भी सुधार नहीं हो पाया है। माता प्रसाद इसके कारणों को बताते हुए कहते हैं कि दलित "वर्ग के उत्थान के लिए, स्पेशल कंपोनेंट प्लान की योजनाओं का लाभ नहीं पहुँच पा रहा है। इस योजना में किसी रोजगार या धंधे के लिए जो धनराशि स्वीकृत होती है उसका आधा या अधिकतम पांच हजार रुपए अनुदान, शेष कर्ज, ब्याज पर देय होता है। आधा अनुदान बिचौलिया खा जा रहे हैं।"[47] आये दिन हो रहे तमाम घोटालों का पर्दाफास होना इस बात का सबूत देता है कि आज भी इस मामले में कुछ ज्यादा बदलाव नहीं हुआ है।

दलित परिवारों में आर्थिक तंगी के वजह से कई दलित बच्चे कई तरह के शारीरिक काम बचपन में ही करने लगते हैं। क्योंकि स्थितियां ऐसी थी कि अपना ही खर्च उठाना बहुत मुश्किल होता था तो बच्चों का कैसे उठाते? इसलिए जब बच्चे कुछ बड़े होते तभी से उन्हें काम पर लगा दिया जाता था। सूरजपाल चौहान अपनी पारिवारिक हालत के बारे में कहते हैं कि जब गाँव में उनकी माँ का देहान्त हो जाता है तब घर के अन्य रिश्तेदार उन्हें अपने साथ रखने से मना कर देते हैं। इसमें भी उनका क्या दोष था? क्योंकि " वे भी बेचारे क्या करते? चाचा-ताऊ के पास गाँव में न खेती के लिए भूमि थी और न दूसरा कोई कारोबार। वे सभी गाँव के सवर्णों के यहाँ मौहल्ले कमाने का काम या उनके खेतों में मजदूरी करते थे। अपना पेट भरना और अपने बच्चों का लालन-पालन करना ही उनके लिए दूभर था तो फिर हम दोनों भाइयों को भला कैसे पालते?"[48] यह समस्या केवल सूरजपाल की ही नहीं थी ऐसे कई दलित बच्चे उनके समाज में थे जो इसी तरह की परेशानियों से गुजर रहे थे। न ही इनकी कोई पुश्तैनी संपत्ति थी और न ही इनके लिए कोई सरकारी योजनाएँ। श्यौराज सिंह बेचैन का बचपन भी ऐसी आर्थिक कठिनाइयों के बीच ही गुजरा था जिसके कारण बचपन में ही कई सारे काम करने पड़े थे। माँ के साथ

[47] झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ सं.-220

[48] तिरस्कृत, पृष्ठ सं.-14

सवर्णों के खेतों में काम करना, मकान निर्माण में ईंट-गारा देना, दिल्ली में जाकर अंडे-नींबू बेचना, प्रेमपाल सिंह यादव के घर का काम करना आदि। ये सभी स्थितियां आर्थिक असुरक्षा के कारण ही दलित समाज में मौजूद थीं।

अन्य दलित आत्मकथाओं में भी ऐसे कई वर्णन हमें देखने को मिलते हैं जहाँ दलित बच्चे आर्थिक तंगी के कारण ही अपनी पढ़ाई छोड़कर शास्त्र या धर्म ग्रंथों द्वारा निर्धारित अपना पैतृक पेशा अथवा शहरों में जाकर कोई अन्य काम करने लगते हैं। जो आज भी उसी तरह जारी है। आर्थिक अभाव के कारण स्थिति यहाँ तक हो जाती है कि उसे समाज का जूठन खाने तक को विवश होना पड़ता है।

4.2.2 स्वास्थ्य-सुविधा का अभाव- स्वतंत्रता प्राप्ति के 68 वर्षों के बीत जाने के बाद भी अधिकांश दलित परिवार अस्पृश्यता, कुपोषण, उत्पीड़न तथा भेदभाव के कारण पशुवत जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अत्यंत गरीबी में जीने के कारण तथा सामाजिक रूप से गंदे माने जाने वाले कार्यों को करने के कारण दलित किसी-न-किसी बीमारी से ग्रस्त हो ही जाता है और पैसों के अभाव के कारण जिसका समय से उचित इलाज नहीं करवा पाते। गाँव में अधिकतर बीमारियों को भूत-प्रेत का साया ही मान लिया जाता है। और इसलिए अशिक्षित और अंधविश्वासी दलित लोग तंत्र-मन्त्र और झाड़-फूँक का सहारा लेते हैं। और अंततः बीमार व्यक्ति मृत्यु के ग्रास में चला जाता है। 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आत्मकथा के लेखक श्यौराज सिंह 'बेचैन' के पिता का देहांत कुछ इसी तरह से हो जाता है। उन्हें डॉक्टर के पास न ले जाकर झाड़- फूंक का सहारा लिया जाता है। जिसके कारण उनकी हालत दिन पर दिन बिगड़ने लगती है और अंततः उनकी मृत्यु हो जाती है। लेखक को इस घटना का दुःख हमेशा रहता है। स्वास्थ्य-सुविधा के अभाव में ही लेखक के कई भाई- बहनों की मृत्यु समय से पहले ही हो जाती हैं। श्यौराज सिंह कहते हैं कि इलाज के लिए "उपचार परम्परागत हुआ। वही झाड़-फूँक, वही भूत और पूजा। कोई सही नयी पद्धति का इलाज नहीं हुआ। वह जानबूझकर नहीं कराया गया था, यह कहना शायद इल्जाम हो। असल बात लोगों में गहरी अज्ञानता, अशिक्षा और अन्धविश्वास का होना था।"[49]

[49] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृष्ठ सं.-16

मोहनदास दलित समाज को पूरी तरह दोष नहीं देते हैं। बल्कि दोष उन लोगों को देते हैं जिन लोगों ने उन्हें ऐसी परिस्थितियों में रहने के लिए मजबूर किया था।

ओमप्रकाश वाल्मीकि भी दलितों के इलाज पद्धति के बारे में कहते हैं कि- "बस्ती में जब कोई बीमार पड़ जाता, दवा-दारु करने के बजाय भूत-प्रेत की छाया से छुटकारा पाने के कार्य, झाड़-फूँक, टोन टोटके, ताबीज, गंडे, भभूत आदी की आजमाइश शुरू हो जाती।"[50] दरअसल इसके पीछे कारण यह था कि जब दलित को खाने के ही लाले पड़े हुए थे तो इलाज के लिए , डॉक्टर की फीस और दवाइयों के खर्च के लिए पैसे कहाँ से लाते? दिन-रात काम करना और उस पर भी मजूरी ठीक से न मिलने के कारण दलितों कि आर्थिक-स्थिति हमेशा ख़राब ही रहती थी। वहीं दलितों में बाल-विवाह होने के कारण बहुत से बच्चों की शादी बचपन में ही हो जाती थी। जिसके कारण समय से पहले ही कई बच्चे हो जाते थे। जिनकी उचित देखभाल न हो पाने के कारण कई रोगों से ग्रस्त हो जाते थे। कौसल्या कहती है कि बच्चे हो या बड़े पहले तो उनका इलाज झाड़-फूँक और देवी-देवताओं के माध्यम से ही किया जाता था। जब स्थिति ज्यादा ख़राब हो जाती थी तभी डॉक्टर के पास लेकर जाया जाता था। पूरे भारत में दलित समाज की स्थिति लगभग ऐसी ही थी।

आज भी दलित समाज गरीबी, कुपोषण और बीमारी के दुष्चक्र में बुरी तरह घिरा हुआ है। उचित शिक्षा और रोजगार के अभाव में दर-दर भटकने को मजबूर है। शहरी हो या ग्रामीण ऐसी कई दलित बस्तियाँ हैं जहाँ पीने के लिए साफ पानी भी नहीं मिलता। खाने की समस्या तो पहले से ही हैं। जिसके प्रति सरकार का रवैया भी नकारात्मक ही रहता है। "राष्ट्रीय मानव विकास रिपोर्ट 2001 में स्वीकार किया गया है, कि 56 प्रतिशत दलित तथा 64 प्रतिशत आदिवासी खून की कमी के शिकार है।"[51] बाजार की मंहगाई के कारण कुछ भी खरीदना दलितों के लिए एक असंभव सा कार्य हो गया है। गाँवों में सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं की बदहाली और मँहगी-मँहगी दवाइयाँ जिसका बोझ उठाना दलितों के बस की बात नहीं हो पाती। भला ऐसे में दलितों के स्वास्थ्य की दशा क्या होगी?

---

[50] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-52

[51] दलितों का इतिहास (अतीत एवं वर्तमान के आईने में), पृष्ठ सं.-288

4.2.3 जागरूकता का अभाव- शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य में जागरूकता व चेतना का प्रसार होता है। लेकिन हिन्दू समाज में दलितों को ज्ञान से दूर रखने की परंपरा सदियों से चली आ रही है। 'धर्म-ग्रंथों' में उनके लिए केवल एक ही कार्य सौंपा गया है और वह यह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना। आजादी के बाद भी अशिक्षा ने उन्हें कई तरह के ज्ञान और सूचना से अब भी दूर रखा हुआ है। संविधान में व्यक्ति को दिए गए मौलिक अधिकारों तथा दलितों के विकास और उनकी उन्नत्ति के लिए दिए गए आरक्षण की सुविधा की कोई जानकारी नहीं होने के अभाव में वे पीछे रह जाते हैं। इसलिए उन्हें जागरूक करने के लिए समय-समय पर दलित नेताओं ने विभिन्न आन्दोलन चलाए। जिसकी नींव पहले ही डॉ. अम्बेडकर ने 'महाड़ आन्दोलन' जैसे आन्दोलन चलाकर रख दी थी। मोहनदास नैमिशराय बताते हैं कि- "बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर के समानान्तर ही 1942 में कानपुर के स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' ने 'आदि हिंदू धर्म' नाम से आन्दोलन भी चलाया था। जिसका कुछ असर अवश्य हुआ था।"[52] जहाँ पहले दलित समुदाय के लोग मरे हुए पशु उठाते थे और स्त्रियाँ सवर्ण परिवारों में जाकर बच्चों के नाल काटती थी, वह धीरे-धीरे कम होने लगा था। लेकिन फिर भी बहुत से दलित अब भी सामाजिक दबाव में यह सब घृणित काम करने को मजबूर थे। डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म को अपनाने के लिए दलितों पर जोर दिया था और बताया की इसी धर्म के द्वारा समाज में दलितों को समानता का अधिकार मिल सकता है। फिर भी एक-दो दलित जातियों को छोड़कर किसी ने उस समय बौद्ध धर्म नहीं अपनाया था। दरअसल इन सब के पीछे उनका अशिक्षित होना ही एक मात्र कारण था। बाबासाहेब ने इसलिए कहा था- 'शिक्षित बानो, संगठित हो और संघर्ष करो'। लेकिन कोई संघर्ष कैसे करता? शिक्षा कैसे ग्रहण करता जब दो रोटी खाने को ही नहीं मिलती, शरीर के लिए कपड़ा ढंग से नहीं मिलता।

दलितों में जागरूकता का न होने का सबसे बड़ा कारण शिक्षा था। जिससे दलितों को हमेशा दूर रखा जाता था। आजादी के बाद दलितों को पढ़ने का कानूनी अधिकार मिला जो ब्राह्मणवादी धर्म

[52] अपने-अपने पिंजरे (भाग-२), पृष्ठ सं.-66

और संस्कृति में नहीं था। इसलिए जब दलित बच्चे स्कूल में पढ़ने आते तो उनके प्रति शिक्षकों का नजरिया घृणास्पद ही रहता था। स्कूलों में शिक्षा के नाम पर रामायण और भगवद्गीता के पाठों पर ही विशेष जोर दिया जाता और सबको हिन्दू संस्कृति के अनुसार आचरण करने पर ही बल दिया जाता था। जिसमें सामाजिक ऊँच-नीच की भावना ही मौजूद रहती थी। महापुरुषों में गाँधी, नेहरु, पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, राधाकृष्ण, विवेकानंद, टैगोर, तिलक, भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, सावरकर के तो नाम लिए जाते लेकिन डॉ. अम्बेडकर का नाम कोई अध्यापक नहीं लेता। ओमप्रकाश वाल्मीकि बताते हैं कि डॉ. अम्बेडकर से पहला परिचय हेमलाल द्वारा दिए गए 'डॉ. अम्बेडकर : जीवन-परिचय' नामक पुस्तक के माध्यम से हुआ। इसके पहले उन्होंने डॉ. अम्बेडकर का नाम भी नहीं सुना था। वे कहते हैं कि- "इन पुस्तकों के अध्ययन से मेरे भीतर एक प्रवाहमयी चेतना जागृत हो उठी थी। इन पुस्तकों ने मेरे गूँगेपन को शब्द दे दिए थे। व्यवस्था के प्रति विरोध की भावना मेरे मन में इन्हीं दिनों पुख्ता हुई थी।"[53] इसी सन्दर्भ में वे आगे लिखते हैं कि- "मुझे एक दिशा मिल गई थी। यह धारणा भी उन दिनों पुख्ता हो रही थी कि जो शिक्षा स्कूल, कालेजों में दी जा रही है, वह किसी भी रूप में हमें राष्ट्रीय नहीं बनाती है, बल्कि कट्टर, संकीर्ण हिंदू बनाती है।"[54] ऐसे में दलित बच्चों में वही पुराने संस्कार, रीति-रिवाज फिर से भरे जाते थे।

वहीं आगे कौसल्या बैसंत्री कहती हैं कि महाराष्ट्र में अंबेडकर का प्रभाव अधिक होने के कारण ही हमारे अस्पृश्य बस्तियों में चौदह अप्रैल को बाबा साहेब की जयंती मनाते थे। क्योंकि उन्होंने ही पहली बार अस्पृश्य समाज में यह बोध जगाया की वे भी इंसान हैं, इस देश पर उनका भी हक़ है। लेकिन उत्तर भारत में कुछ दलित लोग अपनी अज्ञानता के कारण डॉ. अम्बेडकर को भी जाति के दायरे में बाँधकर देखते थे। सूरजपाल के समझाने के बाद भी उनके अपने भंगी समाज के लोगों का मानना था कि डॉ. अम्बेडकर उनके गुरु नहीं हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध चमार जाति से हैं। हमारे गुरु तो महर्षि वाल्मीकि हैं। दरअसल बाबासाहेब अम्बेडकर के कारण दलित समाज में फैलते जागरूकता और उनके

[53] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-89
[54] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-89

बीच हो रहे संगठन को रोकने के लिए ब्राह्मणवादियों ने इस तरह का भ्रम फैला रखा था। जिससे कि दलित कभी एक ना हो पाए।

आज भी दलित समाज पूरी तरह से जागरूक नहीं हो सका है। कई स्तरों पर अब भी अपने सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अधिकार के लिए संघर्षरत है। गाँव हो या शहर दोनों जगह उनका शोषण होता ही रहता है। जानकारी के अभाव में सरकार द्वारा न्यूनतम मजदूरी के नीचे ही दलित श्रमिक आज भी काम करने को विवश है। सरकारी योजना का लाभ से आज भी दलित समाज के लोग वंचित हो रहे हैं। उनके पास न रेडियो है और न ही अखबार है जिससे की देश में हो रही घटनाओं की जानकारी प्राप्त हो सके। ऐसे में वे अपने सामाजिक अधिकारों के प्रति अनभिज्ञ रहते हैं और सरकार द्वारा आये आर्थिक लाभ से वंचित रहते हैं। किसी तरह सूचना मिलती भी है तो तब तक समय निकल गया होता है।

4.2.4 सांस्कृतिक-परिवेश- संस्कृति समाज का अभिन्न अंग होता है। इसलिए धर्म और संस्कृति किसी भी देश-समाज की वह पहचान होती है जिनमें उसकी व्यापक विविधताओं से भरी जीवन-शैलियों के अनेक रूप प्रकट होते हैं। विचार, व्यवहार, आचरण, ज्ञान-विज्ञान,शिक्षा और अशिक्षा के संयुक्त परिणामों को धार्मिक व सांस्कृतिक अध्ययन से ही समझा जा सकता है। इस सन्दर्भ में महात्मा गाँधी कहते हैं कि- "संस्कृति नींव है, प्राथमिक ईकाई है। व्यवहार और आचरण की छोटी-छोटी बातों में जैसे बैठने, चलने, वेश-भूषा आदि में यह प्रकट होनी चाहिए। बातचीत करने का ढंग, अतिथियों के स्वागत करने के तरीके, आपस में एक-दूसरे के प्रति तथा शिक्षकों और बड़ों के प्रति व्यवहार, इन सबमें संस्कृति का स्तर झलकता है।"[55] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि संस्कृति किसी समाज में गहराई तक व्याप्त गुणों के समग्र रूप का नाम है, जो उस समाज के सोचने, विचारने, क्रिया-कलाप, खाने-पीने, बोलने, रहन-सहन, आचरण-व्यवहार आदि में परिलक्षित होती है। जो भोजन

[55] हिंदी दलित कथा-साहित्य: अवधारणाएं और विधाएं, पृष्ठ सं.-224

हम खाते हैं, जो कपड़े पहनते हैं, जो भाषा बोलते हैं और जिस भगवान की पूजा करते हैं, ये सभी संस्कृति के पक्ष हैं।

हिन्दू समाज में कई तरह की सांस्कृतिक परम्पराएँ, रीति-रिवाज, पूजा-पाठ, त्योहार, तंत्र-मंत्र, जादू-टोना, अन्धविश्वास , बलि-प्रथा आदि जैसी संस्कृतियाँ शामिल हैं। हिन्दू समाज का ही अंग होने के कारण ये प्रथाएं दलित समाज में भी अपने–आप शामिल हो चुकी हैं। इन प्रथाओं का प्रभाव इतना अधिक है कि हैजा, प्लेग और चेचक जैसी बीमारियों को भी दैवीय प्रकोप मान बैठते हैं और उसका उचित इलाज चिकित्सा पद्धति न अपनाकर झाड़-फूँक, तंत्र-मंत्र और ओझा-बाबाओं के चक्कर में पड़ जाते हैं। हिन्दू समाज का अंग होने के बावजूद दलित समाज की संस्कृति, हिन्दू संस्कृति से भिन्न भी है। एक की संस्कृति में जहाँ भोग-विलास और ऐशो-आराम की जिंदगी थी वहीं दूसरे (दलित) की संस्कृति में जीवन भर कष्ट सहने की नियति थी। 'मनुस्मृति' के अनुसार जहाँ सवर्ण श्रेष्ठ माने जाते वहीं दलित नीच माने जाते थे। मोहनदास नैमिशराय गाँव की सामाजिक संस्कृति की बात करते हुए कहते हैं कि- "गाँव में धर्मशाला थी, पर बामनों/ठाकुरों की बस्तियों में। मीठे और साफ पानी का कुंआ था तो उन्हीं की बस्तियों में। हमारी जात के हिस्से में थी तो कंगाली की ऐसी चादर जिसमें से एक के बाद एक संकट झाँक रहे थे।"[56] लेकिन दलित हिन्दू संस्कृति का अंग होते हुए भी इस धर्मशाला और कुंआ के पानी का इस्तेमाल नहीं कर सकता था। क्योंकि वह हिन्दू समाज में अस्पृश्य है। दया, करूणा और समानता की बात करने वाले हिन्दू धर्मग्रंथों में दलितों के लिए कोई स्थान नहीं है। हर तरह से दलितों का शोषण करने की संस्कृति का पाठ सवर्णों को इन्हीं धर्मग्रंथों से प्राप्त हुआ है।

दलित समाज में फैली बुराइयों का ज़िक्र करते हैं कि हमारे समाज में भूत-प्रेत की छायाओं का पूरी बस्ती में अजीब माहौल था। थोड़ी सी भी किसी की तबियत ख़राब होती तो डॉक्टर के बजाय किसी भगत को बुलाया जाता। देवी-देवताओं को पूजा में सूअर, मुर्गे, बकरे और शराब चढ़ाई जाती। ये देवता भी हिन्दू देवी-देवता से अलग होते थे। जो किसी भी पोथी-पुराण में ढूंढने से भी नहीं मिलते। कहने का

[56] अपने-अपने पिंजरे (भाग-2), पृष्ठ सं.-25

तात्पर्य है कि कोई भी काम चाहे वह शुभ-कार्य हो, विवाह हो या मृत्यु-भोज बिना इन देवताओं की पूजा किये पूरा नहीं होता था। दलितों की सामाजिक दशा कितनी ही बुरी क्यों न हो लेकिन इसका पालन करना ही पड़ता था। सांस्कृतिक-जीवन की कई परम्पराएँ तो केवल भावना पर ही आधारित होती थी। जिसका अनुकरण करना दलितों के लिए जरुरी था। हिन्दू मान्यताओं के अनुसार श्राद्धपक्ष में अगर कौओं को भोजन कराया जाय तो वह पुरखों तक पहुँच जाता है, ऐसी मान्यता है। जिसका पालन दलित समाज के लोग भी करते थे। डॉ. सुशीला टाकभौरे कहती हैं कि- "सुखलाल मामा पूजा के बाद सभी पत्तों को सुपे में रखकर, एक-एक पत्ता घर के ऊपर फेंकते। पत्ते फेंकते समय मामा जोर-जोर से कहते थे- 'आओ रे कागा भोजन खाओ' सबको यह विश्वास था कौओं को भोजन खिलाने से पुरखों तक पहुँच जाता है।"[57]

लेकिन कुछ ऐसी परम्पराएँ थीं जो केवल दलित समाज में ही थीं, जैसे-मरे हुए पशुओं का मांस खाना, बच्चों को न पढ़ाना आदि। माता प्रसाद अपनी आत्मकथा में इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि- "उस समय हमारी बिरादरी में मरे हुए पशुओं के मांस खाने का रिवाज था। लोग अपने बच्चों को पढ़ने को नहीं भेजते थे। घर में भूत-प्रेत की बड़ी मान्यता थी। झाड़-फूँक में विश्वास अधिक था। देवी-देवताओं को 'छौना' (सुकर का बच्चा) काटा जाता। शराब और ताड़ी का चलन जोरों पर था। अन्धविश्वास ही में लोग जीते थे।"[58] दरअसल दलितों में फैली इन बुराइयों के लिये कहीं-न-कहीं हिन्दू सवर्ण जिम्मेदार थे। जिन्होंने उनका सामाजिक और आर्थिक शोषण करके उन्हें इस दशा में पहुँचाया था।

शैक्षिक-अधिकार के कारण दलित बच्चे सवर्ण बच्चों के साथ स्कूलों में पढ़ तो रहे थे, लेकिन वहाँ भी सवर्ण अध्यापक छुआछूत की भावना फैलाए हुए थे। दलित बच्चे सवर्ण बच्चों के साथ बैठ नहीं सकते थे, कुंओं से बाल्टी भरकर पानी नहीं पी सकते थे, सवर्ण बच्चों के साथ खेल नहीं सकते थे। अगर कोई सवर्ण बच्चा दलित बच्चों के साथ खेलता तो उसे डांट-फटकार मिलती थी। अध्यापकों द्वारा उन्हें हमेशा नीचा दिखाने की कोशिश होती रहती। सूरजपाल चौहान कहते हैं कि ठाकुर प्रताप का लड़का वीरू जो सवर्ण जाति का था हमारे साथ खेल रहा था। यह देखकर ठाकुर ने "सटाक-सटाक

[57] शिकंजे का दर्द, पृष्ठ सं.-41

[58] झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ सं.-35

संटियों की बरसात कर दी थी उसने मेरे ऊपर। मेरा कान ऐंठते हुए ठाकुर ने कहा- 'साले भंगिया के मेरे छोरा के संग खेलतु है ...,ठौर मार दूंगौ'।"[59]

दलितों का समाज कई तरह के अन्धविश्वासों और रूढ़ियों का भी शिकार था। हर समस्या का इलाज देवी-देवता, तंत्र-मंत्र से ही होता। दलितों को सवर्ण समाज हमेशा गालियों से ही संबोधित करता था। जब भी गाँव में चेचक की महामारी आती तो सभी दलित देवी-देवताओं को मनाने में लग जाते थे। ये देवी-देवता सवर्णों के देवताओं से भिन्न होते थे। प्रो. तुलसीराम कहते हैं कि- "हमारे गाँव में भी 'चमरिया माई' और 'डीहबाबा' दो ऐसे ही देवी-देवता थे, जिनकी पूजा दलित करते थे। इन दोनों को सूअर और बकरे की बलि दी जाती थी।"[60] ये रूढ़ियाँ इतनी गहराई तक फैलीं थी कि जिससे निकल पाना बहुत मुश्किल था। कई तरह के भूत-प्रेत से सम्बंधित किस्से-कहानियाँ भी प्रचलित थीं, जिसे दलित बच्चे अपने दादा-दादी से सुनते थे। जिसके कारण उनमें अन्धविश्वास की चेतना का विकास होता था। वह भी उसी परम्परा पर विश्वास कर उसके अनुरूप व्यवहार और आचरण करने लगता था। इसके अतिरिक्त दलित परिवारों में शादी या त्यौहार में अपने घरों के देवताओं को खुश रखने के लिए जानवरों की बलि भी दी जाती। जिसका प्रभाव बच्चों की मानसिकता पर बुरा पड़ता था और कई बार वह न चाहते हुए भी उसे अपना पैतृक-कार्य, रीति-रिवाज, परम्परा एवं संस्कृति के नाम पर करना पड़ता है या करने के लिए बाध्य हो जाता था।

4.2.5 हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री की सामाजिक स्थिति- भारतीय समाज में स्त्री की भूमिका चाहे सवर्ण हो या दलित हमेशा दोयम दर्ज़े की रही है। उसका रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि सभी चीजों को तय करने वाला पुरुष ही रहा है। वह अपने ही परिवार एवं समाज में चाह कर भी स्वतंत्र नहीं रह पाती। घर के सारे नियम, कायदे-कानून पुरुष ही तय करता है। स्त्रियाँ पुरुषों के अधीन रहकर वह सारे काम करती हैं जो पुरुष चाहता है। उनकी किसी भी

[59] तिरस्कृत, पृष्ठ सं.-29
[60] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-11

वैचारिक सोच को महत्व नहीं दिया जाता। उन पर धर्म और परंपरा का प्रभाव इस कदर डाल दिया जाता है कि वह उसी के अनुसार सोचने-समझने को विवश हो जाती है। हिन्दू धर्म में जहाँ एक तरफ स्त्री को देवियों के रूप में प्रतिष्ठित और स्थापित किया गया तो वहीं दूसरी तरफ उन्हें भोग-विलास की वस्तु भी समझा गया। 'अथर्ववेद' ग्रंथ में यहाँ तक कहा गया है कि 'दुनिया की सब स्त्रियाँ शूद्र हैं अर्थात् दलित।' 'मनुस्मृति' में महिलाओं को किसी भी तरह की स्वतंत्रता का अधिकार ही नहीं दिया गया है। प्रत्येक अवस्था में उन्हें पुरुष के अधीन रहने की बात ही कही गई है। दलित स्त्री के सन्दर्भ में तिहरे शोषण की बात करती हुई दलित विदुषी प्रो० विमल थोरात मानती है कि दलित स्त्रियाँ समाज में तीन तरह से शोषित होती रहती हैं। इसलिए वे कहती हैं कि- "स्त्री होने के कारण लिंग आधारित, दलित होने के कारण जाति आधारित और गरीबी के कारण वर्गगत शोषण के चलते तिहरे शोषण को झेल रही दलित स्त्री ने अतीत की घटनाओं को कभी क्रमबद्ध तरीके से तो कभी प्रसंगानुरूप सन्दर्भ के रूप में बड़े ही अनोखे ढंग से अभिव्यक्ति दी है।"[61]

डॉ. आंबेडकर ने इसी सामाजिक असमानता और शोषण के खिलाफ महिला सशक्तिकरण का जोरदार समर्थन किया था और उन्हें पारिवारिक और सामाजिक समानता दिलाने के लिए भरपूर प्रयास किया। डॉ. आंबेडकर का मानना था कि जिस देश में, समाज में, स्त्रियों का विकास नहीं होता वह देश कभी भी विकसित और खुशहाल नहीं हो सकता। इसलिए महिलाओं को समान अधिकार देने तथा उन्हें सशक्त बनाने के लिए सन् 1951 में उन्होंने 'हिन्दू कोड बिल' संसद में पेश किया था। डॉ. आंबेडकर का विश्वास था कि सही मायने में प्रजातंत्र तब आएगा जब पुरुषों के समान महिलाओं को भी पैतृक संपत्ति, घर-परिवार और समाज में बराबरी का हिस्सा मिले। यह तभी होगा जब उनमें भी शिक्षा और आर्थिक उन्नति का विकास होगा। भारत में नारी शिक्षा के लिये किये गये पहले प्रयास के रूप में महात्मा फुले ने अपने खेत में आम के वृक्ष के नीचे विद्यालय शुरु किया। यही स्त्री शिक्षा की सबसे पहली प्रयोगशाला भी थी, जिसमें सगुणाबाई क्षीरसागर व सावित्री बाई विद्यार्थी थीं। ज्योतिराव फुले का स्त्रियों

[61] दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृष्ठ सं.-14

के संदर्भ में मानना था कि समाज में स्त्री-पुरुष का दर्जा समान है और वे दोनों जन्म से ही स्वतंत्र हैं। चूँकि दोनों का निर्माता एक ही है इसलिए दोनों का सामाजिक अधिकार भी समान है। स्त्री को भी पुरुषों के समान राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक क्षेत्रों पर समान अधिकार है।

लोकतंत्र और शिक्षा के अधिकार से कुछ बदलाव तो आया है लेकिन पुरुषों की सोच एवं नजरिया में कोई विशेष फर्क नहीं आया। इसलिए गाँव हो या शहर स्त्री के प्रति पुरुष की धारणा अब भी इस समाज में हीन ही है। उसे पुरुष हमेशा अपने से कमतर ही मानता रहा है। सामाजिक बदलाव के साथ स्त्री ने शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला, राजनीति इत्यादि विभिन्न क्षेत्रों में अपनी सफलता का परचम लहराया है। फिर भी पुरुषवादी मानसिकता के कारण पुरुष उसे कानूनी समानता के बावजूद स्वतंत्रता और समानता का अधिकार देने से हिचकिचाता रहता है। राजनीति में तैंतीस प्रतिशत आरक्षण की मांग महिलाओं द्वारा बार-बार उठाना यह साबित करता है कि स्त्री अब भी बराबरी के अधिकार से वंचित है। फ्रांसीसी लेखिका सीमोन दी बोउआर का कथन पूर्णतः सत्य नजर आता है कि "दरअसल स्त्रियों के साथ सबसे बड़ी त्रासदी उनका स्त्री होना है। नई सामाजिक व्यवस्था में उनका अस्तित्व एक ऐसी स्त्री के रूप में प्रचलित हुआ है कि उन्हें अपने आपको 'अन्यानिष्ठ' और 'वस्तुनिष्ठ'मान लेने के लिए बाध्य होना पड़ा।"[62]

तब यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि ऐसे समाज में एक दलित स्त्री की दशा क्या होगी? वे सामाजिक स्तर पर कई तरह से शोषण की मार झेलती रहती हैं। पहला- पुरुष-स्त्री भेद के आधार पर, दूसरे-जाति के आधार पर और तीसरे स्वयं अपने ही दलित समाज के पुरुषों द्वारा भी अपमानित और उपेक्षित होने को विवश रहती हैं। कई लोग मानते हैं कि दलित स्त्रियाँ, सवर्ण स्त्रियों की तुलना में ज्यादा स्वतंत्र होती हैं। क्योंकि वे घर से बाहर निकलकर कहीं भी आ-जा सकती हैं। खेतों में काम कर सकती है और स्वछन्द जीवन जीती है। इस तरह की टिप्पणी करने या राय देने से पहले हमें हिन्दू समाज की संरचना को भी अपने ध्यान में रखना चाहिए कि किस मजबूरी की वजह से दलित स्त्रियां खेतों में या

[62] हिंदी दलित कथा-साहित्य : अवधारणाएं और विधाएं, पृष्ठ सं.-167

बाहर मजदूरी करने को विवश होती हैं। आखिर किस धर्म और व्यवस्था ने उन्हें घर से बाहर निकलने को मजबूर किया और सवर्ण स्त्रियों को घर के अन्दर रहने को विवश। आखिर कौन नहीं चाहता की उनकी भी जिंदगी ऐशो-आराम से कटे।

दलित आत्मकथाओं में और खास कर दलित स्त्री-आत्मकथाकारों ने स्त्री की संवेदना को व्यापक फलक में पूरी ईमानदारी के साथ वर्णन किया है। उसमें किसी भी तरह की कलात्मकता का समावेश नहीं है। ग्रामीण समाज में स्त्रियों की दशा का वर्णन करते हुए मोहनदास नैमिशराय कहते हैं कि-"गाँव में तो दलित समाज की महिलाओं पर खूब जुल्म और अत्याचार होता था। उसमें घासवालियों पर खूब कहर ढाया जाता था। उनके नाड़े वहीं खेतों में टूटते थे। उनके नाड़े तोड़ना सवर्ण अपना पैदाइशी अधिकार समझते थें।"[63] सामाजिक वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था में ऊपर होने के कारण सवर्ण लोग कुछ भी कर सकने को अपना अधिकार समझते थे। गाँव के साथ शहर की भी स्थिति अच्छी नहीं थी। शहर में रहने वाले दलित बस्तियों में दलित स्त्रियों के बारे में मोहनदास नैमिशराय बताते हैं कि "शहर की अन्य दलित बस्तियों की तरह हमारी बस्ती से भी ढेर सारी औरतें जंगल जाती थीं। उन्हें अकेला पाकर उनके शरीर को नोचने के लिए गिद्ध तैयार बैठे रहते थे। उनमें से कुछ बच जाती थीं तथा अपनी इज्जत गँवाए बिना भाग आती थीं।"[64]

दलित स्त्रियों के प्रति हेय दृष्टि केवल हिन्दुओं (सवर्ण) की नहीं थी, मुसलमान भी इसी रुढ़िवादिता से ग्रस्त थे। वे भी इन स्त्रियों को अपमानित करके अपने को ऊँचा समझते थे। किसी को भी बिना बात के गाली एवं अपशब्द कह देना अपनी शान समझते थे। "इनमें हिन्दू भी होते और मुसलमान भी। उनके संबोधन भी बड़े अजीबो-गरीब होते। अरी ओ चमारी, अरी ओ लंडूए की घरवाली, अगर कोई गोरी-चिट्टी हुई अरी ओ भूरी, काले रंग की हुई तो अरी ओ कल्लो, टांग ख़राब हुई तो लंगड़ी, आँख ठीक नहीं तो कानी, कुछ नाम वे स्वयं बना देते जैसे छमिया, झुनिया, फिरकनी।" [65] हिन्दू समाज

[63] अपने-अपने पिंजरे (भाग-2), पृष्ठ सं.-27
[64] अपने-अपने पिंजरे (भाग-2), पृष्ठ सं.-27
[65] अपने-अपने पिंजरे (भाग-2), पृष्ठ सं.-27

व्यवस्था के प्रभाव का असर मुस्लिमों पर भी था। दरअसल बहुत से हिन्दू जिन्होंने मुस्लिम धर्म को अपनाकर मुसलमान कहलाने लगे थे। ऐसे में धर्म तो बदल लिया लेकिन मानसिकता और व्यवहार को बदल नहीं पाए। जो अब तक लोगों के जेहन में उसी रूप में मौजूद है। इसिलए मुस्लिम समाज में भी दलित स्त्रियों की दशा वैसी ही है जैसे की हिन्दू समाज में। इसकी ओर ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी आत्मकथा में संकेत करते हैं कि जहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों में ही जातिगत भावना, उच्चता की भावना गहराई के साथ व्याप्त है। अगर कोई दलित स्त्री या पुरुष कभी साफ़-सुथरे कपड़े पहन लेता तो लोग उस पर कई तरह की आपत्तिजनक जातिगत टिप्पणियाँ करने से नहीं चुकते थें। जैसे – "अबे चूहड़े का, नए कपड़े पहन कर आया है। मैले-पुराने कपड़े पहन कर स्कूल जाओ तो कहते, 'अबे चूहड़े के, दूर हट, बदबू आ रही है।"[66] दोनों ही परिस्थितियों में उन्हें अपमानित होना ही पड़ता था। अगर वे इसका विरोध करें तो उनके साथ मार-पीट और क़ानून का भय दिखाकर चुप करा दिया जाता था। आर्थिक और राजनीतिक रूप से मजबूत होने के कारण पुलिस प्रशासन भी सवर्णों के आगे नतमस्तक होते थे।

जब सवर्ण परिवारों की स्त्रियों की हालत समाज में समान नहीं थी। घर-परिवार के मामलों में स्वतंत्र निर्णय लेने-देने का कोई अधिकार नहीं था। तब यह स्पष्ट अंदाजा लगाया जा सकता है कि दलित स्त्रियों की ऐसे समाज और परिवार में क्या स्थिति होगी? दलित स्त्रियों की पीड़ा को व्यक्त करती कौसल्या बैसंत्री कहती हैं कि- "मेरे उच्च शिक्षित पति, लेखक और भारत सरकार में उच्च पद पर सेवारत रहे। उन्हें ताम्रपत्र भी मिला है और स्वतंत्रता सेनानी का पेंशन भी। पति ने कभी मेरी कदर ही नहीं की बल्कि रोज-रोज के झगड़े, गालियों से मुझे मजबूरन घर छोड़ना पड़ा और कोर्ट केस करना पड़ा।"[67] यह किसी दलित अनपढ़ स्त्री की पीड़ा नहीं बल्कि एक शिक्षित स्त्री की पीड़ा है। ऐसी बहुत कम ही दलित स्त्रियाँ हैं जो उस समय लिख पढ़ पायी और शिक्षित हो पायी थीं। जबकि आज ऐसा नहीं है।

दलित स्त्रियों का अनपढ़ होने के बाद भी उनमें शिक्षा के प्रति जो सकारात्मक नजरिया है वह दलित आत्मकथाओं में देखा जा सकता है। वे देखती हैं कि शिक्षा के माध्यम से ही गरीब अपना

[66] जूठन (भाग-2), पृष्ठ सं.-13
[67] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-7

विकास कर सकता है। इसके लिए वे प्रयासरत भी दिखाई देती हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि के घर की आर्थिक हालात ठीक नहीं है। जहाँ मुश्किल से रोटी जुगाड़ हो पाता था, तो ऐसी हालत में भला पढ़ाई की बात कोई कैसे सोच सकता था? कलम-किताबों के लिए और स्कूलों में प्रवेश के लिए पैसे तो किसी भी हालत में चाहिए ही था। ऐसी परिस्थिति में वे रोते हुए घर आते हैं तो ये सब जानकार उनकी माँ और भाभी भी रोने लगती हैं। लेकिन शिक्षा के महत्त्व को समझते हुए ही लेखक की भाभी अपनी शादी के गहनों को बेचकर ओमप्रकाश को स्कूल में दाखिला करने का आग्रह करती हैं। ओमप्रकाश कहते हैं- "भाभी अलग बैठी सुबक रही थी। वैसे भी भाई की मौत ने उसे अलग-अलग सा कर दिया था। भाभी के पास गहनों के नाम पर चाँदी की एक पाजेब थी, जिसे वह हमेशा अपनी शादी के कपड़ों में सहेजकर रखती थी। माँ का रोना-धोना जारी था। भाभी ने अपना टिन का बक्सा खोला और वह पाजेब लाकर माँ के हाथ में रख दी।"[68] और यह कहते हुए कि 'इसे बेच कर लल्ला का दाखिला करा दो।' यह कोई छोटी-मोटी घटना नहीं थी। बल्कि इसी की वजह से आज ओमप्रकाश वाल्मीकि समाज और साहित्य में अपनी पहचान बना पाए। जबकि स्थिति ऐसी भी हो सकती थी कि पैसे के अभाव में वे पढ़ नहीं पाते और वो भी किसी अन्य दलित मजदूरों की तरह किसी सवर्णों के खेत में हरवाही या शहर में मजदूरी कर अपना पेट पालते हुए अन्य दलितों की तरह यातनाओं और कष्टों को झेलते रहते। एक स्त्री की सोच और त्याग ने उन्हें एक बड़ा साहित्यकार बना दिया। अतः ऐसी घटनाएँ दलित स्त्री के बौद्धिक सोच को हमारे सामने प्रस्तुत करती है।

जहाँ एक तरफ दलित स्त्रियों में शिक्षा के प्रति जागरूकता दिखाई देती है। वहीं दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियों के प्रति प्रतिरोध के स्वर और चेतना भी दिखाई देती है। बचपन में ओमप्रकाश वाल्मीकि के हाथों जबरदस्ती सूअर की बलि दिलवाने के कारण उनके माता-पिता के बीच मतभेद हो जाता है। क्योंकि वाल्मीकि इसके लिए तैयार नहीं रहते हैं लेकिन मजबूरी वश उन्हें करना पड़ता है। जिसकी ग्लानि और पीड़ा उन्हें परेशान करती है। इसलिए माता-पिता में झगड़े की नौबत आ जाती है।

[68] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-25

और "माँ ने साफ़ शब्दों में कह दिया था, 'ओमप्रकाश यह काम नहीं करेगा।' माँ ने जिस दृढ़ता से कहा था, पिता बाहर निकल गए थे।"[69] जिस काम का प्रतिरोध या विरोध दलित पुरुषों में दिखाई नहीं देता, वह एक स्त्री में दिखाई देता है जो उसे पुरुषों से दो कदम आगे ले जाकर खड़ा कर देती है। इससे पता चलता है की दलित स्त्रियों के अन्दर प्रतिरोध का स्वर कूट-कूट कर भरा हुआ है।

सवर्ण परिवार की स्त्रियों के बारे में ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि उनका भी व्यवहार दलितों के प्रति कुछ अलग नहीं था। अपनी आत्मकथा में कुलकर्णी परिवार का ज़िक्र करते हुए कहते हैं कि जब भी उनके घर कांबले आते हैं तो उन्हें मिसेज कुलकर्णी अलग कप में चाय देती हैं। इस विषय में जब वाल्मीकि अपने सहयोगी सुदामा पाटिल से पूछते हैं तो वह बताता है कि- "मराठी ब्राह्मण वह भी पूना के ब्राह्मण महारों को अपना बर्तन छूने नहीं देते इसलिए उनके अलग बर्तन रखे जाते हैं। चाय के जूठे कप मिसेज कुलकर्णी उठाने आई थीं, लेकिन कांबले का कप कुलकर्णी उठाकर ले गया।"[70] आधुनिकता और प्रगतिशीलता का दम्भ भरने वाले कुछ लोग आज भी इसी तरह की मानसिकता से ग्रसित हुए मिल जायेंगे। आज भी ऐसे बहुत से गाँव है जहाँ चौराहे और चौपाटी पर स्थित दुकानों में सवर्ण और अवर्ण के लिए चाय और पानी, पीने के गिलास अलग-अलग होते हैं। आजादी के 68 वर्ष गुजर जाने के बाद भी ऐसी परिस्थितियाँ ग्रामीण समाज में देखी जा सकती हैं।

दलित स्त्रियाँ जहाँ एक तरफ पारिवारिक और सामाजिक उत्पीड़न सहती हैं वहीं कुछ दलित स्त्रियाँ शिक्षा ग्रहण कर अपने परिवार की आर्थिक सहायता करते हुए खुशहाल जीवन भी व्यतीत करती हैं। शिक्षा के कारण ही मोहनदास नैमिशराय के भाई मदन गोपाल के परिवार की हालत काफी अच्छी स्थिति में रहती है। क्योंकि उनकी भाभी तो पढ़ी लिखी थी ही भाभी की माँ भी शिक्षिका थी। और "वे मिडिल स्कूल में प्रधानाचार्य थी। उन दिनों दलित परिवार से किसी महिला का स्कूल में पढ़ाना बड़ी बात थी। असल में आजादी से पूर्व ही भाभी के परिवार में पढ़ाई-लिखाई आरम्भ हो गई थी। उनके दादा मंत्री देविदास उत्तरी भारत में बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर के समानांतर दलित आन्दोलन चलाने वालों में आगे

[69] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-59
[70] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-115

की पंक्ति के समाजसेवी थे।"[71] दलित परिवारों में स्त्रियों का शिक्षित होना निश्चय ही ज्योतिबा फुले, डॉ. अम्बेडकर, रमाबाई और साबित्रीबाई के महिला आन्दोलन का ही प्रभाव था। इससे पता चलता है कि शिक्षा ही मनुष्य का सबसे बड़ा हथियार है जिसके द्वारा वह अपना विकास कर सकने में सक्षम हो सकता है।

दलित स्त्री के प्रति शोषण का चित्रण सूरजपाल चौहान भी अपनी आत्मकथा 'संतप्त' में करते हैं। अपने गाँव-समाज का चित्रण करते हुए कहते है कि ठाकुरों के लिए दलित स्त्री से अवैध सम्बन्ध बनाना अपनी शान समझते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें किसी भी प्रकार की छुआछूत की भावना आड़े नहीं आती। लेकिन अन्य कामों में उनके छूने से ही तमाम तरह की समस्याएँ पैदा हो जाती है। घृणा इस कदर करते हैं की उनकी परछाई से भी दूर भागते हैं। लेखक अपने गाँव के ठाकुर जयसिंह द्वारा अपने माँ के साथ जोर-जबरदस्ती करने का प्रतिकार करता है तो उलटे ठाकुर ही लेखक की माँ पर गलत आरोप लगाते हुए कहता है- "साली भंगनिया, झूठा आरोप लगाते लाज नहीं आती, ठाकुर होकर भला भंगिन से मुँह काला करेगा .... तुझे तो छूने भर से ही छूत लग जायेगी, खैर चाहती है तो चली जा यहाँ से।"[72] वहीं जयसिंह की पत्नी भी मुँह बिचकाते हुए कहती है- "अरे मेरी सौत चुहड़ी, तू ही पूरे गाम में एक हूर की परी है जो मेरों आदमी तेरे संग....।"[73] ऐसा नहीं है कि जयसिंह की पत्नी को अपने समाज के पुरुषों के कारनामों की हकीकत मालूम ना हो। लेकिन वह भी उन्हीं पुरुषों की तरह सवर्णवादी मानसिकता का परिचय देती है।

दलित परिवार और समाज के स्त्री के संघर्ष का यथार्थ चित्रण 'दोहरा अभिशाप' और 'शिकंजे का दर्द' में देख सकते हैं। स्त्री के विकास में केवल समाज ही आड़े नहीं आता बल्कि उसका अपना परिवार भी बहुत बड़ा बाधक बनता है। घर का पुरुष अनपढ़, अशिक्षित हो तो ऐसी स्थितियाँ समझ में आती हैं। क्योंकि सामाजिक रीति-रिवाज, अन्धविश्वास, धार्मिक-बाह्याडम्बरों को समझने की

[71] अपने-अपने पिंजरे (भाग-2), पृष्ठ सं.-61
[72] संतप्त, पृष्ठ सं.-25
[73] संतप्त, पृष्ठ सं.-25

चेतना उनमें पूरी नहीं होती है। लेकिन जब पुरुष सदस्य शिक्षित हों, उनकी बौद्धिक चेतना विकसित एवं तार्किक हो फिर भी उनका व्यवहार घर के स्त्रियों के प्रति असमानता और पुरुषवादी सोच की हो तो यह हैरान करने वाली बात बन जाती है। कौसल्या बैसंत्री और डॉ. सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा के माध्यम से कुछ ऐसी ही सच्चाईयों को समाज के सामने प्रस्तुत करती हैं। वे बताती हैं कि- 'जितनी गन्दगी समाज में है उतनी ही घर के अन्दर भी है। इसलिए हमें दोनों जगहों को साफ़ करने की जरुरत है।'

इन आत्मकथाओं की लेखिका दलित हैं ऐसे में उन्होंने दलित समाज और परिवार में दलित स्त्रियों की समस्याओं को करीब से देखा-सुना ही नहीं बल्कि उसे भोगा भी था और साथ ही उन्होंने भी उन्हीं परिस्थितियों से संघर्ष किया था। 'दोहरा अभिशाप' की लेखिका ने जिस ईमानदारी और प्रतिबद्धता के साथ अपने दलित समाज की स्त्रियों की पीड़ाओं, दयनीय स्थिति और संघर्ष को दिखाया, वह हमें सोचने पर विवश करती है। लेखिका केवल अपने समय की ही कथा नहीं कहती हैं बल्कि तीन पीढ़ी पहले की कथा कहती हैं जिसमें लेखिका की माँ और नानी (आजी) भी शामिल है। दलित स्त्रियाँ जिस मेहनत, मशक्कत, समझदारी और सहनशीलता के साथ घर-परिवार संभालती हैं, वह पुरुषों से कहीं बढ़कर है। लेकिन पुरुष समाज इसे हमेशा अनदेखा करता रहता है। कौसल्या बैसंत्री की माँ भागीरथी जहाँ एक तरफ अपने परिवार की हालत पर रोती है तो दूसरी तरफ हौसले के साथ उसका सामना भी करती है। लेखिका की माँ को हमेशा इस बात का दुःख रहता है कि उनके घर में ईश्वर हमेशा बेटियों को ही पैदा क्यों कर रहा है? इस सन्दर्भ में कौसल्या कहती हैं- "माँ हमेशा बाल धोते वक्त बुदबूदाती रहती थीं- 'देवा, मैंने ऐसा कौन-सा पाप किया था कि मेरे नसीब में लड़कियाँ ही लिखी है?' माँ ने लगातार पांच बेटियों को जन्म दिया।"[74] यह एक सच्चाई रही है कि भारतीय समाज में बेटियों का जन्म होना ख़ुशी की बात नहीं मानी जाती। इसके बावजूद भी कौसल्या की माँ सभी बच्चों के शिक्षा के लिए संघर्षरत रहती हैं। वहीं भागीरथी अशिक्षित, रुढ़िवादी और पूर्वाग्रही समाज से अपने सब बच्चों को

[74] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-11

बचाती हुई और बिना भेद-भाव के चाहे वह लड़का हो या लड़की सबको शिक्षा का बराबर अधिकार देती है।

हिन्दू समाज में बाल-विवाह एक बहुत बड़ी सामाजिक बुराई है। दलित समाज में तो यह और भी ज्यादा है जो अब भी गाँवों में देखी जा सकती है। इसका दंश स्त्रियों को आजीवन झेलना पड़ता है। कौसल्या बैसंत्री की नानी यानि आजी का विवाह बचपन में ही हो जाता है। और कुछ ही वर्षों बाद विधवा भी हो जाती है। चूँकि दलितों में विधवा विवाह का प्रचलन होने से उनकी शादी दुबारा एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति मोडकू (आजोबा) से हो जाती है। मोडकू पहले से ही शादी-शुदा तथा दो बच्चों का बाप रहता है। अतः घर में दो स्त्रियों के रहने से उनमें आपसी सम्बन्ध अच्छे नहीं रहते हैं। और घर का सारा काम आजी को ही करना पड़ता है। उस पर भी पति मोडकू हमेशा अपमानित और बात-बात पर पिटाई करता रहता है। फिर भी वह सब कुछ चुपचाप सहती रहती है। लेकिन जब एक दिन जब अपने बच्चे पर मोडकू का जान लेवा पिटाई करते हुए देखती है तो प्रतिरोध के स्वर तीव्र और असहनीय हो जाते हैं। इसलिए वे अपने बच्चे को लेकर घर छोड़कर नागपुर चली आती हैं। रास्ते में चलते वक्त एक बच्ची की मौत भी हो जाती है। बावजूद इसके वे नागपुर में आकर मेहनत मजदूरी करके अपने बच्चों का पालन पोषण करती हैं।

'दोहरा अभिशाप' में दलित स्त्रियों के ऐसे कई चित्र उभरकर आते हैं जो हमें सोचने को मजबूर करते हैं। ऐसा ही एक पात्र दसरया है जिसकी दो पत्नियाँ है। दूसरी पत्नी ठमी है जिसे हर वर्ष बच्चा पैदा होता है। दसरया ने कभी यह जानने की कोशिश नहीं की कि इस वजह से उसे कितनी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। गर्भवती होने के बावजूद भी ठमी घर का सारा काम करती है। जिसमें सबेरे खाना बनाना, बर्तन माँजना, झाड़ू, लीपना-पोतना, कपड़े धोना वगैरह-वगैरह कई तरह के काम शामिल है। वहीं बस्ती में सोगी नाम की औरत पशुओं को काटकर उनका मांस बेचने का काम करती है। जैसा कि यह पुरुषों का काम माना जाता है। दसरया इसी महिला से मांस खरीद कर घर लाता है। ठमी की हालत का ज़िक्र करती हुई कौसल्या कहती हैं कि- "ठमी मांस के लिए ढेर सारी मिरची पिसती थी। उसके

आँगन में ही मसाला पिसने का पत्थर पड़ा था। वह बहुत बारीक मसाला पिसती थी। गर्भवती रहती तब उसका पेट मसाला पिसते वक्त पत्थर से सट जाता था। हमने कभी उसे बैठते नहीं देखा था। सारा दिन कुछ-न-कुछ काम करती थी। प्रसूति के आखिरी दिन तक। एक बार वह मसाला पीसकर उठी और एक घंटे बाद हमने देखा की उसे बच्चा पैदा हुआ था।"[75] स्त्री की इससे बड़ी दुर्गति क्या हो सकती है। अशिक्षा के कारण और मर्दवादी मानसिकता ने सवर्ण क्या दलित पुरुषों के भी अन्दर से मानवता खत्म कर दी है। ऐसा ही दलित पुरुष पात्र जयराम है। जो आलसी,कामचोर और निखट्टू है। कोई-न-कोई दर्द का बहाना बनाकर काम-धंधा नहीं करता और अपनी बीबी रामकुंवर की कमाई खाता रहता है। कई तरह के नाटक रचना और पगार मिलने पर बीवी के आधे पैसे छीन लेना और उसे जुए तथा शराब में उड़ा देना ही उसकी आदत रहती है। ऐसी न जाने कितनी दलित महिलाएँ जो रोजाना अशिक्षा के अभाव में इसी समस्या से जूझती रहती हैं और सामाजिक पाखण्ड में बंधकर पतिव्रता का ढोंग करने को विवश हैं।

सवर्णों द्वारा दलित स्त्रियों के साथ अव्यावहारिक और शारीरिक शोषण तो वर्षों से चला आ रहा है जो एक दुखद स्थिति है। लेकिन सबसे बड़ी दुखद स्थिति तब हो जाती है जब दलित पुरुष उसका तिरस्कार या विरोध न करके सारा दोष अपनी ही स्त्री अर्थात् पत्नी पर दोषारोपण कर देते हैं। यह जानते हुए कि दोष उस अन्य सवर्ण पुरुष का है। ऐसी स्थिति में स्त्री आखिर क्या करे? लेखिका ऐसे ही एक घटना का ज़िक्र करती है, जहाँ सखाराम नामक दलित व्यक्ति द्वारा अपनी ही स्त्री को बदचलन का आरोप लगाकर उसे पूरे समाज के सामने नंगा करके, चप्पलों की माला पहना कर गधे पर बिठाकर पूरी बस्ती में घुमाया जाता है। जबकि सबको पता है कि गलती ईंट जोड़ने वाले राजमिस्त्री की है। कौसल्या बैसंत्री कहती है कि- "परंतु उसने अपनी औरत को ही डांटना शुरू किया, मारा और कहने लगा कि और औरतें भी वहाँ काम करती हैं, उन्हें वह कुछ नहीं कहता और तुम्हें ही क्यों छेड़ता है? तुम ही बदचलन हो, यह कहकर उसे रात भर घर के बाहर रखा। वह बिचारी घर के पीछे रात भर डर-डर के रही और सवेरे उसे गधे पर बिठाया गया। बस्ती से बाहर निकलने के बाद वह बेचारी झाड़ी में छिपी रही, क्योंकि उसके

[75] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-70

बदन पर पूरे कपड़े नहीं थे। रात में वह बस्ती के कुएँ में कूद गई। सवेरे उसका शरीर पानी के ऊपर तैर रहा था। उसके माँ-बाप आये और कहने लगे की इसने हमारी नाक कटवाई, अच्छा ही हुआ कि यह कुलटा मर गई।"[76] ऐसी घटनाओं के लिए सवर्णों से ज्यादा जिम्मेदार दलित समाज के पुरुष वर्ग हैं जो अपनी ही स्त्रियों का सम्मान और रक्षा नहीं कर पाता। इसलिए दलित-स्त्री को अपनी सामाजिक मुक्ति के लिए केवल अन्य समाज से ही नहीं लड़ना है उसे अपने घर-परिवार से भी लड़ना होगा।

4.3 हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त आर्थिक समाज की स्थिति-

अक्सर हम देखते हैं कि दलित साहित्य के चिंतन का दायरा मुख्यतः सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्र तक आकर सिमट-सा जाता है। आर्थिक प्रश्न गौण ही रह जाता है। जो दलित विमर्श की सबसे बड़ी कमजोरी है। अगर हम गौर करें तो पायेंगे कि हिन्दू ब्राह्मणवादी समाज के सारे धार्मिक प्रयत्न 'अर्थ' (पूँजी) को ग्रहण करने के केंद्र में रखकर ही किये गए हैं। दरअसल ब्राह्मणवादी नीति की सारी कोशिशें इसी 'अर्थ' को सामान्य जनता (दलित) से छिनकर उन्हें गुलाम बनाने की रही है। जिसके लिए उन्होंने 'वर्ण' और 'जाति' की संरचना की। आज अगर दलित दास है, गुलाम है, भूख से मर रहे हैं, आत्महत्या कर रहे हैं, शिक्षा से वंचित हैं, नारकीय जीवन को भोग रहे हैं तो इस 'अर्थ' के अभाव के कारण ही।

प्राचीन काल में दान देने और लेने का धार्मिक ग्रंथों में जो सिद्धांत ब्राह्मणवादियों ने रचा था वह इसी बात को ध्यान में रखकर ही रचा गया था, कि दलितों को आर्थिक रूप से कमजोर करके उस पर अपना प्रभुत्त्व और शासन स्थापित किया जाय। इसीलिए डॉ. आंबेडकर ने ब्राह्मणवाद के साथ-साथ पूंजीवाद का भी विरोध किया था। यह नहीं भूलना चाहिए कि ब्राह्मणवादी नीति का उद्देश्य केवल सामाजिक व्यवस्था में दलितों को नीचे की श्रेणी में लाना ही नहीं था बल्कि उन्हें उनकी पूँजी से भी वंचित करना था। आज अगर दलितों को जितनी सामाजिक समानता के हक की जरुरत है उतनी ही आर्थिक समानता की या कम से कम एक खुशहाल जीवन जीने भर की जरुरत तो अवश्य है। दलित

[76] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-73

साहित्य के अंतर्गत आर्थिक प्रश्न को लेकर डॉ. कँवल भारती कहते हैं कि- "दलित साहित्य की आर्थिक वैचारिकी क्या हो, इसको लेकर दलित चिंतन स्पष्ट नहीं है। दलित चिंतन का विकास आर्थिक धरातल पर उतना दिखाई भी नहीं देता, जितना वह सामाजिक लोकतंत्र के धरातल पर दिखाई देता है। आर्थिक सवाल उसमें एक तरह से उपेक्षित से हैं। वह रोजी-रोटी के सवालों को लेकर बहुत अधिक चिन्तित दिखायी नहीं देता। यह दलित चिंतन की कमी है, जिसे हमें पूरा करना होगा।"[77] देखा जाय तो दलित समाज के लोगों का संघर्ष ही रोजी-रोटी का रहा है। जिसके लिए वे हर तरह के गंदे से गंदे कार्य करने को आज भी मजबूर हैं। इसलिए दलित विमर्श के अंतर्गत हमें आर्थिक-समस्या के प्रश्न को भी केंद्र में रखना जरुरी होगा।

आर्थिक समस्याओं और उससे संबंधित सवालों को दलित आत्मकथाओं में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जहाँ पैसों के अभाव में दलित परिवारों को खाने की कमी, इलाज की असुविधा, रहने के लिए एक साधारण घर नहीं, पहनने को ठीक से कपड़े नहीं आदि जैसी कई समस्याओं से वह आजीवन जूझता रहता है। अगर दलित उचित शिक्षा प्राप्त कर भी ले तो फिर उसे कहीं आसानी से रोजगार नहीं मिलता है। दलित आत्मकथाओं के लेखक और लेखिकाओं को अक्सर ऐसी स्थितियों से गुजरना पड़ा है। स्त्री की पीड़ा तो 'अर्थ' पर ही टिकी हुई है। आर्थिक मजबूरियों के कारण ही वह पति का हर जुल्म और अत्याचार सहती रहती है। अगर वो अलग भी होना चाहे तो अलग नहीं हो सकती। क्योंकि हिन्दू समाज में मान्यता है कि कमाने का अधिकार या बाहर काम करने का अधिकार पुरुषों का ही रहा है और औरतें केवल घर के कामों के लिए ही बनी हैं। पुरुष ही परिवार का कर्त्ता-धर्त्ता, मुखिया, धन-संपत्ति, जमीन-जायदाद का अधिकारी रहा है। तब ऐसी स्थिति में स्त्री जाए तो कहाँ जाए?

दलित आत्मकथाओं में उपर्युक्त सारी समस्याओं को देखा जा सकता है। किस प्रकार धन दलितों के बीच फूट और वैमनष्य का भाव पैदा कर देता है। ग्रामीण-क्षेत्रों का सर्वेक्षण करें तो पायेंगे कि गाँव की सारी अर्थव्यवस्था कृषि पर ही आधारित होती है। सवर्ण हो अथवा दलित दोनों वर्गों का जीवन-

[77] दलित साहित्य : समग्र परिदृश्य, पृष्ठ सं.-30

यापन का आधार कृषि है। लेकिन कृषि के लिए जो जमीन चाहिए वह अधिक से अधिक भूस्वामियों अर्थात् सवर्ण जमींदारों के पास है और दलितों के पास नाम मात्र की। इसलिए दलित, जमींदारों के यहाँ हरवाह अथवा मजदूर बनने को विवश रहता है। हम सब जानते हैं कि वास्तविक सत्ता समाज के उन्हीं लोगो के पास होती है जिनके पास उत्पादन के साधन होते हैं। चाहे वह गाँव का जमींदार हो या शहर का उद्योगपति। इसी उत्पादन से अर्थ की प्राप्ति होती है। उस उत्पादन से जमींदार अपने पेट के साथ-साथ तिजोरियां भी भरता रहता है। उचित मजदूरी न मिलना अथवा आधे पगार पर काम करने के कारण दलितों को आर्थिक तंगी से लगातार जूझना पड़ता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी आत्मकथा में जमींदारों के शोषण के इन्हीं कारनामों का चित्रण करते हुए लिखते हैं कि- "फसल कटाई को लेकर अक्सर खेतों में हुज्जत चलती रहती थी। मजदूरी देने में ज्यादातर तगा कंजूसी बरतते थे। काटनेवालों की मजबूरी थी। जो भी मिलता, थोड़ी बहुत ना-नुकर के बाद लेकर घर लौट आते। घर आकर कुढ़ते रहते या तगाओं को कोसते रहते। लेकिन भूख के सामने विरोध दम तोड़ देता था। हर साल फसल कटाई को लेकर मोहल्ले में बैठकें होतीं। सोलह पुली पर एक पुली मजूरी मिलती थी। भरी से भरी पुली में एक किलो गेहूँ नहीं निकलता था। यानी दिन भर की मजदूरी एक किलो गेहूँ से भी कम।"[78] गाँव के सवर्ण समुदाय जो अधिकतर अमीर थे और दलित गरीब। ऐसा क्यों था? इस प्रश्न का जवाब देते हुए मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा में कहते हैं- "हम गरीब जरुर थे पर हमने न देश बेचा था न अपना जमीर। न हम डंडीमार थे और न ही सूदखोर। चोर लुटेरों की श्रेणी में हम नहीं आते थे। हमारे पुरखों ने घर बनाए, शहर बनाए पर न हमारे पास ढंग के घर थे और न बस्तियाँ।"[79] लेखक का यह कथन उस इतिहास की तरफ इशारा करता है जो आज की परिस्थितियों के लिए जिम्मेदार है। अगर दलित आर्थिक रूप से कमजोर है तो उसका कारण कहीं-न-कहीं ब्राह्मणवादी विचारधारा इसके मूल में है।

मनुष्य के जीवन निर्वाह के लिए आर्थिक संसाधन बहुत ही उपयोगी होते हैं। आर्थिक संसाधन के अंतर्गत जो मुख्य उद्योग आते हैं उनमें कृषि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है। डॉ. आंबेडकर उद्योगों के

[78] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-18
[79] अपने-अपने पिंजरे (भाग-2), पृष्ठ सं.-14

सन्दर्भ में कहते हैं कि- "मुख्य उद्योग महत्त्वपूर्ण तो हैं ही, परन्तु इन सबमें कृषि अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सबसे प्राचीन उद्योग है और अन्य सभी उद्योग, चाहे मुख्य हो या गौण, इस पर आधारित हैं।"[80] मुख्य उद्योग होने के नाते ही कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ मानी जाती है। इसी रीढ़ पर जमींदारों और भूस्वामियों का कब्ज़ा रहा और इसके बल पर दलितों का लगातार शोषण करता रहा। आज भी कृषि समस्या से दलित किसान रोजाना आत्महत्या करते हुए देखा जा सकता है।

दलित समुदाय में चमार जाति माने जाने वाले लोगों के लिए चमड़े का रोजगार निर्धारित है। एक तरह से उनका यह पैतृक पेशा भी है। और इस कार्य के कारण ही समाज में उन्हें अछूत एवं घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। लेकिन आज के समय में अपने आर्थिक लाभ और लालच के कारण इस पर सवर्ण व्यापारियों ने अपना कब्ज़ा जमा लिया है। जिसके वजह से दलितों की और ज्यादा दुर्गति हो गई। मोहनदास इस व्यथा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि- "दलित जाति के दस्तकार बड़ी लगन और मेहनत से फैंसी (सजावट वाली) चप्पल/सैंडल बनाया करते थे। बाज़ार में इनकी खूब मांग थी। इन्हीं को बेच-बेच कर न जाने कितने लाला/बनिए करोड़पति बन गए थे। पर दस्तकारों में उस समय लखपति भी कोई नहीं बन सका था। इन दस्तकारों को फी एक जोड़ी चप्पल पर एक रुपया ही मिलता था, सैंडल पर डेढ़ या दो रूपये मिल जाते थे। जबकि दुकानदार इन्हीं पर पाँच-दस रूपये कमाते थे।"[81] ध्यान देने वाली बात यह है कि यहाँ पर छुआछूत मानने वाले सवर्ण समुदाय के लोगों को आर्थिक लाभ के लिए छुआछूत या निम्न कार्य माने जानेवाले काम नजर नहीं आते। ऐसे समय पर उन्हें भारतीय संस्कृति, रीति-रिवाज, मान-मर्यादा के भ्रष्ट या खत्म होने का ध्यान नहीं रहता है। दलित समाज आर्थिक विपन्नता का दंश आज से नहीं हजारों वर्षों से झेलता चला आ रहा है। और इस भौतिकवादी युग में भी भूमंडलीकरण और बाजारवाद की मार से नहीं बच पा रहा है। यह सत्य है कि दलित समाज जातिगत भेदभाव का वर्षों से शिकार रहा है लेकिन आर्थिक समस्या भी उनके जीवन का प्रमुख केंद्र रही है। हम सब जानते हैं कि दलितों का बहुत बड़ा हिस्सा अभी भी ग्रामीण क्षेत्रो में ही निवास करता है। एक सर्वेक्षण के अनुसार-

[80] अम्बेडकर वांग्मय (खण्ड-2) पृष्ठ सं.-245

[81] अपने-अपने पिंजरे (भाग-2), पृष्ठ सं.-60

"दलितों की आज कुल जनसंख्या 17 प्रतिशत है। इनका 85 प्रतिशत भाग ग्रामीण अंचलों में रहता है। तथा उनकी विकास का मुख्य साधन कृषि ही है। दलितों के पास खेती के साधन तथा कृषि योग्य भूमि बहुत कम है, जिसके कारण लगभग 49 प्रतिशत दलित खेतिहर मजदूर है।"[82] जैसा कि हम जानते हैं कि लोगों का जीवन-यापन कृषि पर ही निर्भर है। लेकिन जब कृषि योग्य भूमि नहीं होगी तो वे अपना जीवन-निर्वाह कैसे करेंगे? परिवार की देखभाल कैसे करेंगे?

अगर हम प्रशासनिक क्षेत्रों की बात करें तो दलितों को संविधान द्वारा दिए गए रोजगार के अंतर्गत सरकारी नौकरियों में आरक्षण का कोटा भी स्वतंत्रता प्राप्ति के 68 वर्षों के बाद अब तक पूरा नहीं भरा गया है। नौकरियों के लिए पूर्ण योग्यता होने के बावजूद भी उन सीटों को किसी बहाने से नहीं भरा जाता या फिर कोटे की रिक्त सीटों का विज्ञापन ही नहीं निकला जाता और उसे किसी-न-किसी बहाने से रोक कर रखा जाता है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध दलित चिंतक एवं सामाजिक कार्यकर्ता गेल ओमवेट कहती हैं कि- "1979-80 में मण्डल आयोग की रिपोर्ट के आते यह साफ था कि 20 प्रतिशत ऊँची जातियों ने 70 प्रतिशत नौकरियों पर कब्जा कर रखा था और नौकरशाही के वर्ग 1 में उनका 90 प्रतिशत स्थानों पर कब्जा था। जिसे निम्नलिखित आंकड़ों के रूप में देखा जा हैं-

केन्द्र सरकार की सेवा में जाति समूहों का प्रतिनिधित्व

	अनुसूचित जाति तथा जनजाति	पिछड़ा वर्ग	अगड़ी जातियाँ	योग
वर्ग i	9,891 (5.68 %)	8,169 (4.69 %)	155,966 (89.63 %)	174,026 (100%)
वर्ग ii	165,982 (18.18 %)	97,063(10.63 %)	649,880 (71.19 %)	912,925 (100 %)
वर्ग iii और iv	118,282 (24.40 %)	91,975	274,430	484,687 (100 %)

[82] दलितों का इतिहास (अतीत एवं वर्तमान के आईने में), पृष्ठ सं.-288

		(18.98 %)	(56.62%)	
सभी वर्ग	294,115 (18.72 %)	197,207 (12.55%)	1,080,276 (68.73%)	1,571,638 (100%)

स्रोत- भारत सरकार, पिछड़े वर्ग आयोग की रिपोर्ट (मण्डल कमीशन, नई दिल्ली, 1981) खण्ड 2, पृष्ठ 92 ।"[83]

ठीक ऐसे ही आंकड़ें अन्य नौकरियों में भी देखने को मिलते हैं। जिसमें अब तक केवल "केन्द्रीय सरकार की नौकरियों में दलितों के लिए आरक्षित प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी के पदों में केवल क्रमशः 8.23 प्रतिशत, 10.47 प्रतिशत तथा 14.76 प्रतिशत स्थान ही भरे जा सके हैं। इसी प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र के प्रथम श्रेणी आरक्षित पदों में केवल 4.86 प्रतिशत तथा राष्ट्रीयकृत बैंकों में क्लर्कों तथा अधिकारियों के आरक्षित पदों में केवल 7.29 प्रतिशत ही भरे जा सके हैं।"[84] अतः ऐसे में दलित युवा बेरोजगारी में आर्थिक समस्या से ग्रसित रहते हैं। जिसका प्रभाव उनके परिवार पर भी पड़ता है। शिक्षित न होना, रोजगार न होना, के कारण ही दलितों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय रहती है। इसलिए खाने की समस्या उनके घर सदैव बनी रहती है। जिनका वर्णन दलित आत्मकथाओं में देखा जा सकता है। गाँव में जब सवर्णों के घरों में शादी का माहौल होता तो दलित समाज के लोग बहुत खुश होते थे। बच्चे अक्सर अपनी माँ से पूछते थे कि उनके (सवर्ण) घर ब्याह कब होगा? क्योंकि उनके यहाँ जो स्वादिष्ट भोजन बनता वो जूठन के रूप में दलित लोगों को दिया जाता था। मोहनदास समाज में ऐसी घटनाओं का ज़िक्र करते हुए कहते हैं कि - "शादी ब्याह के दिनों में हमारे चेहरे ख़ुशी से चमकने लगते थे। यह सोचकर कि भरपेट खाने को तो मिलेगा। हम उस दिन की कई-कई हफ्तों से प्रतीक्षा किया करते थे। मैं माँ से बार-बार पूछता- 'फलाने के घर पर ब्याह कब है , ढिमाके के यहां कब...?"[85] ये स्थितियाँ आजादी के बाद की थी। ऐसे में स्वयं ही यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि तब इसके पहले हजारों साल दलितों की स्थितियाँ कैसी रही होंगी? लोकतंत्र के समय सामाजिक स्थिति के कुछ इसी तरह का

[83] दलित और प्रजातान्त्रिक क्रांति, पृष्ठ सं.-322 और 324

[84] दलितों का इतिहास (अतीत एवं वर्तमान के आईने में), पृष्ठ सं.-288

[85] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-106

चित्रण ओमप्रकाश वाल्मीकि 'जूठन' में करते हुए बताते हैं कि आर्थिक समस्या के कारण ही "शादी-ब्याह के मौकों पर, जब मेहमान या बाराती खाना खा रहे होते थे तो चूहड़े दरवाजों के बाहर बड़े-बड़े टोकरे लेकर बैठे रहते थे। बारात के खाना खा चुकने पर जूठी पत्तलें उन टोकरों में डाल दी जाती थीं, जिन्हें घर ले जाकर वे जूठन इकट्ठी कर लेते थे। पूरी के बचे-खुचे टुकड़े, एक आध मिठाई का टुकड़ा या थोड़ी बहुत सब्जी पत्तल पर पाकर बांछे खिल जाती थीं। जूठन चटखारे लेकर खाई जाती थी।"[86] यह घटना स्वतंत्रता प्राप्ति के 15 साल बीत जाने के बाद की है। महात्मा गांधी द्वारा चलाये गए अछूतोद्धार के बाद भी इस तरह की प्रथा खत्म नहीं हो पा रही थी। इन्हीं सब कारणों से दलित समाज के लिए डॉ. अम्बेडकर राजनीतिक आरक्षण की मांग कर रहे थे और जिसका विरोध अन्य राजनेता जोर-शोर से कर रहे थे।

आर्थिक समस्या को लेकर प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' भी अपनी आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में बात करते हैं। किस प्रकार घर में चावल न होने के कारण एक बार खेतों में चावल सा दिखने वाला ढड़ायन जैसे विषाक्त खाद्य को जानकारी के अभाव में घर लाते हैं और उसे पकाकर सब लोग खा लेते हैं। बाद में धीरे-धीरे बेहोश होने लगते हैं। क्योंकि "ढड़ायन विषाक्त होती है, हमें इस बात का ज्ञान नहीं था। उसका शतांश भी चावल के साथ उदर में उतर जाता है तो अपना असर दिखाए बगैर नहीं रहता जबकि हमने तो निरी ढड़ायन यानि शुद्ध विष खा लिया था।"[87] इस तरह की घटनाएँ अति-पिछड़े इलाकों में अब भी देखी जा सकती हैं।

लोकतंत्र के बाद शिक्षा के अधिकार को प्राप्त कर बहुत से दलित शिक्षित हुए। लोगों ने बी.ए., एम.ए. तक की शिक्षा ग्रहण की। लेकिन इसके बाद भी कई लोग बेरोजगार की हालत में घूमते रहे और उन्हें नौकरी नहीं मिली थी। इसका कारण अब भी उच्च पदों पर आसीन अधिकारी उसी ब्राह्मणवादी मानसिकता से ग्रसित थे। उनका मानना था कि अगर ये भी नौकरी करने लगे तो फिर निम्न माने जाने वाले कार्यों को कौन करेगा? ऐसे में दलित योग्यता होने के बावजूद भी नौकरी के अभाव में गंदे कार्यों

[86] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-19
[87] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृष्ठ सं.-44

को करने के लिए मजबूर रहता था। "उन दिनों उत्तम बाबू चमारों में पाली के सबसे अधिक लिखे-पढ़े युवक थे। शायद वे इंटरमिडिएट पास कर चुके थे और आगे एम.ए. तक पढ़े थे। लम्बे पतले साइकिल के कैरियर में तीन-तीन पकी खालें बाँध कर वे छर्रा की पैंठ और अतरौली का बाजार कर आते थे।"[88]

कही-कहीं जातिगत हीनता भी उन्हें आर्थिक पेरशानी में डाल देता था। क्योंकि कुछ दलित इसी जातिगत हीनता से बचने के लिए अपने जातिगत पेशे को छोड़ देते थे जो उनके पारिवारिक जीविका के प्रमुख साधन होते थे। उनका मानना था कि इन्हीं कारणों से उन्हें समाज में अछूत और हीन माना जाता है जो सच भी था। ऐसे में दलित समाज में दो वर्ग बन जाते थे- एक जो गंदे कार्य करता और दूसरा वह जो नहीं करता। नतीजा यह होता कि न करने वाले वर्ग और भी आर्थिक तंगी के शिकार होने लगते थे। श्यौराज सिंह बताते हैं कि दो हिस्सों में बँटने के बाद तो दलितों की स्थिति और भी दयनीय हो जाती थी। क्योंकि "चमारों के दूसरे हिस्से में एक-दो घर जमीन वाले थे और अधिकांश लोग भूमिहीन थे। वे वर्षांत के चार महीनों में ही गाँव में रह पाते थे। बाकी सर्दी- गर्मी के आठ महीने वे भट्ठों पर ईंट पाथने गाँव से दूर चले जाया करते। इसलिए इनके घर चर्मकारों से भी अधिक उजड़े हुए रहते थे।"[89] हालत यह थी कि दलित मजदूर बनने के बाद भी अछूत रहता और उल्टे उनकी परिवार की आर्थिक स्थिति भी काफी ख़राब हो जाती। नतीजा यह रहा कि जातिगत भेदभाव से बचने के लिए दलितों का मजदूर बनने पर भी सामाजिक स्थितियाँ उनके लिए वैसी ही रहीं। उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

प्रो. श्यौराज सिंह बताते हैं कि गरीबी के कारण बचपन में ही उन्हें काम करना पड़ा। घर की आर्थिक तंगी के कारण पेट-पालने की समस्या प्रमुख थी। इसलिए वे माँ के साथ अपने दिल्ली वाली मौसी के घर आकर रहने लगते हैं। स्थितियाँ ऐसी थीं कि एक के कमाने से भी भूख की समस्या हल नहीं हो पाती थी। इसलिए वे छः-सात वर्ष की अवस्था में ही काम करने को विवश हुए। "मेरे लिए काम तलाशा गया था। मैं छ-सात वर्ष का बालक किसी तरह के कठोर काम करने में समर्थ नहीं था। अतः

[88] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृष्ठ सं.-41
[89] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृष्ठ सं.-41

फूलसिंह और मैंने बूट-पॉलिश करना सीखा। यह काम चंदौसी के दलित बच्चे आज भी करते हैं।"[90] लेखक यह संकेत करते हैं कि दलित बच्चों की जो स्थितियाँ आज से 42 साल पहले थी अब भी वह उसी तरह बनी हुई है। आर्थिक विकास होने के बावजूद भी दलित समाज का विकास नहीं हुआ। आखिर इसका कारण क्या है? इसी क्रम में श्यौराज सिंह नींबू बेचने का कार्य करते हुए अपनी पढ़ाई का काम भी जारी रखते हैं। कई सारी मुसीबतों को झेलते हुए, जीवन से संघर्ष करते हुए आगे बढ़ते हैं और आज जिस मुकाम पर हैं अब उन्हें आर्थिक समस्या जैसी कोई परेशानी नहीं है। यह सब शिक्षा के द्वारा ही सम्भव हो सका है जिसमें डॉ. अम्बेडकर का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

दलितों के घर में गरीबी का प्रकोप ऐसा था कि अगर बच्चा स्कूल भी जाना चाहता है या जाने का कोई संयोग भी मिलता है, तो घर के सदस्य ही उसे जाने नहीं देना चाहते। क्योंकि अगर वह पढ़ने जाने लगा तो फिर उसके माध्यम से जो घर में थोड़ी-बहुत आर्थिक सहायता प्राप्त होती है वह भी मिलना बंद हो जाएगा और खाने के लाले पड़ जायेंगे। प्रेमपाल सिंह यादव जब श्यौराज की माँ से श्यौराज को अपने घर पर रखकर पढ़ाने की बात करता है, तो माँ चाहती है कि श्यौराज न जाए। इस घटना के बारे में प्रो. श्यौराज सिंह कहते हैं कि- "वह चाहती थी कि मैं स्कूल जाने का मन नहीं बनाऊँ। क्योंकि स्कूल जाने लगा तो मजूरी से मिलने वाले तीन-चार रूपये घर में आना बंद हो जायेंगे और गुजारा करना मुश्किल हो जायेगा।"[91] ऐसे अब भी कई दलित बच्चे हैं जो अपनी घर की आर्थिक हालत के कारण ही बीच में पढ़ाई छोड़कर दिल्ली, मुम्बई, सूरत, पंजाब, हरियाणा, और बंगलौर आदि कई शहरों में रोज जाते रहते हैं। गाँव के दलित बच्चों की स्थितियां ऐसी होती है कि अगर दसवीं-बारहवीं तक पढ़ भी लिया तो आगे पढ़ाई का खर्च उठा नहीं पाते और कई तमाम घरेलू समस्याओं के कारण उन्हें बीच में ही पढ़ाई छोड़नी पड़ती है। आर्थिक-भाव में दलितों को जो गुलामी सहनी पड़ती है उसकी पीड़ा वही जानता है। दिनभर काम करने के बाद भी जब खाने को भरपेट खाना नहीं मिलता, उस पर भी जब व्यक्ति दलित के साथ अंधा- लंगड़ा हो तब उसकी स्थिति क्या होती होगी? श्यौराज के गंगी बब्बा इसी अंधेपन के

[90] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृष्ठ सं.-75

[91] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृष्ठ सं.-309

शिकार थे। इसलिए वे श्यौराज से कहते हैं कि- "ऐसो कछु जरुर करो जातें तुम्हारी जिंदगी हमारी तरह की गुलमई में न कटे। पढ़ सके तो पढ़। स्कूल जाने को मौको मिलो है तो वाको फादा उठाओ जाइ कै नाँय।"[92]

मोहनदास नैमिशराय भी दलित परिवार और समाज की आर्थिक स्थिति का ज़िक्र अपनी आत्मकथा 'अपने- अपने पिंजरे' में करते हैं। जब अपने विद्यालय में दलित गरीब बच्चों को ठंडी के समय में सुबह-सुबह बिना कपड़ों के ही स्कूल में आते हुए देखते हैं, तो बहुत दुखी होते हैं। ग्लानि से पूरी तरह भर जाते हैं। कई सारे सवाल उनके मन में उठने लगते हैं कि आजादी के बाद भी दलितों की आर्थिक स्थिति सामान्य नहीं हुई है। वे सोचते हैं कि- "एक हमारे सेठ हैं जिनके कुत्ते भी वातानुकूलित कमरों में रहते हैं, जिनके पास बीस-बीस कारे हैं। बंगले में नौकर-चाकरों की फौज है। दूसरी ओर गाँव में बिना छत के मकान, बिना कपड़ों के बच्चे और बिना सम्मान के गुलामों की तरह जीते हुए लोग। यह कैसी सृष्टि है, अनमेल समाज किसने बनाया, विषमता की बेल क्यों बढ़ रही है, आदमी-आदमी के बीच इतना अधिक अंतर, यह सब कब समाप्त होगा?"[93] ऐसे कई सवाल न जाने कब से अब तक मौजूद हैं। सरकार आर्थिक आकड़ों की तस्वीर जिस आधार पर पेश करती है और सभी के खुशहाली के जीवन को बयान करती है। वह कितना सच है इस तरह के हालातों को देखकर अंदाजा लगाया जा सकता है। अमीरों के आधार पर जीडीपी तय कर देश की समृद्धि को नापने वालों के सामने यह एक घिनौना सच है, जिसकी तस्वीर मोहनदास नैमिशराय दिखाते हैं।

दूसरी तरफ पैसों के अभाव में स्वास्थ्य संबंधी चिंताएँ दलितों को हमेशा घेरे रहती है। घर में अगर कोई सदस्य बीमार पड़ जाए तो उसके इलाज के लिए पैसे कहाँ से आये? इसी अस्वस्थता और ईलाज के अभाव में कई बच्चे मृत्यु के गोद में समा जाते हैं। कौसल्या बैसंत्री 'दोहरा अभिशाप' में बताती हैं कि दलित बस्ती की हालत ख़राब होने के कारण चारों तरफ गंदगी फैली रहती। जिसके कारण वे कई तरह की बीमारियों के शिकार हो जाते थे। जिससे बच्चों की मृत्यु ज्यादा होती। पैसे कमाने के

[92] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृष्ठ सं.-310

[93] अपने-अपने पिंजरे (भाग-2), पृष्ठ सं.-138-139

लिए घर के बड़े लोग नौकरियों पर चले जाते। जिससे बच्चे की उचित देखभाल नहीं हो पाती थी। कौसल्या इस ओर संकेत करती है कि- "बस्ती में छोटे बच्चों की मृत्यु ज्यादा होती थी। बीमारी की हालत में भी माँ-बाप उसे घर में किसी बड़े व्यक्ति के (जैसे सास या ससुर के) भरोसे छोड़कर जाते थे क्योंकि काम पर न जाने से उन्हें पैसे नहीं मिलते और खाने के लाले पड़ते थे।"[94] सरकार भी इस सन्दर्भ में कोई कदम नहीं उठाती है या फिर उठाती है तो सिर्फ कागजों पर ही पूरा हो जाता है।

सरकारी कमियों की पोल कौसल्या बैसंत्री अपनी आत्मकथा में कई तरह से खोलती हैं। किस तरह सरकार अमीर और गरीब में भेद करती है। दलितों के स्वास्थ्य-संबंधी हालत का ज़िक्र करती हुई कहती हैं कि उन्हें पीने के लिए ठीक पानी भी उपलब्ध नहीं हो पाता है। शहरों में गरीब (दलित) कैसे लगातार जल-संकट से ग्रस्त रहता है। शहरी दलित लोगों का वर्णन करती हुई कहती हैं कि- "बस्ती में चालीस-पचास घरों के के लिए एक नल होता था। बस्ती काफी बड़ी थी। नल सबेरे पाँच बजे खुलता था और आठ बजे बंद हो जाता था। शाम को फिर साढ़े पाँच खुलता और सिर्फ दो घंटे ही खुला रहता था। गर्मी के दिनों में तो सिर्फ एक-डेढ़ घंटे ही पानी आता था।"[95] इन समस्याओं के प्रति सरकार और प्रशासन का किसी भी तरह ध्यान नहीं जाता है। न ही इन दलितों की समस्याओं से इन्हें लेना-देना था। आज भी दिल्ली और मुम्बई जैसे महानगरों में गरीबों की हालत कुछ ऐसी ही है जिनमें से दलित समुदाय ही ज्यादा प्रभावित हैं।

कई बार दलितों की अज्ञानता भी उन्हें आर्थिक परेशानी में डाल देती हैं। जिसे वे ईश्वरीय प्रभाव या भाग्य का लेखा-जोखा मानकर सहते रहते हैं। मजदूर होने के कारण कम कमाई से घर की परिस्थितियाँ सुधर नहीं पाती। अगर सुधरती भी है तो अचानक कुछ ऐसी घटनाएं हो जाती हैं, जिससे स्थिति पहले की तरह ही फिर से हो जाती है। इस ओर संकेत करती हुई कौसल्या अपनी बड़ी बहन के परिवार की स्थिति का वर्णन करती हैं कि- "बड़ी बहन की आर्थिक स्थिति बहुत ख़राब हो रही थी। उसके पति दो-तीन बार बहुत बीमार हुए और डाक्टरों की फीस और दवाइयों पर काफी पैसा खर्च हुआ

[94] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-32
[95] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-36

था। बहन को हर दूसरे वर्ष बच्चे होते थे। पहली लड़की हुई, बाद में तीन लड़के हुए थे। तीनों बीमार होकर चल बसे। बहन को ग्यारह बच्चे हुए थे और वे बराबर बीमार रहती थी। डॉक्टर की फीस और दवाइयों के खर्च से उनकी स्थिति बहुत ख़राब हो गई थी।"[96] ऐसी समस्याओं के लिए दलित भी स्वयं जिम्मेदार थे। गाँवों में ऐसी स्थितियाँ अब भी देखने को मिल जायेंगी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी ग्रामीण समाज का विकास उस स्तर तक नहीं हुआ जो अब तक हो जाना चाहिए था। गाँवों के विकास के लिए कई स्तर पर सरकारी आर्थिक योजनाएँ चलाई जाती हैं। लेकिन उच्च तथा छोटे अधिकारी मिलकर सारे पैसे हजम कर जाते हैं। ऐसी स्थिति में गाँवों का विकास कैसे हो? गरीब अगर इसकी शिकायत भी करें तो कोई सुनने वाला भी नहीं। रमाशंकर आर्य अपनी आत्मकथा 'घुटन' में अपने गाँव की समस्या की ओर संकेत करते हैं कि- "आजादी के अर्द्धशतक गुजर गये, पर आज भी यह गाँव सभ्यता की रोशनी की बाँट जोह रहा है। प्रधानमंत्री सड़क योजना युद्ध स्तर पर लागू है पर इसे विडम्बना ही कह लीजिए कि इस गाँव में सड़क की कौन कहे, इसके निशान भी नहीं मिल पायेंगे।"[97] कुछ इसी तरह आज 'मनरेगा' का भी हाल है। जिसका अधिकतर पैसा ठेकेदार और अधिकारी लोग मिलकर खा जाते हैं और मजदूरी में शामिल अधिकतर दलित पूरा पैसा नहीं पाते। चार दिन का पैसा देकर रजिस्टर पर दस दिन का हस्ताक्षर करवा लिया जाता हैं और मजबूरी में उन्हें यह सब करना पड़ता है। अगर ये शिकायत भी करते हैं तो सरकार इन पर कोई ध्यान नहीं देती और न ही किसी तरह की जाँच-पड़ताल ही करती है। और तो और ठेकेदार शिकायत करने वाले को हटाकर उसकी जगह अन्य मजदूर को रख लेता है। ऐसे में कोई शिकायत भी नहीं करना चाहता है।

आज शिक्षा के द्वारा प्राप्त रोजगार और सरकारी नौकरियों के माध्यम से कुछ दलितों की आर्थिक स्थितियाँ सुधर रही हैं। वे भी इसके द्वारा एक सम्मानजनक जीवन रहे हैं। लेकिन वहीं बहुत से युवा शिक्षित होते हुए भी बेरोजगार घूम रहे हैं। सरकारी नौकरियों में या तो उनके लिए सीटें नहीं निकलती या फिर निकलती भी हैं तो अयोग्यता की मोहर लगाकर उन्हें बाहर का रास्ता दिखा दिया

[96] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-50
[97] घुटन, पृष्ठ सं.-12

जाता है। इस तरह के कई प्रसंग 'घुटन' में हमें देखने को मिलते हैं। दलितों के प्रति भेदभाव का ज़िक्र करते हुए रमाशंकर आर्य बताते हैं कि- "उच्च शिक्षा में आरक्षण के प्रावधान के बाद भी कालेज के शासी निकाय अथवा विश्वविद्यालय के अधिकारी वैसे ही विषयों के पद पर आरक्षित करते हैं, जिस विषय में दलित-आदिवासी उम्मीदवार उपलब्ध नहीं हों। जैसे- उर्दू, अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, अंग्रेजी, बांग्ला, पर्सियन आदि-आदि। और यदि इन विषयों के भी दलित आदिवासी उम्मीदवार उपलब्ध हो जाते हैं, तो फिर अंकवार की शर्त लगा दी जाती हैं। और यदि यह भी शर्त पूरी कर दी जाती है, तब वेट, नेट और पी.एचडी. का झमेला खड़ा कर दिया जाता है।"[98] इस तरह के अवरोधों के कारण ही दलित प्रायः उच्च पदों पर योग्यता होने के बावजूद भी नहीं पहुँच पाते हैं और उन्हें छोटे पदों पर ही काम करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

रूपनारायण सोनकर अपनी आत्मकथा 'नागफनी' में दलितों की दशा का चित्रण करते हैं कि उनके पास खेत-खलिहान नहीं थे, क्योंकि उनके पूर्वजों के पास जमीन-जायदाद ही नहीं थी। यही हाल पूरे गाँव की दलितों की सच्चाई थी। जो आज भी उसी रूप में देखा जा सकता है। दलितों की आर्थिक समस्या का सबसे बड़ा कारण उनके पास उचित जमीन का न होना भी रहा है। इसी कारण से वे जमींदारों और सवर्णों के यहाँ गुलाम और मजदूर बनने को विवश हुए। सोनकर बताते हैं कि- "देहातों में भयंकर गरीबी है। जिनके पास खेती नहीं है वे दूसरे के खेतों पर मजदूरी करके अपना व अपने परिवार का भरण पोषण करते हैं। बड़ी मुश्किल से दो वक्त की रोटी जुटा पाते हैं। भूखे-प्यासे रहकर भी दबंग लोगों की बेगार करनी पड़ती है।"[99] वहीं अगर दलित पढ़-लिखकर बड़े अधिकारी पद की नौकरी प्राप्त करना चाहता है तो उसके राह में कई तरह के बाधा उत्पन्न किये जाते हैं। सोनकर जब आई.ए.एस. की परीक्षा के लिए अपने सीनियर कर्मचारी से लीव विदाउट पे पर छुट्टी की मांग करते हैं तो उनकी छुट्टी मंजूर नहीं की जाती। सवर्ण सीनियर कर्मचारी अन्य सवर्ण कर्मचारियों से कहता है- " साले! खटिक कलेक्टर बन गए तो सब्जी कौन बेचेगा? इसका दिमाग ख़राब हो जाएगा। यह हमसे अपने को बड़ा मानने लगेगा। इन

[98] घुटन, पृष्ठ सं.-27
[99] नागफनी, पृष्ठ सं.-110

दलितों को आप सर पर बैठा रहे हैं। कार्यालय में इसकी औकात बढ़ जायेगी, इसकी औकात बढ़ने का मतलब है हमारी औकात का घट जाना।"[100] दलितों के प्रति इस तरह का व्यवहार की घटना कोई आश्चर्य की बात नहीं है और इस तरह से उनकी आर्थिक प्रगति को लगातार रोकने की कोशिश की जाती है।

आर्थिक स्थिति की समस्या का चित्रण सूरजपाल चौहान भी करते हैं। चूँकि वे भंगी जाति से सम्बन्ध रखते हैं इसलिए अपनी आत्मकथा 'तिरस्कृत' में भंगी जातियों की स्थिति का वर्णन करते हुए बताते हैं कि भंगी जाति के लोग दलितों में भी दलित समझे जाते थे। इसलिए अन्य दलित लोग इन्हें घृणा के भाव से देखते थे। क्योंकि भंगी गन्दगी की सफाई करते थे, जिसे अत्यंत निकृष्ट कार्य माना जाता था। उनके घर की हालत ऐसी रहती थी की खाने के लिए जूठन तक पर निर्भर रहना पड़ता था। जब भी सवर्णों के घरों में शादी-ब्याह या कोई भोज का कार्यक्रम रहता, तो भंगी समुदाय के लोग खुश रहते की आज स्वादिष्ट और भरपेट भोजन मिलेगा। लेकिन वह भोजन उन्हें जूठन के रूप में प्राप्त होता था। लोगों के खाने के बाद पत्तलों में बचा जूठन। यह कितनी हृदयविदारक स्थिति होती थी। आर्थिक तंगी और भूख की आग ने इसे भी एक पारंपरिक कर्म के रूप में भंगियों के समाज में स्थापित कर दिया था। सूरजपाल चौहान बताते हैं कि बचपन में अपने माँ के साथ गाँव के ही सवर्ण राधे लोधे की लड़की की शादी में जूठन बटोरने जाते हैं। जूठन उठाने के क्रम में हमारा कुत्तों से कई बार झगड़ा भी हो जाता। क्योंकि वे भी अपना हिस्सा के लिए आस-पास मंडराते रहते। स्थिति ऐसी हो जाती की कुत्तों और मनुष्यों में कोई फर्क ही नहीं रह जाता। "पर जब रूखे-सूखे निवालों के भी लाले हों और आदमी-आदमी के हाथों नारकीय जीवन ने को विवश हो, तब वह स्वयं में और पशुओं में अंतर नहीं कर पाता। लगभग ऐसी ही स्थिति हमारी थी।"[101] संसार में शायद ही कोई ऐसा समाज हो जहाँ इस तरह की प्रथा या लोगों की हालत हो कि उनका जीवन जूठन पर भी आश्रित रहता हो। लेकिन इस महान हिन्दू समाज के अंतर्गत ऐसी भी स्थितियाँ देखने को मिलती हैं।

---

[100] नागफनी, पृष्ठ सं.-112

[101] तिरस्कृत, पृष्ठ सं.-19

समय के साथ सामाजिक बदलाव ने आर्थिक समीकरण को भी बदला। परिस्थितियाँ ऐसी हो गई कि अब पैसों के लिए सवर्ण भी गंदे माने जाने वाले कार्य को आसानी से करते हैं। यहाँ सारी घृणा खत्म हो जाती है बशर्ते अगर उस कार्य के पैसे अधिक मिले तो। एक व्याख्यान के दौरान सूरजपाल कहते हैं कि- "आज के युग में कोई ब्राह्मण सफाई-मजदूर का कार्य करने को तैयार होगा? कतई नहीं। हाँ, यदि सफाई-मजदूर कार्य में मजदूरी बीस-पच्चीस रुपए प्रतिदिन के स्थान पर हज़ार रुपए के हिसाब से मिलने लगे, तो शायद इस देश के ब्राह्मण व् तथाकथित सवर्ण सफाई-मजदूर का कार्य करने को तैयार हो जाएँ। दलितों का आर्थिक व सामाजिक दोनों ही स्थानों पर भरपूर शोषण हुआ है।"[102] देखा जाय तो आज यह बात सच साबित हो रही है। समय परिवर्तन के साथ सवर्ण भी पैसों के लालच में यह काम करते हुए देखे जा सकते हैं।

आजादी के पूर्व दलितों की आर्थिक स्थिति तो और भी अत्यंत दयनीय थी। जमींदारी प्रथा के कारण दलितों की हालत बहुत ही बुरी थी। भूमिहीन होने के कारण दलितों को जमींदारों की जमीनों पर ही खेती करनी पड़ती थी। बदले में जमींदार कई तरह के शोषण और अत्याचार करतें। अंग्रेज सरकार में कोई भी आर्थिक विपदा की मार सीधे दलितों के ऊपर ही पड़ती थी। माता प्रसाद अपनी आत्मकथा 'झोपड़ी से राजभवन' में बताते हैं कि दलित जो किसान का काम करते थे। उन "किसानों को खेतों के लगान के अतिरिक्त और कई तरह के टैक्स देने पड़ते। यदि उसने नया मकान बनवाया, भैंस खरीदी, नांद गाड़ी तो उसका टैक्स देना पड़ता। अवध के इलाकों में तो अनेकों प्रकार के टैक्सों से किसानों का शोषण हो रहा था, अगर जमींदार ने नया मकान बनवाया, हाथी ख़रीदा, घोडा ख़रीदा, लड़की-लड़के की शादी किया, अफसरों की दावत किया, कोई पूजा-पाठ या उत्सव किया तो उसका सारा खर्च किसानों से ही वसूल किया जाता था। कोई सुनने वाला नहीं था। किसान की आर्थिक स्थिति दयनीय थी।"[103] ऐसे में हम अंदाजा लगा सकते हैं कि उनके परिवार की हालत क्या होती होगी?

---

[102] तिरस्कृत, पृष्ठ सं.-99

[103] झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ सं.-15

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दलित समाज के आर्थिक समस्या के कारणों में कहीं-न-कहीं अपने बच्चों को न पढ़ाना भी एक प्रमुख कारण था। दलित समाज में ऐसे कुछ ही परिवार होते थे जो अपने बच्चों को स्कूल भेजते थे और नतीजा यह होता कि पढ़-लिख कर नौकरी मिल जाने के कारण उनकी घर की हालत अच्छी हो जाती। लेकिन ऐसा बहुत कम होता। उस समय सरकार द्वारा दलित बच्चों को स्कूलों में स्कालरशिप (वजीफा) भी दी जाती थी तथा पढ़ाई के लिए प्रोत्साहित भी किया जाता था। लेकिन दलित अभिभावक ज्यादा रूचि नहीं लेते। माता प्रसाद कहतें हैं कि दलितों के अन्दर "दूसरी बुराई अपने बच्चों को न पढ़ाना था। लड़कों से बकरी या पशु चरवाना, तपनी के लिए लकड़ी बिनवाना, तम्बाकू चढ़वाना और घरेलू काम लेना पसंद था। यद्यपि उस समय प्राइमरी स्कूलों में फीस माँफ थी। कुछ को वजीफा भी मिलता था परन्तु पढ़ाने में कोई रूचि नहीं रखते थे।"[104] दरअसल उनके समाज में ही शिक्षा का कोई मोल नहीं था। क्योंकि उनके अन्दर यह बात बैठा दी गई थी कि ईश्वर ने उन्हें पैदा ही दूसरों (सवर्णों) की सेवा करने के लिए किया है। और जो वे इस तरह की गरीबी और बदतर हालत में जीवन जीने को मजबूर हैं, यह सब उनके पूर्व जन्मों के कर्मों का फल है। उन्होंने जरुर पिछले जन्म में गलत काम किए होंगे जिसकी सजा भगवान उसे इस जन्म में दे रहा है। अतः इसे ईश्वर का प्रभाव ही माने।

देश में सरकार द्वारा आर्थिक योजनाओं में खाद्यान्न के समस्याओं पर काफी गंभीरता से विचार किया जाता। जिससे देश का कोई भी व्यक्ति भूख की समस्या से न मरे। इसके लिए कई कारगर योजनाएँ भी चलाई जाती हैं। 'मुर्दहिया' आत्मकथा में प्रो. तुलसीराम दलितों के जीवन की एक बहुत बड़ी सच्चाई को प्रस्तुत करते हैं और बताते हैं कि ग्रामीण समाज में खासकर दलितों में खाद्यान्न की समस्या का हल रुपया-पैसा न होकर खाद्यान्न (अनाज) ही होता था। एक-दूसरे से अनाज और सामान की अदला-बदली से अपनी जरूरतों के सामान की पूर्ति की जाती थी। "हमारी दलित बस्ती में बहुत गरीबी थी, पैसा देकर कुछ खरीदना बड़ा मुश्किल पैदा कर देता था, इसलिए सबकुछ अनाज देकर ही

[104] झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ सं.-35

लिया जाता था। घर में ढिबरी जलाने के लिए मिट्टी के तेल से लेकर मिर्च-मसाला तक अनाज देकर ही ख़रीदा जाता था। परिणामस्वरूप अधिकतर दलितों के घर खाद्यान्नों की चक्रीय कमी हमेशा प्रस्तुत होती रहती थी।"[105] कारण यह था कि लोग अधिकतर जमींदारों की हरवाही या मजदूरी करते थे। जिसके बदले में उन्हें पैसों की जगह अनाज ही दिए जाते थे । इसलिए लेन-देन का काम भी अनाज के माध्यम से ही होता था।

आर्थिक समस्या की मार के कारण दलित लोग स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ भी अलग तरह से सुलझाते थे। पैसों के अभाव में डाक्टरों के पास तुरंत जाना संभव नहीं रहता था। जब खाने की ही समस्या रहती तो इलाज की बात ही छोड़िए। इसलिए ये अपना इलाज आयुर्वेदिक यानी पेड़-पौधे की पत्तियों एवं बीजों से अथवा मृत जानवरों से करते थे। छोटे-मोटे इलाज इन्हीं तरीकों से किये जाते थे। जो अब भी ग्रामीण इलाकों में या सड़क छाप बाबाओं के पास मिल जाते हैं। यह पूरी तरह ठीक तो नहीं था लेकिन इसके अलावा उनके पास चारा भी तो नहीं रहता था। प्रो. तुलसीराम कहते हैं कि कैसे उनकी दादी पलाश के बीजों से पेट में होने वाले केचुओं या कीड़ों को बाहर निकालने में प्रयोग करती जो कारगर भी होती। उस समय "जब भी साही मारी जाती, दादी उसकी अंतड़ियों पोटीयों को खूब साफ करवाकर पानी में धुलवा लेती और सूखने के बाद ये अंतड़िया सुखी लकड़ी की तरह चटा चट टूट जातीं। दादी इन्हें सींग में भरकर रख लेती जब किसी का पेट दर्द करता, थोड़ी सी अंतड़ी-पोटी तोड़कर उसे सिल पर दो चम्मच पानी डालकर वही रस बनाकर सुतुही से पिला देती। पेट दर्द तुरंत बंद हो जाता।"[106] अगर इस तरह का इलाज पद्धति आज के लोगों का कर दिया जाय तो उल्टी करते-करते उनकी जान निकल जाएगी। मार-पीट झगड़ा अलग से। लेकिन दलितों को उनकी गरीबी ने उन्हें यह सब सहन करने को सीखा दिया था।

प्रो. तुलसीराम केवल अपनी जाति की समस्याओं तक ही सीमित नहीं रहते। वे उन दलित समुदायों के आर्थिक हालातों का भी ज़िक्र करते हैं जो ब्राह्मणवादी संस्कृति के कर्म-सिद्धांत में भूख से

[105] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-33
[106] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-49

तड़पने को मजबूर हैं। इनमें बाल काटने वाले नाइयों, कपड़े धोने वाले धोबियों के साथ मुसहरों और नटों के जीवन को देखा जा सकता है। इनके भी परिवार और समाज की हालत चमार दलितों की तरह होते। प्रो. तुलसीराम कहते हैं कि- "उस क्षेत्र के करीब एक दर्जन गाँवों के बाल काटने का काम वही नाई परिवार करता था तथा धोबी इन सभी गाँवों के लोगों के कपड़े धोते थे। हैरत में डालने वाली परम्परा यह थी कि ये सभी सारा काम मुफ्त में करते थे। मजदूरी के रूप में इन्हें साल भर में रबी तथा खरीफ की फसलों से सिर्फ एक-एक केड़ा हर घर से मिलता था।"[107] ऐसे न जाने कितने तरह से दलितों का शोषण हर रोज होता रहता था और अब भी हो रहा है।

'मनुस्मृति' या 'धर्मग्रंथों' के अनुसार दलित चाहकर भी धन-संपत्ति एकत्रित नहीं कर सकता था। और इसी हिन्दू परम्परा का पालन ब्राह्मणवादी सोच वाले लोग सदियों से परम्परागत रूप से पालन करते चले आ रहे थे। सामाजिक और आर्थिक रूप से सम्पन्न होने के कारण सारी सत्ता की शक्ति उन्हीं सवर्ण लोगों के हाथों में थी जो ब्राह्मणवादी मानसिकता से पूर्णतः ग्रसित थे। अगर दलित धन इकट्ठा कर भी ले तो ताकतवर शक्तियाँ छीन लेती हैं अथवा छिनने का प्रयास एवं तमाम हथकंडे अपनाती रहती हैं। जिसकी शक्ल आज पूंजीवादी शक्तियों के रूप में देखी जा सकती है। डॉ. बी.एल. मुंगेकर का मानना है कि- "अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोग बड़ी भारी संख्या में अब भी ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं। उनमें से ज्यादातर लोग कृषि मजदूर हैं या सीमांत और छोटे किसान हैं। इस तरह वे गरीबों में भी गरीब हैं। नयी आर्थिक नीति के पास इन लोगों को देने के लिए कुछ भी नहीं है।"[108] कहने का तात्पर्य है कि सारी नीति योजनाएँ मुख्यतः पूंजीपतियों को ध्यान में रखकर बनाई जा रही है। जिसका आम जनता से कोई सरोकार नहीं है। अक्सर यह प्रश्न उठाया जाता है कि दलित व्यक्ति की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ भी हो जाती है तो भी उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान नहीं बदलती और अछूत ही माने जाते हैं। इसलिए वे सामाजिक अस्मिता को ही प्रमुखता देते हैं। यह बात एक हद तक सही है। लेकिन हमें इसके दूसरे पक्षों पर भी सोचना होगा कि हम क्यों सवर्ण समाज में सम्मान पाने के मोहताज बने? क्यों नहीं हम भी

[107] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-71
[108] दलित साहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ सं.-260

अपना एक अलग समाज और परम्परा का निर्माण करें। जहाँ सभी समान हो। अगर आर्थिक स्थिति मजबूत होती है तो ऐसा संभव है।

4.4 हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त राजनीतिक समाज की स्थिति- भारतीय राजनीति का आधार बहुत कुछ यहाँ की धार्मिक सांस्कृतिक परंपरा पर भी निर्भर करता है। लोकतांत्रिक देश होने के कारण सत्ता की ताकत जनता में निहित है। इसलिए जनता जिसे चाहे अपना प्रतिनिधि चुन सकती है। जो उसके प्रगति एवं विकास को सही दिशा में ले जा सके। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत की सत्ता अंग्रेजों के पश्चात् भारतवासियों के हाथ में आई और संविधान निर्माण हुआ। जिसमें सभी लोगों को सामाजिक समानता के साथ राजनीतिक समानता का भी अधिकार दिया गया। जिससे की दलितों लोगों के प्रति जो व्यवहार आजादी से पहले था वह न हो सके। तथा उस तरह के सामंती और तानाशाही समाज से मुक्त होकर एक स्वस्थ समाज का निर्माण हो सके। अमीर हो या गरीब, सवर्ण हो या दलित अथवा किसी भी धर्म को मानने वाला हो सभी को समानता का हक प्रत्येक क्षेत्र में बराबर का हो।

लेकिन वर्तमान परिस्थितियों पर नजर डालें तो आज तक उन लक्ष्यों को हासिल नहीं किया जा सका है, जिसकी घोषणा संविधान में की गई है। जहाँ लोगों में समानता की स्थिति होनी चाहिए थी वहां और ज्यादा लोगों में एक-दूसरे के प्रति वैमनष्यता का भाव भर गया है। और उस पर हमारे देश के नेता कुर्सी के स्वार्थ में लोगों की भावनाओं से खेलते हुए लगातार भड़काने का काम करते रहते हैं। एक-दूसरे के प्रति साम्प्रदायिकता का जहर घोल रहे हैं। अपने आर्थिक लाभ और स्वार्थ के चक्कर में नेताओं की गरीबों के प्रति कोई मानवता नहीं रह गई है। राजनीतिक सत्ता आजादी से पहले रही हो या बाद में एक विशेष वर्ग का ही उस पर वर्चस्व रहा है। वह चाहे ताकत के द्वारा हो या फिर खुशामद अथवा चापलूसी करके। दलित समाज इस प्रयास में सदा पीछे ही रहा।

दलितों में राजनीतिक चेतना का संचार डॉ. अम्बेडकर, ज्योतिबा फुले, रामास्वामी पेरियार आदि के विचारोत्तेजक भाषणों और उनके तार्किक भरे विचारों के माध्यम से ही हुआ। फलस्वरूप कई

दलित नेता उभर कर सामने आए जैसे- जगजीवन राम, बी.पी. मौर्य आदि। दलितों ने यह अनुभव किया कि राजनीतिक सत्ता भी उनके लिए उतनी ही जरुरी है जितनी की सामाजिक और आर्थिक मजबूती। राजनीति ही वह ताकत है जिसके माध्यम से हम अपने समुदाय के लोगों का उचित विकास और उनका हक दिला सकते हैं। उनका खोया हुआ सामाजिक सम्मान वापस दिला सकते हैं। ऐसे में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस शक्ति की और भी आवश्यकता हुई तथा इसे प्राप्त करने के रास्ते भी संवैधानिक अधिकार ने सरल कर दिए।

राजनीति की दशा-दिशा भारतीय समाज में क्या थी? उसके प्रतिनिधि कौन थे? दलितों की राजनीतिक दशा क्या थी? उस राजनीति में उनकी कितनी हिस्सेदारी थी? आजादी से पहले और उसके बाद के ऐसे कई सारे प्रश्न के जवाब इन दलित आत्मकथाओं में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। किस प्रकार राजनीतिक नेताओं का व्यवहार दलितों के प्रति था और देश स्वतंत्र होते ही उन्होंने राजनीतिक करवट कैसी बदली इसका यथार्थ स्वरूप इन आत्मकथाओं में देखा जा सकता है। आजादी के बाद गुलामी की मुक्ति सवर्णों के साथ-साथ जो दलितों ने देखी थी वह किस वर्ग के लिए वरदान साबित हुई? कौन पूरी तरह से मुक्त हुआ और कौन मुक्ति के लिए अब भी प्रयासरत है? इसका साफ-साफ चेहरा इन दलित आत्मकथाओं में देखा जा सकता है।

दलित समाज के लिए राजनीति के क्षेत्र में एक मात्र प्रतिनिधि बनकर डॉ. आंबेडकर ही आए। उनके द्वारा स्थापित 'रिपब्लिकन पार्टी आफ इंडिया' दलितों के हकों के लिए उनके सामाजिक अधिकार के लिए कई तरह से देशव्यापी आन्दोलन लगातार कर रही थी और उससे जुड़े दलित नेता घूम-घूम कर दलितों की बस्ती में दलितों के बीच जाकर उनके अन्दर चेतना का प्रचार-प्रसार कर रहे थे। दलितों के नेता जगजीवन राम, बी.पी. मौर्य का प्रभाव क्षेत्रीय लोगों के ऊपर पड़ रहा था। आजादी के बाद दलित राजनीति का प्रभाव जो पहले कम था वह पूरा तीव्र हो चुका था। संवैधानिक अधिकार ने दलित समाज को भी अपने अधिकारों के प्रति लड़ने का हौसला दिया था। सन् 1967 के आसपास उत्तरी भारत में दलित राजनीति अपने चरम पर दिखाई देने लगी थी। दलित राजनीति की हालत का वर्णन करते हए

मोहनदास नैमिशराय 'अपने-अपने पिंजरे' में कहते हैं कि- "हाँलाकि उत्तरी भारत की दलित राजनीति के शिखर पुरुष बी.पी. मौर्य 1967 के संसदीय चुनाव में हार गए थे। चुनाव में हार जाने के बाद उनका मिजाज और भी उग्र हो गया था। वे अंगार बन गए थे। विशेषतौर पर मेरठ, अलीगढ़, हापुड़ तथा गाजियाबाद में उनके खूब भीड़ जुटाने वाले सम्मलेन हुआ करते थे।"[109] दलित नेताओं का चुनाव में हार जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। हार का मुख्य कारण यह था कि दलित अशिक्षित थे, अनपढ़ थे, उनके अन्दर चेतना की कमी थी। सवर्णों की चालों को समझने में असफल थे। डर और भय उनके अन्दर अभी भी मौजूद था।

लेकिन जैसे-जैसे दलितों में राजनीतिक चेतना आ रही थी वे दलित नेताओं द्वारा बनाये गए संगठन से लगातार जुड़ते जा रहे थे। उस समय संगठनों के लिए केंद्र सरकार से आर्थिक सहायता भी प्राप्त हो रही थी। इस आर्थिक लालच ने जहाँ एक तरफ दलितों को राजनीति के प्रति जुड़ाव पैदा किया, वहीं कुछ दलित नेताओं में एक-दूसरे के प्रति बैर-भाव का बीज भी बोया। अतः दलित नेता और अधिक लाभ के लिए अपनी पार्टी छोड़ अन्य दूसरी पार्टियों में शामिल होने लगें। इसके बाद दलित नेता स्वयं ही एक-दूसरे के प्रति नफरत की आग उगलने लगे। मोहनदास उस समय की राजनीति की झलक प्रस्तुत करते हुए बताते हैं कि- "मेरठ और उसके आसपास बी.पी.मौर्य का अभी दबदबा था, पर उनके कांग्रेस में चले जाने से वह दबदबा कम हो गया था। बल्कि दलितों के भीतर कुंठाएँ और आक्रोश उभर आया था। उत्तरी भारत में इस तरह दलितों में विशेषतौर पर तीन ग्रुप हो गए थे। पहला, मौर्या में अभी भी आस्था रखता था, दूसरा उसके खिलाफ था और तीसरा बाबू की तरफ था। ये सब बाबा साहेब को मानते थे, पर अलग-अलग राजनैतिक दलों में इनकी घुसपैठ थी। सच कहा जाए तो डॉ. अम्बेडकर के नाम पर यह मजाक ही था। जिसे और उपहासजनक स्थिति में लाने के लिए कुछ दलित नेता जिम्मेदार थे। बी.पी. मौर्य तो सभाओं में कहते भी थे- मैं गोरा चमार हूँ और जगजीवन राम काला चमार है। वे

[109] अपने-अपने पिंजरे (भाग-2), पृष्ठ सं.-26-27

जगजीवन राम को कभी बाबू नहीं कहते थे। उनके व्यक्तित्व को हल्का करने के लिए मजाक में वह सबकुछ कह दिया करते थे जो दलित अस्मिता को सार्वजनिक रूप से तोड़ता था।"[110]

अगर दूसरे पक्षों की बात की जाए तो सवर्ण नेताओं का दलितों के प्रति भेदभाव और उनके प्रति नकारात्मक रवैयों के कारण ही दलितों के लोग अपना प्रतिनिधित्व खुद कर रहे थे। समय के साथ कई दलित नेता उभरकर सामने आए। उत्तर भारत में कांशीराम बहुत बड़े दलित नेता के रूप में उभरे, जिन्होंने अपने बौद्धिक और तार्किक भाषणों के माध्यम से दलितों के अन्दर चेतना का संचार किया। उनके प्रति हजारों वर्षों से हो रहे सामाजिक छुआछूत और भेदभाव जो आजादी के बाद भी कायम थी, उसका चेहरा दलितों के सामने रख रहे थे। फलस्वरूप कई लोग उनकी बनाई हुई 'बहुजन समाज पार्टी' से जुड़े और जिसने आगे चलकर उत्तर प्रदेश राज्य में अपनी सरकार बनाई। भारतीय इतिहास में पहली बार मायावती के रूप में किसी राज्य की दलित महिला मुख्यमंत्री बनी। जो दलित समुदाय की प्रेरणा बनी।

उस समय राजनीतिक पार्टियों का प्रभाव किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं था और न ही आज भी है। यह प्रशासनिक व्यवस्था से लेकर मजदूर संघ तक फैला हुआ था। प्रत्येक जगह राजनीति फैली हुई थी। अगर कोई मजदूर कंपनियों के द्वारा प्रताड़ित या शोषित होता तो मजदूर संघ इसलिए चुप रहता था कि वह व्यक्ति उसकी विचारधारा की पार्टी के साथ नहीं है, बल्कि दूसरी पार्टी के साथ है। यही लक्षण प्रत्येक क्षेत्र में मौजूद था और अब भी है। ओमप्रकाश वाल्मीकि 'जूठन' में बताते हैं कि- "उस वक्त फैक्टरी में दो बड़े संगठन काम कर रहे थे- एम्प्लाइज यूनियन और दूसरा इंटक। एक वामपंथी विचारधारा से संचालित था तो दूसरा कांग्रेस समर्थक। उन दोनों का एक ही उत्तर था, "वे हमारे सदस्य नहीं थे, असंगठित मजदूर थे। हम उनके लिए कुछ नहीं कर सकते हैं।"[111] आज भी राजनीतिक पार्टियों का हाल इसी तरह का है।

[110] अपने-अपने पिंजरे (भाग-2), पृष्ठ सं.-72

[111] जूठन (भाग-2), पृष्ठ सं.-41

राजनीति ने सदा ही समाज को गहरे रूप से प्रभावित किया है। कोई भी निर्णय या प्रस्ताव समाज में खुशी और निराशा दोनों तरह की स्थितियां को पैदा करता है। ऐसी परिस्थितियाँ तब पैदा होती है जब विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय को मानने वाले एक साथ रहते हैं और उन लोगों के बीच ऊँच-नीच की भावना, असमानता की भावना मौजूद रहती है। ऐसे में जब कोई धार्मिक बुराइयों की बात, समानता की बात करता है तो ऊँच-नीच और असमानता के हितैषी इसका विरोध करते हैं। जिसके कारण सांप्रदायिक दंगे होने लगते हैं। संविधान ने सभी लोगों को समानता का हक दिया है। लेकिन ब्राह्मणवादी तबका अब भी कहीं-न-कहीं इसके विरोध में खड़ा नजर आता है। जिसके कारण कई तरह की घटनाएँ समय-समय पर होती रहती है। "उन्नीस सौ नब्बे का दशक गहरी उथल-पुथल का था, बाबरी मस्जिद को जमींदोज करने की घटना, साम्प्रदायिक उन्माद, जातीय दंगे, धार्मिक दंगे, मंडल आयोग, पिछड़े वर्गों की लामबन्दी, जातीय-ध्रुवीकरण, आरक्षण-विरोध, आत्मदहन की घटनाएँ, उत्तराखंड-आन्दोलन आदि राजनीति ही नहीं सामाजिक जीवन को भी प्रभावित कर रही थीं।"[112] राजनीतिक प्रस्तावों का प्रभाव समाज में दलितों के ऊपर स्पष्ट रूप से नजर आ रहा था। उदाहरण के तौर पर- जब 'मंडल आयोग' का गठन किया गया तो इसका लाभ सीधे-सीधे पिछड़े वर्गों को होना था। इसमें उन्हीं लोगों को आरक्षण मिल रहा था जो पिछड़े वर्गों में गिने जाते थे न की दलितों में। लेकिन सवर्णों ने अपने विरोध का निशाना प्रमुख रूप से दलितों को ही बनाया। ऐसे में कई जगहों पर दलितों को मारा-पीटा और डराया-धमकाया गया। ओमप्रकाश इस स्थिति को बयान करते हुए कहते हैं कि- "मंडल आयोग से जिस वर्ग को लाभ होना था, वह चुप्पी साधे बैठा था। गाज दलितों पर गिर रही थी। आरक्षण विरोधी आन्दोलन अलग राज्य की मांग में परिवर्तित हो गया था, जिसमें स्थानीय राजनीतिक दलों के साथ राष्ट्रीय राजनीतिक दल भी शामिल हो गए थे। दलितों को डराया-धमाकाया जाने लगा था।"[113]

---

[112] जूठन (भाग-2), पृष्ठ सं.-79

[113] जूठन (भाग-2), पृष्ठ सं.-79

राजनीति की बात केवल नेताओं तक ही सीमित नहीं थी। जनता के बीच भी इसका काफी प्रभाव था। उस समय राजनीतिक समीकरण लोगों के बीच गरमा-गरम बहस का मुद्दा था। कई दलित नेता दलितों के प्रतिनिधि के रूप में बनकर राजनीति में आये थे। समानता और मौलिक अधिकार ने उन्हें भी राजनीतिक प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया था। लेकिन कुछ सवर्णों को इससे घोर आपत्ति भी थी। एक यात्रा के दौरान जब सूरजपाल चौहान ट्रेन द्वारा गुजरात से दिल्ली जा रहे थे, तब पास बैठे एक व्यक्ति की मानसिकता का ज़िक्र करते हुए कहते हैं कि- " 'अब तो भंगी चमार भी मनीस्टर बनने लगे, क्या होगा इस देश का?' अजी होगा क्या, देश रसातल में चला जाएगा। पहले तो एकाध ही चमार-वमार होता था राजनीति में और वह भी किसी एक दल का पिट्ठू बनकर .....लेकिन आजकल तो इन ससुरों में इतनी जागृति आ गई है कि बस, पूछों मत कांशीराम, मायावती, पासवान और न जाने कितने ....।"[114] यह बहस यहीं तक नहीं रूकती है। इसी बीच में एक और व्यक्ति अपनी बात रखते हुए दलित नेताओं के सन्दर्भ में कहता है कि- "पूरे देश को बर्बाद करके रख दिया है इन दलित कहे जाने वाले नेताओं ने। जातिवाद का ऐसा जहर घोल दिया है कि पूरे देश को जाति के नाम पर बाँट दिया है। "[115] जातिवाद का जहर किस धर्म के लोगों ने फैलाया है यह सभी को पता है। फिर भी बिना किसी तर्क और सोच-विचार के इसका आरोप दलित नेताओं पर कितनी सफाई से लगा देते हैं। राजनीति में दलितों का आना सवर्ण लोगों को कितना खटक रहा था इसका पता इन व्यक्तियों के बहस से स्पष्ट हो जाता है। इनका मत था कि दलितों को किसी भी तरह का राजनीतिक आरक्षण का लाभ न मिले। अगर उनके विकास और उत्थान की बात चाहे सवर्ण नेता ही क्यों ना करता हो। अगर ऐसा कोई करता तो ऐसे नेताओं का विरोध स्वयं सहयोगी नेताओं के साथ-साथ सवर्ण जनता भी तीव्रता के साथ करती थी। सवर्ण नेताओं के प्रति नाराजगी का वर्णन करते हुए सूरजपाल बताते हैं कि- " मेरे बगल की सीट पर बैठे जोशी जी भी बातों ही बातों में अपने उच्च जाति का होने का ज़िक्र कर चुके थे। जोशी जी मंडल कमीशन की सिफारिशों को लेकर, रह-रहकर देश के भूतपूर्व प्रधानमंत्री को कोस रहे थे। जोशी ने नीचता की सारी सीमाएं तोड़ते हुए

[114] तिरस्कृत, पृष्ठ सं.-75

[115] तिरस्कृत, पृष्ठ सं.-76

भूतपूर्व प्रधानमंत्री के बारे में कहा- 'यह वी.पी. सिंह किसी चूहड़े-चमार की टक्कर लगता है। देखो पागल ने अम्बेडकर को भारतरत्न की उपाधि तक दे डाली।"[116] ऐसे में देखा जा सकता है कि आजादी के बाद भी आम जनता की मानसिकता का विकास कितना हुआ है और वे हिन्दुत्ववादी परिधि से कितना बहार निकल सकने में सक्षम हुए हैं। ज्ञान-विज्ञान का अधिकार रखने के बाद भी उनकी तार्किक क्षमता अब भी धर्म के आगे कुंद है।

'दलित' शब्द के प्रयोग ने जिस प्रकार अछूत जातियों को एकसूत्रता में बाँधने का काम किया वह महात्मा गांधी द्वारा दिया गया 'हरिजन' शब्द ने नहीं कर पाया। इसका कारण यह रहा कि गांधी ने तो भंगी, चमार, नाइ धोबी, महार, दुषाध, पासी, डोम आदि सभी अछूत जातियों के लिए 'हरिजन' नाम दिया था लेकिन वह सभी के लिए न होकर एक केवल 'चमार' जाति के लिए ही रूढ़ बनकर रह गया। इसलिए इनमें एकजुटता की भावना पैदा नहीं हो पाई। लेकिन 'दलित' शब्द के अंतर्गत ऐसा नहीं रहा। इसलिए तिलकधारी व्यक्ति 'दलित' शब्द पर अपनी राय व्यक्त करते हुए कहता भी है कि- "एक बात तो है, देश के सभी पिछड़े और शोषित दलित शब्द के प्रयोग से एकता के सूत्र में बंधते नज़र आ रहे हैं। 'हरिजन' शब्द में ऐसा जादुई करिश्मा नहीं था।"[117]

दलित आत्मकथाएँ केवल दूसरों की ही कमियों का चित्रण नहीं करता है बल्कि स्वयं अपने समाज के लोगों की कमियों का भी चित्रण उतनी ही सच्चाई के साथ बयान करती है। एक तरफ जहाँ सवर्ण नेताओं का ध्यान दलितों के विकास की ओर कम रहता है, सदा उन्हें अनदेखा करता है। ठीक कुछ वैसी ही स्थिति दलित समाज और उस तबका से आए कुछ दलित नेताओं की भी रहती है। इसकी ओर संकेत करते हुए सूरजपाल चौहान कहते हैं कि- "दरअसल इस समाज के अन्दर काम ही कहाँ हुआ है? दलित समाज के नेता, साहित्यकार अपने आप को समाज के सुधारक कहे जाने वाले अपना-अपना

[116] तिरस्कृत, पृष्ठ सं.-76
[117]तिरस्कृत , पृष्ठ सं.-76

उल्लू सीधा करने में लगे हैं। कई दलित-समाज के तथाकथित समाज सुधारकों को मैंने गाल बजाते और कहते सुना है- 'सारी दुनिया सुधर जायेगी, लेकिन ये भंगी नहीं सुधरने वाले!"[118]

दलित नेता होने के कारण डॉ. अम्बेडकर का दलितों पर प्रभाव होना स्वाभाविक था। क्योंकि डॉ. अम्बेडकर ने ही पहली बार अस्पृश्य (दलित) समाज में यह बोध जगाया कि वे भी इंसान हैं, इस देश पर उनका भी बराबर का हक है, उन्हें भी सम्मानित जीवन जीने का पूर्ण अधिकार है। इसलिए डॉ. अम्बेडकर ने महिलाओं को भी राजनीतिक कार्यों में भाग लेने के लिए प्रेरित किया। वे पुरुष और महिलाओं को समान दृष्टिकोण से देखते थे। कौसल्या बैसंत्री कहती हैं कि- "जब मैं नौवीं कक्षा में थी तब नागपुर में 'अखिल भारतीय अस्पृश्य समाज' का अधिवेशन करने का निश्चय हुआ। बाबासाहब अम्बेडकर भी आने वाले थे। उस अधिवेशन में महिलाओं का भी अधिवेशन करने का निश्चय हुआ। यह अधिवेशन जुलाई, 1942 में होना था। उस वक्त बहुत कम पढ़ी-लिखी औरतें और लड़कियाँ थीं जो सामाजिक कार्यों में भाग लेती थीं।"[119] डॉ. अम्बेडकर जानते थे कि किसी भी परिवार और समाज का सम्पूर्ण विकास तभी होगा जब समाज में रहने वाले पुरुष और महिला दोनों जागरुक होंगे। अतः इस प्रकार के कार्यों से दलित समाज में महिलाओं का भी विकास हो रहा था। कौसल्या मातृसेवा संघ के माध्यम से तत्कालीन राजनीति का ज़िक्र करती हैं। जब इंदिरा गाँधी की सरकार थी तो किस कदर आम जनता शोषण का शिकार हो रही थी। कौसल्या बैसंत्री कहती हैं कि- "मातृ सेवा संघ में आई मृणाल गोरे इंदिरा गाँधी सरकार के भ्रष्टाचार और बंबई के व्यापारियों की जमाखोरी, मुनाफाखोरी, पानी की समस्या आदि बातों पर तथा राजकीय हालत पर करीब दो-ढाई घंटे भाषण दिया।"[120] जिससे यह पता चलता है कि राजनीति के क्षेत्र में भ्रष्टाचार किस हद तक व्याप्त थी।

स्वतंत्रता के पहले भारतीय राजनीति का स्वरूप बिलकुल अलग था। क्योंकि अंग्रजों का राज होने के कारण राजनीतिक सत्ता पर पूरी तरह से उनका ही अधिकार था। अगर भारतीय नेता कुछ अपने

[118] संतप्त, पृष्ठ सं.-62
[119] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-89
[120] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-119

मन से करते तो उन्हें अंग्रेजों द्वारा रोक दिया जाता था। इस राजनीतिक व्यवस्था में दलित समाज के लोग सबसे ज्यादा शोषण के शिकार होते। किसी भी तरह के नुकसान की भरपाई दलितों से ही की जाती थी। माता प्रसाद उत्तर प्रदेश में सन् 1935 के आसपास की सामाजिक व्यवस्था के बारे में बताते हैं कि- "किसानों के खेतों के लगान के अतिरिक्त और कई तरह के टैक्स देने पड़ते। यदि उसने नया मकान बनवाया, भैंस खरीदी, नांद गाड़ी तो उसका टैक्स देना पड़ता। अवध के इलाकों में तो अनेकों प्रकार के टैक्सों से किसानों का शोषण हो रहा था, अगर जमींदार ने नया मकान बनवाया, हाथी ख़रीदा, घोडा ख़रीदा, लड़की-लड़के की शादी किया, अफसरों की दावत किया, पूजा-पाठ या उत्सव किया तो उसका सारा खर्च किसानों से ही वसूल किया जाता था।"[121] दरअसल ये किसान, जमींदार नहीं होते थे बल्कि जमींदारों के खेत में काम करने वाले दलित मजदूर होते थे। क्योंकि उनके पास अपनी जमींन नहीं थी अगर किसी दलित के पास होती भी तो केवल नाम मात्र की जिसमें पूरे परिवार का गुजारा होना असम्भव था।

माता प्रसाद पढ़ाई के दौरान ही सामाजिक कार्यों के प्रति लगाव होने के कारण राजनीति के क्षेत्र में चले जाते हैं और कांग्रेस की पार्टी में शामिल हो जाते हैं। आगे चलकर वे अरुणाचल प्रदेश राज्य के राज्यपाल भी बनते हैं। अपने परिश्रम और त्याग से वे इस ऊँचाई तक पहुँचते हैं जो दलित समाज के लिए गौरव की बात होती है। वो भी ऐसी परिस्थितियों में जब देश की राजनीतिक-व्यवस्था बहुत हद तक जाति-व्यवस्था के समीकरण पर आधारित हो। उनके राजनीतिक अनुभव कहते हैं कि- कैसे जाति की भावना सामाजिकता के साथ-साथ राजनीति के क्षेत्र में भी खूब पनपी है। आदर्श और समानता की बात करने वाले कांग्रेसी नेता खुद ही अपने ही पार्टी के दलित कार्यकर्त्ता के साथ किस प्रकार का भेदभाव बरतते हैं। माता प्रसाद कहते हैं कि- "जब मैं विधायक का चुनाव सन् 1957 ई. में लड़ रहा था तब भी कई मौके पर खाने-पीने में भेद-भाव दिखाई पड़ा। किसी सवर्ण या कांग्रेस नेता के यहाँ घर में खाने को

[121] झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ सं.-14

होता तो वहां पर मेरे लिए दलित बस्ती से थाल-गिलास मंगाकर उसमें खिलाया जाता।"[122] चूँकि परिस्थितियाँ काफी बदल गई है फिर भी इस तरह भेदभाव ग्रामीण क्षेत्रों में की देखा जा सकता है।

1954 ई. में माता प्रसाद राजनीति में प्रवेश करते हैं। और अध्यापन कार्य छोड़कर 'हरिजन कल्याण विभाग' द्वारा संचालित सोशल वर्कर के रूप में कार्य करने लगते हैं। इस भूमिका में अपने विधान सभा क्षेत्र मछली शहर में कई सामाजिक कार्य करते हैं। जैसे- पीने और सिंचाई के लिए कुंओं के निर्माण के सन्दर्भ में पानी के लिए धनराशि को आवंटित करना, गृह-निर्माण तथा उद्योग-धंधे के धन का भी आवंटन करना। वह भी विशेषकर दलित लोगों के लिए। इस प्रकार कई सामाजिक कार्य किये। लेकिन वहीं कुछ मामलों में चुप भी रहे, कारण कांग्रेस पार्टी का सदस्य होना। जो उनके कमजोर पक्ष को उजागर करता है। चुनाव के समय माता प्रसाद कहते हैं कि- "दलितों की बस्तियों में रात रुकता। उनके यहाँ खाना खाता। सब इकट्ठे होते वहीं बातें करता। उस समय कांग्रेस का उन पर बड़ा प्रभाव था। कांग्रेस ने जमींदारी तोड़ी थी। वोट देने का हक दिया और पढ़ने को सुविधा, इसलिए 90 प्रतिशत लोग कांग्रेस के पक्ष में थे।"[123] लेकिन इस चर्चा में कहीं भी डॉ. अम्बेडकर का नाम का उल्लेख नहीं करते हैं आखिर ऐसा क्यों? यह हो सकता है कि डॉ. आंबेडकर और कांग्रेस का राजनीतिक अलगाव उन्हें यह सब कहने से रोक रहा था। दूसरी तरफ सन् 1978 ई. में इंदिरा गाँधी को गिरफ्तार कर लिया जाता है और बाद में गोली लगने से उनकी मृत्यु हो जाती है। लेकिन माता प्रसाद यह ज़िक्र नहीं करते कि क्यों इंदिरा को गिरफ्तार किया गया तथा उनकी मृत्यु किन कारणों से हुई? पार्टी का दबाव माता प्रसाद पर स्पष्ट रूप से नजर आता है।

माता प्रसाद अन्य कई राजनीतिक घटनाओं का वर्णन पूरे तिथिवार रूप में करते हैं। जिसमें जयपुर के संगीत हाल में दलित साहित्य के अधिवेशन में सम्मिलित होना तथा भरतपुर के कुम्हेर काण्ड में दलितों की 400 झोपड़ियों को 6-7 जून को जाटों द्वारा जला देना और साथ ही 17 दलित बच्चों और महिलाओं की हत्या कर दिए जाने की आलोचना करना आदि। लखनऊ में डॉ. अम्बेडकर विश्वविद्यालय

[122] झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ सं.-63
[123] झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ सं.-94

की स्थापना के लिए 111 करोड़ रु० स्वीकृत होना लेकिन विरोधी सरकार द्वारा केवल 5 करोड़ ही दिया जाना और इसी के अंतर्गत आन्दोलन में डॉ.अम्बेडकर की मूर्तियों को तोड़ा जाना आदि। इस तरह की कई घटनाएं थीं जिसके माध्यम से दलितों को राजनीतिक गतिविधियों में आने से रोका जा रहा था, उनका मनोबल तोड़ा जा रहा था।

माता प्रसाद एक नेता होने के नाते जहाँ एक तरफ कांग्रेस की कमियों को छुपाते हैं तो वहीं आगे उसके अन्दर हो रही जातिवादिता का चेहरा लोगों को दिखाते हैं कि कैसे कांग्रेस द्वारा दलित और आदिवासी कार्यकर्ताओं को पार्टी सुविधाओं से वंचित किया जाता है। जबकि वे लोग भी उतना ही योगदान पार्टी को देते हैं जितना की अन्य लोग। माता प्रसाद कहते हैं कि- "संगठन में युवक कांग्रेस, महिला कांग्रेस, छात्र-संगठन और सेवादल प्रंटल ओर्गेनाइजेशन हैं, इनको अलग से आर्थिक सुविधाएं, वाहन-सुविधाएँ तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त हैं। इनके पदाधिकारियों को प्रदेश तथा जिले स्तर की बीस सूत्रीय समितियों का सदस्य बनाया गया है किन्तु हरिजन एवं आदिवासी सेल के कार्यकर्ताओं को कोई भी सुविधा नहीं मिलती है।"[124] इसके साथ ही सरकार द्वारा दलित छात्रों के साथ किस तरह का भेदभाव किया जाता है। उनकी योग्यता का मूल्यांकन में किस तरह की और किस हद तक धांधली की जाती है। इसकी भी पोल माता प्रसाद अपनी आत्मकथा में खोलते हैं। प्रतियोगी परीक्षाओं में "विशेषकर सी.पी.एम.टी. में अनुसूचित जाति के छात्रों का कोड न.-7 होता है और इनकी परीक्षा की कापियां भी अलग जांची जाती हैं। जांचने वाले अधिकांश ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनकी 'धारणा इनके प्रति अच्छी नहीं होती' है। इसलिए इन्हें 'जान-बूझकर नंबर कम दिए जाते हैं' जिससे एग्रीगेट मार्क नहीं मिल पाता है।"[125] इससे उन्हें मेरिट के आधार पर मिलने वाली नौकरिया नहीं मिलती है। ऐसी स्थितियाँ प्रायः अब भी कुछ शिक्षण-संस्थानों में देखने को मिल जाती हैं। सरकार जानते हुए भी इस जाँच प्रणाली की विधि में कोई बदलाव नहीं करना चाहती है।

---

[124] झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ सं.-196

[125] झोपड़ी से राजभवन , पृष्ठ सं.-199

आगे कांग्रेस पार्टी के कार्यकर्ताओं को सलाह देते हैं कि दलितों का विश्वास तभी जीत सकते हैं जब वे डॉ. अम्बेडकर का सम्मान करें। क्योंकि दलित समुदाय अम्बेडकर को अपना मसीहा मानते हैं। देखा जाय तो इस सलाह के पीछे जो मूल कारण था वह यह कि 'जनता दल' सरकार ने दलितों की भावनाओं का ध्यान रखते हुए अपने सरकारी कार्यकाल में डॉ. अम्बेडकर को मरणोपरांत ' भारतरत्न' से नवाजा था जिसे कांग्रेस अब तक नकारती चली आ रही थी। एक पत्रकार से बातचीत के दौरान यह पूछे जाने पर की इंदिरा गाँधी परिवार के लोगों ने दलितों के लिए क्या किया? के जवाब में माता प्रसाद दलितों के सारे हितों के लिए कांग्रेस पार्टी का ही गुणगान करते हैं। 'बीस सूत्रीय कार्यक्रम' का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि- "दलितों को गाँव समाज की भूमि का आवंटन, आवास आवंटन, पेयजल की व्यवस्था, इंदिरा आवास योजना आदि योजनाएँ उनके समय में ही शुरू हुई। जब राजीव गाँधी प्रधानमंत्री हुए तो उन्होंने दलितों को रोजगार के अवसर शुरू करायें। पंचायत राज और स्थानियों निकायों में सभी पदों पर दलितों को आरक्षण सुनिश्चित कराया।"[126] यहाँ माता प्रसाद भूल जाते हैं कि यह जब संविधान में पहले से ही चीजें लागू की जा चुकी थी। जिसे कार्य के रूप में किसी भी सरकार का यह दायित्व था कि इसे पूर्ण रूप से लागू करें और सबको उसका संवैधानिक अधिकार दिलाएं। इस सन्दर्भ में संविधान के रचयिता डॉ. अम्बेडकर का कहीं ज़िक्र नहीं करते और सारी उपलब्धियों का श्रेय इंदिरा गांधी और राजीव गांधी को दे देते हैं। जो उनकी राजनीतिक छवि को उजागर करता है।

प्रो० श्यौराज सिंह 'बेचैन' की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक पक्षों को यथार्थ रूप में उठाती तो है, लेकिन राजनीतिक पक्षों का ज़िक्र न के बराबर है। उनका पूरा केंद्र दलितों के प्रति होने वाले सामाजिक उपेक्षा पर ही केन्द्रित है। ऐसे में यह स्वतः ही पता चल जाता है कि सामाजिक स्थितियों पर नेताओं का ध्यान कितना है। वहीं 'नागफनी', 'मेरी पत्नी और भेड़िया', 'मेरे मन की बाइबिल', जैसी आत्मकथाओं में भी कुछ ऐसी ही स्थितियाँ हैं। जिसमें

[126] झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ सं.-499

सामाजिकता के साथ अपने व्यक्तिगत पक्षों का तो अवलोकन किया गया है लेकिन राजनीतिक घटनाओं एवं समस्याओं का ज़िक्र नहीं के बराबर है।

देश में राजनीति का प्रभाव सभी वर्गों पर समान रूप से पड़ रहा था। इसका प्रभाव समाज का चाहे सवर्ण तबका हो अथवा दलित, सब लोग प्रभावित हो रहे थे। समाज जहाँ एक तरफ विकास की ओर बढ़ रहा था वहीं दलित समाज अब भी राजनैतिक अधिकारों से जूझ रहा था। आर्थिक-व्यवस्था कमजोर होने पर दलित समुदाय को बार-बार राजनीतिक आन्दोलन के कारण दिक्कतों का सामना भी करना पड़ रहा था। देश के नेता जो देशप्रेम और देशभक्ति की बातें करते थे उनकी भावना अब भी जाति-पाति और छुआछूत को मानती थी। महात्मा गाँधी का प्रभाव सभी लोगों पर था। इसलिए शिक्षण संस्थानों में गांधी टोपी पहनना जरुरी समझा जाता था। भारत-पाकिस्तान युद्ध के कारण राजनीतिक क्षेत्र में काफी उथल-पुथल दिखाई दे रही थी। महात्मा गांधी के प्रभाव के बारे में डॉ. सुशीला टाकभौरे कहती हैं- "उन दिनों शिक्षा के क्षेत्र में एक अलग घटना घटी थी। 1967-68 में हमारे यहाँ 'अंग्रेज हटाओ' आन्दोलन शुरू हो गया था। इसके फलस्वरूप आठवीं कक्षा में हमे अंग्रेजी नहीं पढ़ाई गई, न ही अंग्रेजी का पेपर हुआ था। स्वर्ण सम्पन्न लोग अपने बच्चों को ट्यूशन लगाकर अंग्रेजी पढ़ा रहे थे। यह सुविधा हमारे लिए सुलभ नहीं थी, न ही संभव थी। ट्यूशन की फीस देना हमारे बस की बात नहीं थी।"[127] दलितों की आर्थिक कमजोरी के कारण राजनीतिक प्रभाव उनके ऊपर प्रतिकूल रूप में पड़ रहा था। लोकतंत्र की स्थापना ने स्त्रियों को सामाजिक अधिकार के साथ-साथ राजनीतिक अधिकार भी दिया। जिसका उदाहरण इंदिरा गाँधी के प्रधानमंत्री के रूप में देखा जा सकता है। उस समय इंदिरा गांधी का प्रधानमंत्री बनना पूरे स्त्री समाज के लिए एक आत्मसम्मान और गौरव की बात थी। इन सबके बावजूद पुरुष समाज में स्त्री के प्रति पुरुष-प्रधान मानसिकता पहले जैसी ही थी। "जनवरी 1966 में जब देश की प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी बनी थीं तब स्त्रियों का सम्मान बढ़ा था। गाँव के लोगों की बातों से उनके विचार मालूम होते थे। स्त्रियाँ कहती थीं- 'हमारा राज आ गया है।' पुरुष कहते थे- 'औरत पैरों की जूती

[127] शिकंजे का दर्द, पृष्ठ सं.-77

है, पैरों में ही रहेगी।' भाई-भाभी को डाँटते हुए कहते थे- 'एक औरत देश की प्रधानमंत्री बन गई, इसका मतलब यह नहीं है कि औरत-औरत जैसी नहीं रहेगी?"[128] राजनीतिक बदलाव के फलस्वरूप भी सामाजिक बदलाव स्त्रियों के लिए मुश्किल हो रहा था। राजनीतिक आन्दोलन के साथ महिला आन्दोलन भी चल रहे थे, जिसके माध्यम से स्त्रियाँ अपने अधिकार और हक के लिए लड़ रही थी। समय परिवर्तन के साथ दलित स्त्रियाँ भी इसमें समान रूप से हिस्सा ले रही थीं। दलित स्त्रियों ने 'दलित महिला आंदोलन' के द्वारा महाराष्ट्र में 1975 के समय स्त्रियों की सामाजिक और पारिवारिक समस्याओं के निराकरण पर बहुत काम किया। जैसे- 1994 में तिरुपति का 'अखिल भारतीय स्त्री संघठन', 'महिला मुक्ति आन्दोलन', 'महिला जागृति आन्दोलन' आदि। दलित स्त्रियों के अन्दर इस भावना के प्रेरणा स्रोत साबित्री बाई फुले और डॉ. अम्बेडकर जैसे तमाम दलित नेता ही रहे।

डॉ. सुशीला टाकभौरे राजनीति के अंतर्गत साहित्यिक राजनीति करने वालों की पोल भी खोलती हैं। अध्ययन-अध्यापन के दौरान सुशीला के कुछ सवर्ण सहकर्मी उन्हें कई तरह के प्रलोभन देकर उन्हें उनके कर्म और पथ से भटकाने की कोशिश करते हैं। उनका उद्देश्य रहता है कि वे दलित साहित्य की नुमाइंदगी करना छोड़ दें। डॉ. सुशीला टाकभौरे कहती हैं कि- "ऐसे ही कुछ सवर्ण सहकर्मियों ने मुझे कई बार कहा है- 'मैडम, आप जाति से जो भी हैं, मगर हम आपको ब्राह्मण मानते हैं। आप अम्बेडकरवादी लोगों के साथ मिलकर विरोध-आक्रोश की बातें क्यों करती हैं? आप ललित साहित्य लिखिए, हमारे साथ रहिए। हम आपको बहुत सम्मान दिलायेंगे। ये दलित साहित्य को छोड़िए, बड़े केनवास पर आइए।"[129] यह घटना साहित्यिक राजनीति की सच्ची तस्वीर उजागर करती है। सवर्णवादी मानसिकता दलित साहित्य पर तरह-तरह के आक्षेप लगाकर, साहित्यिक कमियों को बताकर उसे रोकने का काम करते रहते हैं। कभी जनता को भटकाकर तो कभी दलित नेताओं और लेखकों को गुमराह कर।

[128] शिकंजे का दर्द, पृष्ठ सं.-90
[129] शिकंजे का दर्द, पृष्ठ सं.-234

डॉ. सुशीला टाकभौरे उस ओर भी संकेत करती हैं जहाँ मंत्री और नेता को दलित केवल शोषित के रूप में ही दिखाई देते हैं। सामाजिक कमियों के लिए मंत्री केवल दूसरों को ही दोष देते हैं, उनकी हालात को ठीक करने का प्रयास नहीं करतें। नेता वोट के समय बड़े-बड़े वादे, उनकी सुविधाओं का ख्याल रखने की कसमे खाते हैं। जैसे कि अगर उनकी सरकार बनती है तो जनता की समस्याओं का हल चुटकी बजाते ही कर देंगें। परन्तु जीतने के बाद उन नेताओं के कानों में जूं तक नहीं रेंगती। उल्टे दलितों को दोष देते हुए "सवर्ण नेता मंच से कहते- 'तुम लोग शराब पीते हो, गंदे रहते हो इसलिए लोग तुम्हें बुरा कहते हैं।' मुझे गुस्सा आता है, शराब क्या वे नहीं पीते? गंदे रहने के लिए हमारे लोगों को किसने मजबूर किया है, फिर भी दोष हमें देते हैं।"[130] डॉ. सुशीला टाकभौरे ऐसे सवर्ण नेताओं की प्रतिक्रिया में वाजिब प्रश्न उठाती हैं और उन नेताओं के साथ तमाम ब्राह्मणवादी मानसिकता वाले लोगों को इस जिम्मेदारी के लिए इतिहास में झाँकने की सलाह भी देती हैं कि इस सामाजिक परिस्थिति के लिए कौन जिम्मेदार है?

'मुर्दहिया' आत्मकथा में भी शहरी और ग्रामीण राजनीति का चेहरा स्पष्टता के साथ नजर आता है। चुनाव जीतने के हथकंडे दोनों जगहें एक ही जैसे अपनाए जाते हैं। प्रो. तुलसीराम बताते हैं कि सन् 1957 में दूसरा आम चुनाव के दौरान इसी तरह की नीतियाँ चारों तरफ दिखाई दे रही थी। चुनाव जीतने के विभिन्न तरीकों का इस्तेमाल किया जा रहा था। जातिवाद और छुआछूत मानने वाले ब्राह्मण किस तरह दलितों को अपने जाल में फंसा रहे थे। चुनाव के समय की स्थिति के बारे में प्रो. तुलसीराम कहते हैं कि- "रात का खाना खाने के बाद गाँव के करीब दर्जन भर प्रमुख ब्राह्मण रोज हमारे घर के सामने उस जलते हुए कौड़े के चारों तरफ बैठ जाते थे और वे चुनाव पर चर्चा शुरू कर देते थे। हमारे क्षेत्र के तमाम ब्राह्मण उस समय की दो बैलों की जोड़ी चुनाव चिन्ह वाली कांग्रेस पार्टी के कट्टर समर्थक थे। हमारे गाँव के ब्राह्मण भी कांग्रेस के ही समर्थक थे। उन्हें यह अच्छी तरह मालूम था कि मेरे सबसे बड़े चाचा बारहगांवा के चौधरी हैं, इसलिए वे सारे दलित उनके ही कहने पर किसी पार्टी को वोट डालेंगे।"[131] आज भी पार्टी के नेता उसी व्यक्ति को पकड़ते हैं, उसी की चाटुकारिता करते हैं जो घर-परिवार और

[130] शिकंजे का दर्द, पृष्ठ सं.-247

[131] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-37

समाज का मुखिया होता है। प्रो. तुलसीराम संकेत करते हैं कि इस तरह के काम चाहे कांग्रेस पार्टी हो, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी हो या प्रजा सोशलिस्ट पार्टी सभी लोग करते थे। गाँव के अधिकतर दलित 'प्रजा सोशलिस्ट पार्टी' को वोट देते। क्योंकि उनका चुनाव चिन्ह झोपड़ी था। जिससे दलितों की उससे अपनत्व की भावना महसूस होती, कारण दलित भी झोपड़ी में ही रहते थे।

आजादी के बाद राजनीति के द्वारा समाजवाद की जो कल्पना की गई थी। वह पूरी तरह दिखाई नहीं दे रही थी। जातिगत राजनीति के कारण हर कोई अपनी पार्टी के उम्मीदवारों की ही तरफदारी और उसे जीताने के चक्कर में लगी हुई थी। और जीतने के बाद वही होता था जो अक्सर आज भी नेताओं द्वारा किया जाता है। कुछ जगहों पर नेताओं द्वारा किये गए सभी वादें और उनकी योजनाएं तत्काल तो नहीं लेकिन बाद में जरुर थोड़ा बहुत दिखाई देती हैं। प्रो. तुलसीराम कहते हैं कि- "दो वर्ष पहले कौड़ा तापते हुए मुन्नर चाचा जो कुछ भी रूस में 'समोही खेती' या नेहरु की योजना के बारे में बताते थे उसका साकार रूप इनमें दिखने लगा था।"[132] इस पंचवर्षीय योजना के सन्दर्भ में कई गीत भी बन चुके थे-

"होइहैं अब कल्याण पंचवर्षीय योजना से-

हरा-भरा खेत- खलिहान पंचवर्षीय योजना से"[133]

इस योजना से किसानों का बहुत बड़ा फायदा हुआ। इस विधि से खेती करने पर पैदावार बहुत अच्छी हुई। जिससे दलितों को काफी लाभ हुआ। क्योंकि अब उन्हें भी भरपेट भोजन मिलने की उम्मीद जाग उठी थी। फलस्वरूप "इन सब क्रियाकलापों से नेहरु की छवि ग्रामीण इलाकों में काफी निखरने लगी थी। लोग अकाल से उत्पन्न दुःख-दर्द को भूल गए थे। धान की अच्छी फसलों के बाद चैत-बैसाख के दिनों में जौ, गेहूँ, चना, मटर आदि फसलों की कटाई से दलितों के बीच काफी खुशहाली छा गई थी

[132] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.- 104
[133] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-104

इसका कारण था कुछ महीनों के लिए उचित भोजन व्यवस्था।"[134] आगे सन् 1962 तक आते-आते राजनीति का स्वरूप कुछ बदलने भी लगा था। देश में तीसरा आम चुनाव होने वाला था। इससे पार्टियों के नेता जनसभाओं से ज्यादा गाँव में घूम-घूम कर चुनाव प्रचार करने पर ज्यादा बल देते थे। धर्म का पूरा प्रयोग नेताओं के भाषणों में होता था तथा वे एक-दूसरे पर आरोप लगाने से भी नहीं चुकते थे। कुछ ऐसे भी नेता थे जो धार्मिक कुरीतियों का जमकर समर्थन करते, जिनमें सती-प्रथा और बाल-विवाह जैसी प्रथाएं भी शामिल रहती थी। ऐसे नेताओं में स्वामी करपात्री प्रमुख भूमिका निभा रहे थे जो 'रामराज्य परिषद' पार्टी के प्रमुख नेता थे। इन प्रथाओं के अलावा कम्युनिज्म का विरोध, काशी के प्रसिद्ध विश्वनाथ मंदिर में दलितों के प्रवेश का विरोध, डॉ. अम्बेडकर द्वारा प्रस्तावित 'हिन्दू कोड बिल' का विरोध भी शामिल था। दूसरी तरफ चुनाव प्रचार के लिए चुनावी गीतों का भी प्रयोग किया जा रहा था। इसके लिए कम्युनिस्ट पार्टी की मंडली ने एक क्रांतिकारी गाना भी बनाया था-

"ललका झंडा / मोटका डंडा

कब उठइबा बलमू

जमींदरवा लुटेरवा

कब भगइबा बलमू।"[135]

आज जो जनता महंगाई की मार झेल रही है ऐसी स्थितियां पहले भी थी। जिसके खिलाफ विरोध प्रदर्शन जनता के साथ राजनीतिक पार्टियां भी कर रही थी। प्रो. तुलसीराम कहते हैं कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी इन्हीं महंगाईयों के विरुद्ध और इससे सम्बंधित समस्याओं के खिलाफ आम लोगों का ध्यान आकर्षित करती एवं इसका जोरदार विरोध करती। ऐसी ही एक घटना का ज़िक्र करते हुए कहतें हैं कि- "इन जुलूसों में आजमगढ़ के हजारों मजदूर किसान शामिल होते थे। सारे लोग लाल झंडा लेकर कचहरी के तरफ मार्च करते हुए नारा लगाते : तीन पाव का राशन है- बड़ा निकम्मा शासन है। सन्

[134] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-105
[135] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-132

1964-65 में लगाया जाने वाला यह नारा एक बड़ी महंगाई की तरफ इशारा करता था।"[136] आज भी देश में महंगाई अपने चरम अवस्था में देखी जा सकती है। चुनाव के समय बड़े-बड़े वादे करने वाली राजनीतिक पार्टियाँ चुनाव जीतते ही विकास के लिए आवंटित जनता के पैसों से ही अपनी झोली भरने लगती हैं। ऐसे में दलित जो सामाजिक रूप से पहले से ही पिछड़ा हुआ है और भी पीछे चला जा रहा है।

आजादी के बाद से दलितों के साथ राजनीतिक भेदभाव इसी तरह होता आया है जिसमें केवल दलितों का इस्तेमाल ही किया गया। लेकिन आज का सजग दलित इस बात को अच्छी तरह समझ चुका है कि स्वयं के सुधार के लिए राजनीतिक शक्ति को अपने हाथों में लेना अत्यंत आवश्यक है। डॉ. अम्बेडकर ने इस सत्य को बहुत पहले ही पहचान लिया था। इसलिए उन्होंने कहा था कि हम अनुभव करते हैं कि कोई दूसरा हमारे दुःख-दर्द दूर नहीं कर सकता और जब तक हमारे हाथों में राजनीतिक शक्ति नहीं आ जाती हमारे दुःख-दर्द भी दूर नहीं हो सकता।

4.5 हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त धार्मिक और सांस्कृतिक समाज-

मानव समाज में जब चेतना का विकास हुआ तभी से धर्म की अवधारणा का जन्म हुआ। जिसका सम्बन्ध मनुष्य के कर्म, उसके रहन-सहन, खान-पान, वेष-भूषा, आचार-व्यवहार से जोड़ दिया गया। जो समय के साथ रुढ़ि में परवर्तित हो गया। शुरुआत तो इसकी अच्छाई के लिए हुआ था लेकिन धीरे-धीरे मानवीय वर्चस्व ने, उसकी आकांक्षा ने इसमें बुराई के बीज भी बो दिए। भिन्न-भिन्न समाजों में अलग-अलग धर्मों का जन्म हुआ और समय के साथ उसका विस्तार भी हुआ।

आज विश्व में ऐसा कोई भी देश नहीं जहाँ किसी-न-किसी रूप में धर्म की सत्ता कायम हो। यह धर्म की सत्ता किसी भी समाज के निर्माण और उसके विकास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इन धर्मों के अंतर्गत हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, क्रिस्चियन धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सिक्ख धर्म आदि को देख सकते हैं और इनको मानने वाले भी कई लोग हैं। समय के साथ समाज और राजनीति का स्वरूप बदला और धर्म के पोषकों ने उसे अपने हाथों में लेकर अपने फायदे के लिए इस्तेमाल किया।

[136] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-180

फलस्वरूप उन धर्मों में कई खामियां भी आ गईं और लोग एक-दूसरे के धर्मों से घृणा करने लगे। मानव की समानता की बात करने वाला धर्म कब मानव का ही दुश्मन बन गया, लोगों को पता ही नहीं चला।

भारत देश विविधताओं का देश माना जाता है। यहाँ कई धर्मों को मानने वाले लोग एक साथ रहते हैं जिनकी अपनी अलग-अलग संस्कृतियाँ हैं। धर्म की महत्ता इस बात में है कि व्यक्ति के धर्म का पता चलते ही सामने वाला व्यक्ति उसके रहन-सहन, खान-पान और मानसिकता का पता तुरन्त अनुमानित कर लेता है। धर्म के सन्दर्भ में रजत रानी 'मीनू' कहती हैं कि- "धर्म-संस्कृति किसी भी देश-समाज की वह पहचान हैं, जिनमें उसकी व्यापक विविधताओं से भरी जीवन-शैलियों के अनेक रूप प्रकट होते हैं। विचार, व्यवहार, आचरण, ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा और अशिक्षा के संयुक्त परिणामों की धार्मिक व सांस्कृतिक विविधताओं, स्थानों और मनुष्य अर्जित उपलब्धियों को धर्म-संस्कृति के अध्ययन से समझा जा सकता है।"[137] हिन्दू धर्म को मानने वालों की संख्या अधिक होने के कारण भारत देश हिन्दू राष्ट्र माना जाता है। हिन्दू धर्म का आधार वर्णव्यवस्था पर होने के खातिर इसमें कई जातियाँ भी हैं। हिन्दू धर्म की संरचना की बात करें तो जाति-व्यवस्था पर आधारित होने के नाते यह मानव-मानव में भेद करना सिखाती है। जबकि धर्म का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह व्यक्ति में सद् गुणों का विकास करे। दलित समाज इसी हिन्दू धर्म का सबसे बड़ा शिकार रहा है। जिसका व्यवहार दलितों के साथ हमेशा अमानवीयता का रहा है। हिन्दू धर्म के ठेकेदार ब्राह्मण समाज ने इसके माध्यम से अपनी सत्ता का वर्चस्व स्थापित किया। जिसके तहत दलितों को बर्बरता के साथ कुचला गया जो आज भी किसी-न-किसी रूप में कायम है।

इसीलिए डॉ. अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म का जबरदस्त विरोध करते हुए लोगों से कहा- "मैं आपको फिर से यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि धर्म मनुष्य के लिए है, मनुष्य धर्म के लिए नहीं है। जो धर्म तुम्हें मनुष्य के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहता, जो धरम तुम्हें पीने के लिए पानी नहीं देना चाहता, वह धर्म धर्म कहलाने लायक नहीं होता। जो धर्म तुम्हारे ज्ञान और शिक्षा के अधिकार छीन लेता है, जो धर्म

[137] हिंदी दलित कथा साहित्य : अवधारणाएं और विधाएं, पृष्ठ सं.-224

तुम्हारे भौतिक उत्कर्ष में बाधाएँ पहुँचाता है, वह धर्म कहलाने लायक नहीं है।"[138] हिन्दू धर्म का स्वरूप कुछ ऐसा ही है।

मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा 'जूठन' में दलित समाज पर पड़ने वाले हिन्दू धर्म का प्रभाव का खुले रूप में चित्रण करते हुए कहते हैं कि- "मंदिर और सवर्णों के लिए हम शूद्र थे। अछूत थे। दलित थे, पर इंसान न थे। हमारी छाया भी उनके लिए अपवित्र थी। हम मंदिर में घुस न जाये शायद यही सोचकर मंदिर की चारदीवारी बनवाई गई थी।"[139] दलित समाज के लोग हिन्दू होने के बावजूद भी हिन्दू धर्म से अलग थे। क्योंकि उनका मंदिरों में प्रवेश वर्जित था। साफ़-सुथरे कपड़े पहन नहीं सकते थे। हमेशा सवर्ण समाज की सेवा करना ही उनका धर्म था।

इन आत्मकथाओं में धर्म की पोल भी खुलती है। धर्म के रक्षक जो मंदिरों के अक्सर पुजारी होते हैं, कैसे डर से शराबियों को समझाने की बजाय उनकी मदद करते हैं। राधे नाम का व्यक्ति जो जुआरी और शराबी है, के पैसे जब खत्म हो जाते हैं तो मंदिर के पुजारी से ही चढ़ावे के पैसे मांगता है। और पुजारी जो खूब लम्बी चोटी रखता है, मुँह में पान भरा रहता है। वह कभी उसे मना नहीं करता है। मोहनदास बताते हैं कि- "पुजारी ने कभी उसे 'ना' नहीं कहा था। एक-दो बार राधे को पैसे न देने की हिम्मत भी की। अगले ही पल उसे गालियां सुननी पड़ी थीं वहीं देवताओं के मूर्ति के सामने। और देवता भी नतमस्तक हो जाते।"[140] धर्म की चारदीवारी केवल दलितों के लिए ही थी। किसी सवर्ण, दबंग के लिए नहीं, भले ही वह कितना ही चरित्रहीन ही क्यों न हो। धर्म का बाजार सदियों से होता चला आया है। जहाँ धर्म के ठेकेदारों ने धर्म को हमेशा अपने हाथों की कठपुतली की तरह इस्तेमाल किया है।

राजनीति में भी धर्म को हमेशा एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया गया है। वोट के लिए किसी को किसी से धर्म के नाम पर लड़वा देना नेताओं के लिए खेल रहा है। धार्मिक खेल आज भी उसी तरह खेला जा रहा है। राजनीति और धर्म का गठजोड़ काफी पुराना रहा है। हिन्दू-मुस्लिम के बीच

[138] डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर, पृष्ठ सं.-82
[139] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-27
[140] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-28

लड़ाई-झगड़े पहले भी होते थे और अब भी हो रहे हैं। नेता आज भी सांप्रदायिक दंगे करवाने से नहीं चूक रहे हैं। मोहनदास नैमिशराय बताते हैं कि मेरठ में अक्सर लड़ाई, धर्म और नस्ल के नाम पर ही होती रहती थीं। "मेरठ में उन दिनों जनसंघ तथा मुस्लिम लीग का जोर था। एक हर-हर महादेव का नारा देती थी दूसरी नारा-ए-तकबीर का। दोनों के पास लाठी, बल्लम, चाक़ू, छुरे, कट्टे चलाने वालों की अच्छी खासी भीड़ हुआ करती थी। उस भीड़ को नियंत्रित, संचालित करने वाले खूनी दस्ते, आतंकवादी गिरोह थे जो अपने-अपने धर्म का झंडा लिए एक-दूसरे की बस्तियों, दुकानों, होटलों पर वार करते थे।"[141] साम्प्रदायिकता का रूप हमेशा विनाशकारी ही रहा है। जब भी इसने उग्र रूप धारण किया लोगों के लिए काल बनकर ही आया। जिसमें न जाने कितने निर्दोष इसकी बलि चढ़ गए। सांप्रदायिक दंगों में दलित दलित न होकर मुसलमानों के लिए हिन्दू ही होता है। जहाँ जाति का कोई मोल नहीं होता। ऐसी ही एक घटना का ज़िक्र करते हुए मोहनदास कहते हैं कि जब दंगों के समय कुछ मुसलमानों ने मुझे पकड़ लिया और पूछताछ के दौरान मेरे बताने के बाद भी की मैं चमार हूँ तब भी "वहीं खड़े दो मुसलमान एक साथ बोले- चमार हो तो क्या, हो तो हिंदू ही। उनमें से तीसरा वार ही करना चाहता था कि सड़क से पुलिस की गाड़ी गुजरी। जिसे देख मुझे वहीं छोड़कर वे गली के दूसरी तरफ भाग गए।"[142] हम देख सकते हैं कि दलित जहाँ हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं है। वह हिन्दू समाज में उपेक्षित तो होता ही रहता है वहीं दूसरे धर्म के लोग भी उसे हिन्दू मानकर उपेक्षित की दृष्टि से देखते हैं।

दलित समाज का धर्म क्या है? यह प्रश्न अक्सर मोहनदास को बेचैन करता रहता है। मुसलमान बस्तियों में साथ रहने के कारण वह हिन्दू समाज से और भी उपेक्षित हो गए थे। उस समय तक डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था लेकिन बहुत से दलित अब भी हिन्दू धर्म को ही अपना धर्म मानते थे। धार्मिक नजरिया का ज़िक्र करते हुए कहते हैं कि ऐसी स्थिति में "हमारी संस्कृति, परंपरा के सूत्र बिखरकर न जाने कहाँ गुम हो गए थे। हम आधे मुसलमान थे और आधे हिंदू। बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर ने 6 दिसंबर, 1956 ई. में बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। पर हम बौद्ध कहां थे? केवल

[141] अपने-अपने पिंजरे(भाग-1), पृष्ठ सं.-44
[142] अपने-अपने पिंजरे(भाग-1), पृष्ठ सं.-48

'बुद्धम शरणम गच्छामि' कहने से तो बौद्ध नहीं हो जाते। फिर हम कौन हैं?"[143] दलित समाज इसी तरह के प्रश्नों से लगातार जूझता रहा है। उसके अपने समाज (हिन्दू) ने कभी अपना माना ही नहीं। बल्कि धर्म का सहारा लेकर हमेशा दलितों का शोषण ही किया। दलित समाज हिन्दू रीति-रिवाजों का पालन करता रहा लेकिन फिर भी हिन्दू धर्मों से दूर रहा। शायद इसीलिए धीरे-धीरे दलितों के बीच नये देवी-देवताओं का जन्म हो गया, जो केवल दलित समाज में ही पूजे जाते थे।

हिन्दू धर्म के ठेकेदारों का दलित समाज के साथ नकारात्मक रवैया मोहनदास के अन्दर धर्म के प्रति घृणा का भाव भर देता है। कई तरह के सवाल उनके मस्तिष्क में आने लगते हैं। धीरे-धीरे हिन्दू धर्म की व्यवस्था, उसकी परम्परा और रूढ़ियों के प्रति वितृष्णा हो जाती है। समाज में गरीबों की हालत देखकर मंदिरों और उसमें रहने वाले देवी-देवताओं के प्रति उनकी आस्था खत्म होने लगती है। उस समय की घटनाओं को याद करते हुए बताते हैं कि जब मंदिरों में ही भूख से बेहाल भिखमंगे थाली-कटोरे लेकर लोगों के आगे फैलाते और दूसरी ओर लाज बचाती स्त्रियाँ। मंदिर दलालों और भड़वों से घिरे रहते। मंदिरों में ही महिलाओं का बलात्कार होता और उसमें भी दलित महिलाओं की संख्या ज्यादा होती। भगवान चुपचाप सबकुछ देखता रहता उसके अन्दर तनिक भी ताकत नहीं होती कि इन सब हो रहे अत्याचारों को रोक सकें। धर्म और आस्था के नाम पर पुजारी लोगों को लूटते रहते थे। ऐसे में कई बार अपनी बस्ती के लोगों से ही देवी-देवताओं के अस्तित्व के सवाल को लेकर काफी बहसें हो जाती। लेकिन अनपढ़ और अशिक्षित दलितों के ऊपर धर्म के डर की ही विजय होती थी।

आगे चलकर जब दलितों के अन्दर ज्ञान का प्रकाश फैला, शिक्षा का विकास हुआ तो धीरे-धीरे हिन्दू धर्म से उनकी विरक्ति भी होने लगी। दलित नेताओं और बुद्धजीवियों के भाषणों और तर्कों द्वारा हिन्दू धर्म की एक-एक पोल खोली जाने लगी। दलितों के प्रति हिन्दू धर्म की उपेक्षा और उत्पीड़न ने उन्हें धर्म बदलने पर मजबूर कर दिया था और उस समय धर्म परिवर्तन की कई घटनाएं घटने लगी। हिन्दू धर्म में जाति-पांति और छुआछूत की व्यवस्था ने दलितों को मुस्लिम धर्म को स्वीकारने के लिए मजबूर कर

[143] अपने-अपने पिंजरे(भाग-1), पृष्ठ सं.-84

दिया। क्योंकि जहाँ हिन्दू मंदिरों में दलितों के लिए कोई स्थान नहीं था, वहीं मस्जिदों में सबके लिए दरवाजे खुले थे। वहां कोई ऊँच-नीच नहीं था। ऐसे में बहुत से दलितों ने उत्तरप्रदेश में धर्म परिवर्तन कर लिया था। मोहनदास नैमिशराय इस घटना का वर्णन करते हुए कहते हैं कि- "जगह-जगह दलित उत्पीड़न की घटनाओं के परिणाम स्वरूप दलित धर्म परिवर्तन कर रहे थे। कुछ दलित मस्जिदों में जा-जा कर कलमा पढ़ रहे थे। किसी भी एक दलित व्यक्ति के, जिसके बीबी-बच्चे भी हों मुसलमान बनने का अर्थ समूचे परिवार का मुस्लिम धर्म में चले जाना था।"[144] इस तरह धार्मिक मतभेद का लाभ मुसलमान लोग उठा रहे थे। वे दलितों को अपने धर्म में शामिल करने के लिए तरह-तरह के तर्क देते थे। ऐसे में हिन्दू धर्म की उपेक्षा दलितों को मुस्लिम धर्म स्वीकार करने के लिए मजबूर कर रही थी।

ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी आत्मकथा 'जूठन' में भी धार्मिक बाह्याडम्बरों और अंधविश्वासों की सच्चाईयों का बेबाकी से चित्रण करते हैं। कई तरह के अन्धविश्वास दलित समुदाय में फैले हुए थे और फैलाए भी गए थे। कारण यह था कि दलित समाज की बस्तियां गाँवों से अलग होती थी। उनका संपर्क होते हुए भी न के बराबर था। ऐसे में कई तरह के धार्मिक अन्धविश्वास तथा भूत-प्रेत का डर दलितों में सवर्ण समाज द्वारा फैला दिए जाते थे। जब ओमप्रकाश के भाई जसबीर का ट्रांसफर बागडोगरा (बंगाल) हो जाता है। तब घर के लोग खासकर उनकी माँ रोने-धोने लगती हैं कि पता नहीं जसबीर का क्या होगा? दरअसल उन दिनों बंगाल के प्रति दलित लोगों के अन्दर तरह-तरह की भ्रांतियाँ फैला दी गई थीं। ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि- "माँ की स्मृति में बंगाल की धारणा उन दिनों प्रचलित धारणाओं और मान्यताओं पर आधारित थी, जिसमें रवीन्द्रनाथ टैगोर, क्रांतिकारियों का बंगाल नहीं था, काले जादू, टोने-टोटकों का बंगाल था, जहाँ औरतें आदमी को जादू से बकरा बनाकर आँगन में बाँध लेती हैं।"[145] ऐसी और भी कई धारणाएँ दलितों में बंगाल के प्रति फैलाई गई थीं। जिसके पीछे ब्राह्मणवादियों का पूरा हाथ होता था। दरअसल इसके पीछे का कारण यह था कि अगर दलित लोग गाँव छोड़कर शहरों में जाने लगें तो फिर उनके घरों और खेतों में काम कौन करता, उनकी हरवाही कौन

[144] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-154

[145] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-23

करता? ऐसे में उन्हें रोकने के लिए इस तरह की भ्रांतियाँ और अन्धविश्वास फैलाए जाते। और अशिक्षित दलित आसानी से उनकी बातों में आ जाता था।

हिन्दू धर्म की परम्पराएँ और रीति-रिवाज ऐसी थीं जो हमेशा दलितों को अपमानित ही करती थी। ओमप्रकाश ऐसी ही एक प्रथा का ज़िक्र करते हैं जहाँ दलित शादी में दूल्हा को अपने ससुराल में सवर्णों के घर जाकर सलाम करना पड़ता था। जिसके बदले में सवर्ण स्त्रियाँ जो कुछ भी देती उसे स्वीकार करना पड़ता। यह प्रथा दलितों को एक तरह से अपमानित करने के लिए ही बनाई गई थी। ताकि दलितों को यह हमेशा एहसास होता रहे की वो समाज में सबसे नीचे है। ऐसी प्रथा सवर्ण समाज में नहीं थी। वहीं दलितों में जब भी कोई बीमार पड़ता तो इलाज के लिए डॉक्टर या दावा-दारु करने के बजाय ओझा, बाबाओं की शरण में जातें थे। धार्मिक अन्धविश्वास के कारण खासकर दलित बस्ती में भूत-प्रेत का डर भी काफी गहरे रूप में समाया हुआ था। ओमप्रकाश वाल्मीकि बताते हैं कि – "बस्ती में जब भी कोई बीमार पड़ जाता, दावा-दारु करने के बजाय भूत-प्रेत की छाया से छुटकारा पाने का कार्य, झाड़-फूँक, टोन-टोटके, ताबीज, गंदे भभूत आदि की आजमाइश शुरू हो जाती थी। ये तमाम काम रात में किये जाते थे।"[146] बात यही तक नहीं थी बल्कि इस झाड़-फूँक के इलाज के देवी-देवता भी अलग होते थे। दलितों के देवता हिन्दुओं के देवी-देवता से अलग होते। ओमप्रकाश वाल्मीकि संकेत करते हैं कि- "कहने को बस्ती के सभी लोग हिंदू थे, लेकिन किसी हिंदू देवी-देवता की पूजा नहीं करते थे। जन्माष्टमी पर कृष्ण की नहीं, जहाँपिर की पूजा होती थी या फिर 'पौन' पूजे जाते थे। वे भी अष्टमी को नहीं, 'नवमी' के ब्रह्ममुहूर्त में।"[147] धर्म का ऐसा प्रभाव था कि शादी हो या जीवन-मरण किसी भी हाल में देवताओं की पूजा करना जरुरी था। क्योंकि ऐसा न करने पर लोगों के अन्दर कुछ भी अनिष्ट होने की आशंका सदैव बनी रहती थी। धर्म के विषय पर ओमप्रकाश वाल्मीकि का अपने पिता से कई बार बहस भी हो जाया करती थी। 'रामचरितमानस' और 'गीता' जैसे धार्मिक ग्रंथों को पढ़ने के पश्चात् कई तरह के प्रश्न उठते थे जिसे लेकर ओमप्रकाश वाल्मीकि को अपने अध्यापकों से भी कई बार अपमान सहना

[146] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-52
[147] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-53

पड़ता था। होता यह था कि गीता-दर्शन के ठीक विपरीत फल की कामना के लिए लोगों को उकसाया जाता यानी एक तरह से कर्मकांड की स्थापना की जाती। जिससे ओमप्रकाश के अन्दर कई तह के सवाल उठते और उन सवालों के जवाब में स्कूल के अध्यापक उन्हें मारते या परीक्षा में नंबर कम देते या फिर जातिगत फब्तियां कसते कि 'देखो चूहड़े का, बामन बन रहा है'। इस प्रकार सवर्ण तबका दलितों की सोच-समझ को रोकने या कुंद करने की लगातार कोशिश करते रहते थे जो आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में जारी है।

हिन्दू धर्म की परम्परा और उसमें व्याप्त बुराइयों का भी चित्रण दलित आत्मकथाओं में किया गया है। पूजा के नाम पर पशु बलि देना हिन्दू धर्म में सदियों से चली आ रही है। कभी देवी-देवताओं को खुश करने के लिए तो कभी अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए तरह-तरह के धार्मिक पाखंड किये जाते हैं और उस धर्म के पोषक ब्राह्मण पुजारी वो सभी कृत्य करते हैं जो सामाजिक घृणा के प्रतीक माने जाते हैं। उस समय दशहरे में पशु बलि की प्रथा हिन्दू धर्म का अनिवार्य अंग माना जाता था। एवं इस घृणित काम में सभी वर्गों के लोग शामिल होकर खुशियाँ मनाते थे। भैंसे की बलि के समय एक-एक ब्राह्मण पुजारी पूजा का थाल लेकर भैंसे के ऊपर सिन्दूर, चावल, हल्दी से तिलक करता और ऊँची आवाज में संस्कृत के श्लोक पढ़ता रहता। और यह सब विधि हिन्दू-परम्परा और रीति-रिवाज के अनुसार घटित होता था। ओमप्रकाश बताते हैं कि- "भैंस की गर्दन कटते ही चारों ओर खुशी की लहर दौड़ गई थी। लोग नाचने लगे थे। जोर-जोर से चिल्ला रहे थे। एक ओर मुर्गों और बकरों की बलि दी जा रही थीं। कुल मिलाकर एक भयावह माहौल था मानो हत्याओं का मेला लगा हो।"[148] धर्म की पाखंडता का अध्याय लिखा जा रहा था जिसके कारण सवर्णवादी तबका फुले नहीं समा रहे थे। ऐसे कई जगहों पर जिनमें देहरादून, कालिका, गढ़वाल आदि स्थानों पर पशुवध का मेला कई सौ वर्षों से हिन्दू समाज में अब भी चला आ रहा है। वर्तमान में धर्म के अंतर्गत अहिंसा और पशु-प्रेम की बात करने वाले हिन्दू धर्म का कितना भयानक इतिहास रहा है।

[148] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-98

'दोहरा अभिशाप' में कौसल्या बैसंत्री धार्मिक-सांस्कृतिक रीति-रिवाज और उसमें फैली बुराइयों का वर्णन करती हुई कहती हैं कि दलित जातियों के बीच भी कई तरह के मतभेद तथा भेदभाव धर्म के माध्यम से फैलाए गए थे। कौसल्या बैसंत्री महार जाति से सम्बन्ध रखने के बावजूद भी वे दूसरे महार जाति में शादी नहीं कर सकती थीं, जब तक की उनकी उपजाति भी समान न हो। दरअसल महारों में भी धार्मिक कारणों की वजह से कई सारी उपजातियाँ बन गई थीं। अपनी उपजाति का ज़िक्र करती हुई कहती हैं कि- "हमारी महार जाति में साड़ेबारा उपजातियां थी। कोसरे, बावने, लाडजीवन, अधजीवन, सोमवंशी, बारके, झाडे बावने वगैरह। सबमें खान-पान हो जाता था परन्तु विवाह मात्र अपनी ही उपजाति में होता था। उपजातियों में शादी की रस्में भी एक जैसी नहीं थीं।"[149] धर्म ने व्यक्ति को व्यक्ति से किस प्रकार बाँट रखा था यह हम देख सकते हैं।

धर्म का प्रभाव समाज पर चारों तरफ से था। सवर्ण हो या अवर्ण कोई भी समुदाय इसके प्रभाव से कभी बच नहीं सकता। व्यक्ति के अन्दर जब डर जैसी चीज समा जाती है तो वह धर्म के ही शरण में जाता है। ईश्वर को खुश करने के लिए मनुष्य सारे धार्मिक कुकृत्य भी करने को तैयार हो जाता है। कौसल्या बताती हैं कि उनकी माँ से पैदा हुए लगातार तीन बच्चों की मृत्यु हो जाती है तब मंदिर जाकर शिव से प्रार्थना करती हैं कि आगे होने वाले बच्चे अगर जीवित और स्वस्थ रहे तो मंदिर में बकरे की बलि और वजन के बराबर चावल और गुड़ चढ़ाएगी। यह जानते हुए कि शिव के मंदिर में अस्पृश्यों का प्रवेश वर्जित है। जिस ब्राह्मणवादी धर्म ने उन्हें मंदिर में जाने तक रोका और ईश्वर (शिव) कुछ नहीं कर सका, उसी के चौखट पे जाकर मंदिर के बाहर से ही प्रार्थना करती है। और सफल हो जाने के बाद उसी हिन्दू धर्म की गंदी परंपरा का पालन उत्साह के साथ करती हैं। कौसल्या बैसंत्री कहती हैं कि- "मेरे जन्म के तुरंत बाद ही घर में कुछ मंत्र-तंत्र, टोना वगैरह किये गए। पैदा होते ही पाँच धातु की (सोना, चंडी, लोहा, ताम्बा और पीतल) नथ से मेरी नाक छेदी गई। ब्राह्मण के घर से जूठी पत्तल लाकर उसके ऊपर मुझे पाँच बार इधर-उधर घुमाया गया। ब्राह्मण श्रेष्ठ होता है, भगवान् के समान, यही भावना इसके पीछे

[149] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-22

रही होगी।"[150] ब्राह्मणवादी परंपरा का इससे घृणित चेहरा दूसरा नहीं देखा जा सकता जहाँ एक बच्चे को किसी व्यक्ति के जूठे पत्तलों पर लिटाया जाता हो। इस तरह की धार्मिक प्रथाएं समाज में अब भी देखी जा सकती है। दक्षिण भारत के एक जिले के गाँव में ऐसी प्रथा अभी भी मौजूद है जहाँ दलित समाज के लोगों के द्वारा, ब्राह्मणों के खा लेने के बाद जमीन पर पड़ी पत्तलों में जूठन के ऊपर हाथ जोड़कर लेटने की परम्परा है। जिसे दलित ख़ुशी-ख़ुशी करते है और इसे अपना अधिकार भी मानते हैं। शिक्षा और विज्ञान के विकास के बाद भी अगर इस तरह की प्रथाएं समाज में अब भी मौजूद हैं तो आज से 68 साल पहले की स्थिति कैसी रही होगी और उसके आगे की तो बात ही छोड़िए।

दलित समाज में कई तरह के अन्धविश्वास फैले हुए थे। अगर कोई ज्यादा बीमार होता तो ही डॉक्टर के पास जाते थे। अन्यथा घर में झाड़-फूँक, तंत्र-मंत्र से ही इसे खत्म करने की कोशिश की जाती थी। लोगों का भूत-प्रेतों पर ज्यादा विश्वास था। किसी भी तरह की बीमारी को चाहे वह खसरा हो, चेचक हो या फिर टाईफाईड ही क्यों न हो उसे देवी का प्रकोप मान लेते और धार्मिक विधि से शीतला माता की पूजा करते। माता को खुश करने के लिए कई तरह के गीत गाये जाते। दैवीय प्रकोप के डर से वे डॉक्टरी दवाइयों का इस्तेमाल न करके सिर्फ देवी की पूजा पर ही एकमात्र भरोसा रहता था। वहीं दूसरी तरफ कोई देवी को बकरे और मुर्गी-मुर्गे की बलि चढ़ाने की मन्नत भी मांगता। न जाने ऐसी कितनी धार्मिक मान्यताएं थीं जिसका पालन दलित समाज के लोग करते रहते थे। लेकिन धीरे-धीरे दलितों में शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने इस तरह के धार्मिक रीति-रिवाजों को बहुत हद तक खत्म कर दिया है। दलित समाज में तब के और अब के धर्मगत बदलाव का ज़िक्र करती हुई कौसल्या कहती हैं कि- "आषाढ़-पूर्णिमा के दिन मंदिर में बहुत बड़ी पूजा होती थी। देवी पर बकरे-मुर्गों की बलि दी जाती थी। नारियल गुड़ भी चढ़ाया जाता था। बच्चों के झुण्ड प्रसाद लेने के लिए वहां जम जाते थे। बलि दिए हुए जानवर का मांस घर में लाकर और पकाकर खाते थे। अब अधिकांश महार बौद्ध हो गए हैं और उन्होंने इस अंधविश्वास और काल्पनिक देवी-देवताओं को पूजना छोड़ दिया है। माता के मंदिर की जगह अब यहाँ बौद्ध मंदिर

[150] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-28

बन गया है।"[151] महारों का बौद्ध होना दरअसल डॉ. अम्बेडकर के प्रभाव का नतीजा था। हिन्दू धर्म को त्याग कर मानव समानता की बात करने वाला बौद्ध धर्म को सबसे पहले स्वीकार डॉ. अम्बेडकर ने ही किया था। और उसी धर्म को दलितों के हित के लिए उपयुक्त बताया था। प्रभाव स्वरूप बहुत से दलितों ने बौद्ध धर्म अपना लिया।

प्रत्येक धर्म में ईश्वर की कल्पना की गई है और उसकी सत्ता को संसार में चारों तरफ माना गया है। समाज में प्राकृतिक घटनाओं को भी उसी ईश्वरीय सत्ता का प्रतीक मान लिया जाता रहा है। इसलिए आज भी किसी भी घटना को ईश्वरीय शक्ति की महिमा से जोड़ दिया जाता है। दलित समाज और परिवार में भी इस ईश्वरीय सत्ता को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। कौसल्या बैसंत्री कहती हैं कि – "छः बहनों के बाद भाई पैदा होने पर माँ-बाबा ख़ुशी से फूले नहीं समा रहे थे। तब वे कुछ धार्मिक प्रवृत्ति के थे। उन्होंने हर वर्ष पाँच वर्ष तक गणपति की घर में स्थापना करने का निश्चय किया था। अस्पृश्य समाज के लोग गणपति पूजा को इतना महत्त्व नहीं देते थे। वे तो शिव और कृष्ण के भक्त थे। उनके कुछ अपने देवी-देवता थे। मीराबाई, खंडोबा, देवतुल्ला, वाघोबा वगैरह, उनकी वे पूजा करते थे।"[152] दलित समाज हिन्दू धर्म से प्रभावित होने से हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा तो करता था, लेकिन इसके अतिरिक्त उनके कुछ अलग से स्वयं के देवी-देवता भी थें। जो हिन्दू देवी-देवताओं से अलग थे और वे सवर्ण जातियों में नहीं पूजे जाते थे। दलितों में, कहीं-न-कहीं हिन्दू धर्म की उपेक्षा और उनकी अशिक्षा और अज्ञानता ने ही उनके धार्मिक देवताओं की संख्या बढ़ा दी थी। इसलिए डॉ. आंबेडकर ने नागपुर के कस्तूरचंद पार्क में हिन्दू धर्म के ठेकेदारों से कहा था कि- 'अगर हिन्दू हमें अपनी बराबरी का नहीं समझेंगे तो हम धर्मांतरण करेंगे'।

धार्मिक ढोंग करने वालों की बात बताती हुई कौसल्या बैसंत्री कहती हैं कि भोपाल में मेरे घर के दोनों तरफ ब्राह्मण परिवार रहता था। जो अत्यंत ही धार्मिक प्रवृत्ति के थे। जब भी वे कुछ दिनों के लिए

[151] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-35
[152] दोहरा अभिशाप, पृष्ठ सं.-57

घर से बाहर जाते तो दरवाजे पर ताला लगाने के साथ भगवान् की तस्वीरों की फ़ौज भी लाइन से लगाकर रख देते थे।

और इसके बाद भी कहते की जरा हमारे घर का ख्याल रखना। धर्म का ढोंग करने वाले चूँकि जानते हैं कि ईश्वर उनकी घर की रक्षा नहीं कर सकता फिर भी वे धार्मिक बाह्याडम्बरों का पालन करते ही रहते हैं।

दलित समाज और परिवार में फैली धार्मिक बुराइयों एवं इसके प्रभावों का वर्णन माता प्रसाद अपनी आत्मकथा करते हैं कि किस प्रकार धर्मान्धता के कारण फैले भूत-प्रेत के चक्कर में दलित समाज फंसकर आपस में ही लड़ते रहते थें। और इस झगड़े का फैसला गाँव का ओझा करता था। किसी पे कोई बीमारी का प्रकोप होता तो अक्सर उसे भूत-प्रेत का साया ही मान लिया जाता था। माता प्रसाद कहते हैं कि- "उस समय भूत-प्रेत के बारे में भी आपस में झगड़े होते। इसमें ओझा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती। वह बताता था किसने किस पर कौन सा भूत किया है फिर वह भूत वापस करता या कहीं नदी में ले जाकर उसे बैठाता था।"[153] धार्मिक अंधविश्वासों के कारण ही घर में भूत-प्रेत की मान्यता होने के कारण झाड़-फूँक में अधिक विश्वास होना, देवी-देवताओं के लिए छौना काटना आदि रिवाज शामिल थे। और यह सब धर्मान्धता के कारण ही दलित समाज में व्याप्त था। लेकिन वहीं दलित समाज समय के साथ विकास की ओर भी बढ़ रहा था। धार्मिक बुराइयों के प्रति चेतना के विकास के बाद उसका तिरस्कार भी कर रहा था। संत रविदास जो दलित जाति के थे का प्रभाव लोगों पर दिख रहा था। फलस्वरूप दलित समाज में डॉ. आंबेडकर जयंती के साथ रविदास जयंती के भी जूलूस निकाले जाते थे। इस जूलूस में धार्मिक नारे भी लगतें थें जैसे- "सच्चे धर्म की क्या पहचान-मानव-मानव एक समान। छुआछूत का नाश हो। महात्मा रविदास की जय।"[154] इस प्रकार के नारों से दलित समाज के प्रति होने वाली धार्मिक असमानता के प्रति लोगों में चेतना पैदा की जाती। इसके अतिरिक्त बाल-विवाह और दलित बच्चों की न पढ़ने की परम्परा का भी जोरदार विरोध किया जाता था। क्योंकि बहुत से दलित अपने बच्चों को इसलिए नहीं पढ़ाते थे क्योंकि हिन्दू धर्म ग्रंथों में उनके पढ़ने के लिए मनाही थी।

---

[153] झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ सं.-35-36

[154] झोपड़ी से राजभवन, पृष्ठ सं.-69

धर्म का एक दूसरा स्वरूप भी इस आत्मकथा में देखने को मिलता है। जैसा की दलितों को तीर्थ स्थानों में नहाने या दर्शन करने तक की मनाही धर्मग्रंथों में थी। लेकिन अगर कोई दलित राजनीतिक व्यवस्था का अंग बन जाता है तो उसका धार्मिक संस्कार भी किया जाता है। राज्यपाल बनने के बाद माता प्रसाद परशुराम कुंड में स्नान और मंदिर में दर्शन भी करते हैं जहाँ उनके लिए कोई रोक-टोक नहीं रहती। उलटे उनका तिरस्कार न करके भव्य स्वागत और उचित स्नान की व्यवस्था भी की जाती है। यहाँ हम हिन्दू धर्म के अंतर्विरोध को देख सकते हैं।

धार्मिक-संस्कारों और रीति-रिवाजों की दशा सूरजपाल चौहान भी अपनी आत्मकथा में करते हैं। दलित समाज धर्म की रूढ़ियों में इस तरह जकड़ा हुआ है कि वह लाख कोशिशों के बाद भी आसानी से मुक्त नहीं हो पाता। और उनके समाज के हालात को देखने से ऐसा लगता है कि क्या कभी वे पूरी तरह से इस धार्मिक पाखण्डता और बुराइयों से मुक्त हो पायेगा? सूरजपाल चौहान कहते हैं कि माँ की बीमारी की खबर सुनकर पिता दिल्ली से आते तो आते ही डॉक्टरी इलाज करने की बजाय 'भक्तावल' शुरू करवा देते थे। जो एक प्रकार के भगत और ओझाओं की झाड़-फूँक होती थी। और इसी तरह के चक्कर में "हमारे घर का ही नहीं, भंगी मौहल्ले के हरेक घर का यही हाल था। अंध-विश्वासों में बिलबिलाते व खदबदाते अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे हमारे गाँव के भंगी।"[155] दलित समाज का कोई भी समुदाय क्यों न हो इसी तरह के धार्मिक जंजालों में फंसा हुआ है।

आज जिस तरह धार्मिक मतभेद अपनी चरम अवस्था पर दिखाई दे रहे हैं। वैसी ही स्थितियाँ पहले भी थीं। हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के प्रति घृणा का भाव रखते थे। क्योंकि दोनों समाजों का धर्म एक-दूसरे के विपरीत है। एक सूर्य की बात करता है तो दूसरा चन्द्रमा की। ऐसे में धार्मिक मतभेद होना स्वाभाविक ही था। अखिल भारतीय हिन्दी सम्मलेन के दौरान हिन्दू संगठन के 'भारतीय जनता पार्टी', 'आर.एस.एस.', 'विश्व हिन्दू परिषद्' और 'बजरंग दल' के लोगों ने एक भव्य सम्मलेन किया। जिसमें मुस्लिम समाज के लोगों के प्रति कई तरह के कटु वाक्य कहे गए। सूरजपाल चौहान हिन्दू धार्मिक

[155] तिरस्कृत, पृष्ठ सं.-14

मानसिकता वाले लोगों का ज़िक्र करते हुए कहते हैं कि- "उदघाटन सत्र में हरेक वक्ता ने भारत के मुस्लिम समाज को भरकर अपशब्द कहे। वातावरण इस प्रकार लगा कि मानों हम किसी राजनैतिक पार्टी या किसी धर्म सम्मेलन में आये हुए हों। उदघाटन सत्र के दौरान 'हर-हर महादेव' के नारे गूंजते रहे। वहाँ पधारे हरेक व्यक्ति के सीने पर 'जय श्रीराम' के बिल्ले लगाये जा रहे थे।"[156] इस सम्मलेन में एक तरह से धार्मिक दंगों का बीज बोया जा रहा था। धर्म का काला चेहरा उनके भाषणों में साफ़ नजर आ रहा था। मानवता का ढोंग करनेवालों की पोल खुल रही थी। पूरे कवि सम्मलेन में हिन्दू होने का गुणगान और देश के मुस्लिम भाइयों को गद्दार, कमीना, विदेशियों के पिट्ठू न जाने कितने तरह के शब्दों से नवाजा जा रहा था। लोगों में वैमनष्यता, धर्म के माध्यम से फैलायी जा रही थी। जिसका परिणाम बाबरी मस्जिद दंगों के रूप में देखा जा चुका था।

धार्मिक दिखावा करने वालों के बारे में सूरजपाल चौहान कहते हैं कि उनकी स्थिति गोयल साहब जैसी ही रहती है। गोयल साहब उनके ऑफिस में ही बड़े पद पर अधिकारी थे। हिन्दू होने का नाते हिन्दू धर्म में उनकी घोर आस्था थी। स्थिति यहाँ तक की ऑफिस के सरकारी कागजों के ऊपर भी 'ॐ' अंकित करके ही उसको आगे बढ़ाते थें। उनकी पत्नी भी घोर धार्मिक थी। लेकिन उनके धर्म की पोल तब खुल जाती है जब रामनवमीं का त्यौहार आता है। जिसमें पाँच कन्याओं को खाना खिलाना होता था। उनका ड्राइवर चार कन्याओं को ही लेकर उनके घर आ पाता है, पांचवी का जुगाड़ नहीं हो पाता। लेकिन तभी अचानक दरवाजे पर एक बालिका को देखकर पत्नी खुश होते हुए कहती है कि बालिका के रूप में देवी स्वयं आई हैं। लेकिन जैसे ही पता चलता है कि वह बालिका अछूत जाति की है। उसका सारा दिखावा और कर्मकांड बाहर आ जाता है। कुछ समय पहले गोयल की पत्नी का सूरजपाल के प्रति कथन रहता है कि- "यह सब छुआछूत धीरे-धीरे अपने आप समाप्त हो जायेगी, कहाँ

[156] तिरस्कृत, पृष्ठ सं.-65

हैं अब बीस-पच्चीस वर्ष पुरानी बातें?"[157] लेखक के सामने यह कहा गया वाक्य और बालिका के प्रति किए गए व्यवहार के दृश्य को देखकर एक झटके में चकनाचूर हो जाती है।

सूरजपाल चौहान उस तरफ भी संकेत करते हैं जहाँ धार्मिक बाह्याडम्बर केवल हिन्दू सवर्णों में ही नहीं था, बल्कि दलित बुद्धिवियों में भी कहीं-न-कहीं मौजूद था। 'दलित लेखक संघ' (2003) की बैठक में दलित साहित्यकारों के बीच जमकर धर्म की आवश्यकता और अनावश्यकता के बारे में बात हुई थी। और अंत में अध्यक्षीय भाषण में डॉ. तेजसिंह (जो अब नहीं रहे) ने दलितों के कल्याण हेतु बौद्ध धर्म की आवश्यकता को जरुरी बताया था। लेकिन उनके कथनी और करनी के अंतर को बताते हुए सूरजपाल कहते हैं कि- "कुछ महीने बाद यानी मार्च, 2004 में अपनी बेटी की शादी डॉ. तेजसिंह ने 'हिन्दू धर्म' के रीति-रिवाज से की थी। इस बात का खुलासा डॉ. कुसुम वियोगी ने 'दलित संघ' के दूसरे अधिवेशन के अवसर पर 24-25 अप्रैल, 2004 के दिन मंच से डॉ. तेजसिंह की पोल खोलते हुए कहा था।"[158] इस घटना से पता चलता है कि धर्म का दिखावा केवल सवर्ण ही नहीं करते थे बल्कि दलित बुद्धिजीवियों में भी था। जिनकी संख्या बहुत कम थी। ऐसे में देखा जा सकता है कि धर्म का प्रभाव लोगों पर इस कदर है कि शिक्षित होने के बाद भी वे इससे आसानी से मुक्त नहीं हो पाते हैं।

श्यौराज सिंह बेचैन धर्म के बारे में कहते हैं कि – "जहाँ तक मेरी याददाश्त है, मेरे घर-परिवार के जो संस्कार रहे उनमें शराब, जुआ या अन्य व्यसनों के लिए कोई जगह नहीं थी। व्रत,पूजा, गंगा-स्नान आदि सब वंश रीति के अनुसार चलते थे। लेकिन हमारे देवताओं में नौंना चमारी, भौपुर की चामुण्डा, बंगले के बंगाली बाबा, सैयद बाबा, भीनुपुर की दाई मैया प्रमुख थीं।"[159] इससे ये पता चलता है कि कुछ देवी-देवता केवल दलित समाज में ही होते थे। इनके चढ़ावे भी अलग होते और किसी व्यक्ति के इलाज के समय इन्हीं देवताओं को बुलाया जाता था। लेकिन लेखक इन सबकी समाप्तिकरण की ओर भी इशारा करता है जो दलितों में शिक्षा और विज्ञान के माध्यम से संभव हो रहा है।

---

[157] तिरस्कृत, पृष्ठ सं.-118

[158] संतप्त, पृष्ठ सं.-121

[159] मेरा बचपन मेरे कन्धों पर, पृष्ठ सं.-15

एक ही हिन्दू धर्म को मानने के बावजूद भी कई रीति-रिवाज, धार्मिक कार्य सवर्णों से दलितों के अलग थे। धर्म की जटिलता ब्राह्मणों के समान दलितों के समाज में नहीं थी। कई मामलों में वे स्वछन्द थे। श्यौराज सिंह कहते हैं कि- "पुनर्विवाह करना, विधवा विवाह करना या स्त्री-पुरुष को परस्पर सहमती से छोड़ना-जोड़ना हमारे यहाँ सामान्य प्रक्रिया थी। ब्राह्मणों जैसी जटिलता हमारे यहाँ आज भी नहीं है, जिसमें विधवा स्त्री जिंदगी-भर दूसरों पर बोझ बनी बैठी रहे।"[160]

विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अंतर करते हुए श्यौराज सिंह सिक्ख और हिन्दू धर्म के गुणों और अवगुणों पर भी प्रकाश डालते हैं। दलित समाज हिन्दू धर्म के अंतर्गत ही आता है, लेकिन उनकी हिन्दू धर्म में जगह क्या थी, कहाँ थी? थी भी या नहीं? इस तरह के कई सवाल उनके जेहन में उठते थे। ऐसा इसलिए की वहां छुआछूत, जाति-पांति था, स्त्रियों का दर्जा नीचे माना जाता था। लेकिन सिक्ख धर्म में ऐसा नहीं था। उनमें जात-पांति तो था लेकिन हिन्दुओं जैसी छुआछूत नहीं थी। दलित मिलजुल कर उनके साथ रहते थे। वहां किसी प्रकार का पाखंड नहीं था। दलित महिलायें पुरुषों के साथ काम करती थी। एक तरह से समानता का भाव सिक्ख धर्म में था। श्यौराज सिंह का गाँव यादव बहुल गाँव था। जहाँ कुछ यादव आर्यसमाजी धर्म को अपना लिए थे। जिससे वे दलितों से कम छुआछूत बरतते थे। लेकिन वहीं दूसरे यादवों की स्थिति ऐसी थी कि उनके धार्मिक कर्मकांड तो ब्राह्मणों से भी दो कदम आगे तक रहती थे। अतः छुआछूत में तो वे ब्राह्मणों को भी मात दे देते थे। "आर्य समाजियों के अलावा ज्यादातर यादव ब्राह्मणों से भी अधिक कर्मकांडी, अन्धविश्वासी और सवर्ण संस्कृति के वाहक थे।"[161] आज भी कहीं-कहीं यादवों को ओबीसी ब्राह्मण की संज्ञा दे दी जाती है। चूँकि अब ऐसा बहुत कम है। मुसलमानों का व्यवहार भी दलितों के साथ अच्छा था। क्योंकि उनमें भी हिन्दू धर्म की तरह छुआछूत अथवा भेदभाव की समस्या नहीं थी। रीति-रिवाज, कर्मकांड चाहे अलग थे। पूजा-पाठ की प्रक्रिया भले ही अलग थी। लेकिन दलितों के प्रति उनका धर्म हिन्दू धर्म की तरह कठोर नहीं था। श्यौराज सिंह कहते हैं कि- "पर हाँ, मस्जिद में घुसने की मनाही नहीं। मंदिर जैसी हिकारत, छुआछूत यहाँ दूर तक नहीं। काम से भी कोई

[160] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृष्ठ सं.-37
[161] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृष्ठ सं.-160

नफरत नहीं। मुँह-हाथ धोइए, मुल्ला की बगल में जा बैठिये प्यार-मोहब्बत से दिल में आया तो बात करते-करते वे सिर पर हाथ भी फिर देंगे।"[162] इस तरह का व्यवहार पंडितों द्वारा दलित के प्रति असम्भव सा था। परम्पराएँ ऐसी जिस पर हिन्दू गर्व से फुले नहीं समाते। तमाम बुराइयों के बावजूद भी अपने धर्म, संस्कृत, रीति-रिवाज, पर अभिमान करते।

रूपनारायण सोनकर की आत्मकथा 'नागफनी' में भी धार्मिक संस्कारों के प्रति दलितों के लगाव और सवर्ण समाज का धार्मिक पाखण्ड का चित्रण स्पष्टता से किया गया है। कई तरह के त्यौहार समाज में प्रचलित थे जो सवर्ण के लिए तो जरुरी थे लेकिन दलितों के लिए मनाही थे। ऐसा ही एक धार्मिक कार्य जौ उगाने का भी था। दूसरी ओर देवी का आशीर्वाद पाने के लिए दलित और पिछड़े समुदाय के लोग अपने गालों से लोहे के छड़ को आर-पार करवाते। इस तरह के कई अंधविश्वास दलित समाज में मौजूद थे। इस धार्मिक कार्य में ब्राह्मण दलितों को प्रोत्साहित भी करते। रूपनारायण सोनकर बताते हैं कि- "साँग छेदने वाले अधिकतर दलित और पिछड़ी जाति के होते थे। अपवाद स्वरूप ही कोई ब्राह्मण और ठाकुर अपने गालों में साँग लगवाते थे। दलितों और पिछड़ों को साँग छिदवाने के लिए ब्राह्मण सदैव प्रोत्साहित किया करते थे।"[163] हम देख सकते हैं कि धर्म के ठेकेदार अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए उतने उत्साहित नहीं दिखाई देते हैं। जबकि धर्म का ठेका उन्हीं के हाथों में रहता है।

भारतीय संस्कृति की दुहाई देने वाले सवर्ण समाज की पोल भी इस आत्मकथा में खुलती हुई दिखाई देती है। रूपनारायण सोनकर कहते हैं कि जब वे जुलाई के महीने में अपने गाँव नसेनियाँ जा रहे थे, तभी रास्ते में घनघोर वर्षा होती है। कच्ची सड़क और पानी होने के कारण उनकी साईकिल भी नहीं चलती है। और अंततः वे थककर एक घर के पास खड़े हो जाते हैं। तभी सामने ब्राह्मण मिश्रा उन्हें देखकर अपने यहाँ ठहरने की बात करते हुए कहते हैं कि- "भारतीय संस्कृति और सभ्यता यह कहती है कि यदि शाम के वक्त कोई थका-मांदा राहगीर घर आ जाए तो उसे बिना खाना खिलाये एवं विश्राम

[162] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृष्ठ सं.-268

[163] नागफनी, पृष्ठ सं.-16

कराये घर से नहीं जाने देना चाहिए।"[164] लेकिन जैसे ही सोनकर की जाति के बारे में पता चलता है। मिश्रा क्रोधित होकर उन्हें रात में ही अपने घर से निकाल देते हैं। वह भी सारी सभ्यता, संस्कृति को ताक पर रखकर।

धर्म के सम्बन्ध में प्रो. तुलसीराम अपनी आत्मकथा में कहते हैं कि 'मूर्खता मेरी जन्मजात विरासत थी'। अर्थात् दलितों के लिए हिन्दू धर्म ने पहले ही घोषणा कर दिया गया था कि वे पैदा ही मूर्ख होते हैं। इसलिए ईश्वर ने उन्हें केवल दूसरों के सेवा कर्म के लिए ही पैदा किया हैं। इसलिए प्रो. तुलसीराम के दादा-परदादा और गाँव के अन्य दलित ब्राह्मण जमींदारों की बधुंवा मजदूरी, उनकी हरवाही आजीवन करते रहे। लेकिन समय के साथ दलितों में चेतना के फलस्वरूप कुछ लोग बंधुआ मजदूरी से मुक्त भी हो रहे थे। लेकिन वहीं कुछ लोग हिन्दू धर्मान्धता से अब भी मुक्त नहीं हो पाए थे। तुलसी राम कहते हैं कि इसी धर्मान्धता के कारण "मेरे पिता को खानदानी हरवाही से कभी मुक्ति नहीं मिली। वे अक्सर कहा करते थे कि यदि हरवाही छोड़ दूंगा तो 'ब्रह्महत्या' का पाप लगेगा। अत्यंत धर्मांध होने के कारण वे हरवाही को अपना जन्मसिद्ध अधिकार एवं पवित्र कार्य समझते थे।"[165] भले ही शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने दलितों को इस परम्परा से मुक्ति मिल गयी हो। लेकिन आज भी गाँवों में बहुत से दलित इस तरह की परम्परा का पालन करते हुए मिल जायेंगे। गरीबी और भूख के कारण इस तरह के कर्म करने के लिए अब भी मजबूर हैं।

कई लोग मानते हैं कि सामाजिक और धार्मिक सुधार को वरीयता देना भ्रम है इसलिए सम्पति के समानीकरण द्वारा आर्थिक सुधारों को अन्य हर प्रकार के सुधारों से वरीयता दी जानी चाहिए। यद्यपि यह बात सच है कि आर्थिक उन्नति के कारण ही आज बहुत से दलितों कि स्थिति काफी सुदृढ़ हुई है। लेकिन अगर हम देखे भारत में बहुत से लोग करोड़पति, अरबपति आज भी साधु और संतों के पास क्यों जाते हैं? उनका कहना क्यों मानते हैं? दूसरी तरफ भारत में लाखों गरीब अब भी अपनी संपत्ति बेचकर कुम्भ और हज करने मक्का क्यों जाते हैं? इसलिए हमें धर्म की जड़ता को खत्म कर उसमें बदलाव

[164] नागफनी, पृष्ठ सं.-23
[165] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-14

करना ही होगा अन्यथा ऐसे धर्म को अपनाना होगा जो मानवीय समानता की बात करता हो। मानव को मानव से, पशु से, प्रकृति से प्रेम करना सीखाता हो। इसलिए डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म को अपनाया था जो इसी मानवीय प्रेम पर आधारित है।

पंचम अध्याय

हिन्दी दलित आत्मकथाओं का वैशिष्ट्य

पंचम अध्याय

हिन्दी दलित आत्मकथाओं का वैशिष्ट्य

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में दलित आत्मकथाओं ने अपनी महत्त्वपूर्ण पहचान बनाई है। इन आत्मकथाओं ने न केवल किसी विशेष समुदाय को अपने साहित्य का माध्यम बनाया बल्कि सम्पूर्ण समाज को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। साहित्य को समाज से अगर पूर्ण रूप से किसी ने जोड़ा है तो वह दलित आत्मकथाओं ने। ये आत्मकथाएं सामाजिक यथार्थ से जुड़ी होने के कारण समाज के केवल बाहरी चमक-दमक की ही बातें नहीं करतीं बल्कि उसके भीतर की सच्चाई को भी उजागर करती हैं। दलित आत्मकथाओं ने साहित्यिक आलोचना की परिपाटी को एक नया मोड़ देने का काम किया है। काव्यशास्त्रीय-आलोचना के बरक्स समाजशास्त्रीय आलोचना को महत्ता दी है। यह वह आलोचना नहीं है जिसका विकास शास्त्रार्थ के दौरान संरक्षणकर्ताओं को संतुष्ट और मुग्ध करने के लिए हुआ करता था और जिसे केवल रस, छंद, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सम्प्रदायों तक ही सीमित कर दिया गया था। बल्कि इससे इतर सामाजिक विडम्बनाओं एवं विसंगतियों को आधार बनाया है। इसीलिए आज "हिन्दी की यह नयी आलोचना जिस समाज और साहित्य की चिंता से हमारा परिचय पाती है, वह है पिछले दो-तीन दशकों में भारतीय परिदृश्य में उभरा दलित समाज और उनके द्वारा रचित साहित्य।"[1]

5.1 यथार्थ के स्तर पर - यथार्थ का सीधा-सीधा अर्थ है- 'जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप में वैसा ही चित्रण करना' वह भी बिना कलात्मकता के। मानवीय जीवन में अच्छी और बुरी दोनों स्थितियाँ मौजूद होती हैं। लेकिन उनका सम्यक् वर्णन ही यथार्थ के अंतर्गत आता है दलित आत्मकथाएं मानवीय जीवन के दोनों पहलुओं को पाठकों के सामने रखती हैं। इसलिए वह साहित्य की परम्परागत परिपाटी को तोड़ती भी है और रचना को यथार्थ से जोड़ती भी है। दलित आत्मकथाओं का यथार्थ अब तक के साहित्यिक यथार्थ से थोड़ा अलग नजर आता है। वह साहित्य से समाज के सम्बन्ध की केवल बात ही नहीं करती, उसे अनिवार्य भी मानती है। इसलिए वह रचना की संरचना में समाज को अनिवार्य

[1] दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम, पृष्ठ सं.-206

मानती है। दलित आत्मकथा उस वर्ग की विरोधी है जो केवल साहित्य को मनोरंजन या स्वान्तः सुखाय तक ही सीमित मानते हैं। दलित आत्मकथाओं की विशेषता है कि वह रचना में कल्पना के बजाय यथार्थ को महत्त्व देती है। और इस यथार्थ अभिव्यक्ति में कलात्मकता का समावेश लगभग न के बराबर होता है। वह किसी स्वप्न संसार की रचना नहीं करती बल्कि जमीनी हकीकत की बात करती है। दलित समाज कोई कल्पना नहीं है बल्कि भारतीय समाज की एक सच्चाई है जो आज भी गरीबी में अपना जीवन जीने को मजबूर है। भारतीय सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में दलित चिंतक मोहनदास नैमिशराय कहते हैं कि- "हम गरीब जरुर थे पर हमने न देश को बेचा था न अपना जमीर। न हम डंडीमार थे और न ही सूदखोर। चोर लुटेरों की श्रेणी में हम नहीं आते थे। हमारे पुरुखों ने घर बनाए, शहर बनाए पर न हमारे पास ढंग के घर थे और न बस्तियाँ। शहरों के भीतर बसने की कल्पना भी करना हमारे लिए मुश्किल थी। शहर-दर-शहर और उनके आसपास छितरे हमारी जात के लोगों की यही दास्तान थी।"[2]

5.2 सामाजिक-यथार्थ का चित्रण - दलित आत्मकथाओं को सामाजिक-यथार्थ के स्तर पर देखा जाय तो यह पूरी तरह खरी उतरती हुई दिखाई देती हैं। ये समाज की उन तल्ख सच्चाइयों को बिना लाग-लपेट के बयान करती है जो मुख्यधारा के समाज के साथ कभी जुड़ा ही नहीं या फिर जिसे जुड़ने ही नहीं दिया गया। जो इन आत्मकथाओं की एक प्रमुख विशेषता ही है। दलित साहित्य के अध्येता बजरंग बिहारी तिवारी कहते है कि- "दलित आत्मकथाओं में घोषित रूप से सिर्फ वास्तविकता है। घालमेल रहित वास्तविकता।"[3] अतः इस वास्तविकता को स्पष्टता के साथ दलित आत्मकथाओं में देखा जा सकता है। आज भी भारतीय समाज जाति और वर्ण के घेरे में बंटा हुआ है और इस बंटवारे में सबसे शोषित, पीड़ित, लांछित और कलंकित दलित समाज ही है। जिसे समाज की मुख्यधारा आज भी वह अधिकार, सम्मान और आर्थिक स्वतंत्रता नहीं दे पा रही है, जो किसी भी मनुष्य की बुनियादी जरूरत है। दलित समाज का यथार्थ-चित्रण आत्मकथाओं में देखा जा सकता है। मोहनदास नैमिशराय सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते हुए कहते हैं कि- "हर जाति और वर्ग के लोग अपनी-अपनी पहचान

[2] अपने-अपने पिंजरे (भाग-2), पृष्ठ सं.-14
[3] अपेक्षा, जनवरी-जून 2013, पृष्ठ सं.-53

में सिमटे हुए थे। शहर धड़कता था पर अलग-अलग स्वर में। बस्तियां थिरकती-नाचती थीं अलग-अलग बोलियों में। उन सबसे मिलकर बना यह शहर।"[4] अर्थात् कहने को तो सभी मनुष्य समान थे लेकिन सामाजिक सच्चाई यह थी कि एक साथ होते हुए भी धर्म और जाति के नाम पर लोग बंटे हुए थे।

हिन्दू समाज में व्याप्त जाति-व्यवस्था एक यथार्थ है जिसका चित्रण करना दलित आत्मकथाओं की प्रमुख विशेषता रही है। भारतीय समाज में सदियों से सवर्णों ने ब्राह्मणवादी व्यवस्था के तहत दलितों का शोषण किया जो एक सच्चाई है, जिसका कोई उल्लेख अब तक के साहित्य में न के बराबर रहा। दलित आत्मकथाएं दलित समाज की इस सच्चाई को लोगों के न केवल सामने रखती है बल्कि उस सच्चाई के पीछे के कारणों पर प्रकाश भी डालती है। जाति-व्यवस्था हिन्दू समाज का यथार्थ है जिसके प्रभाव से कोई भी अछूता नहीं है। दलित आत्मकथाएं बताती है कि आजादी के बाद भी दलित समाज के लोगों की स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया था। चारों तरफ "अस्पृश्यता का ऐसा माहौल था कि कुत्ते-बिल्ली, गाय-भैंस को छूना बुरा नहीं था लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इनसानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ जरुरत की वस्तु थे। काम पूरा होते ही उपयोग खत्म। इस्तेमाल करो, दूर फेंको।"[5] यह वह सच है जिसे आज तक साहित्यिक अभिव्यक्ति कभी मिल ही नहीं पाई। जाति का जंजाल केवल हिन्दू समाज में ही नहीं था मुस्लिम समाज में भी उसी तरह मौजूद था। उनका भी दृष्टिकोण दलितों के प्रति अच्छा नहीं था। आत्मकथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि इस सामाजिक यथार्थ का वर्णन करते हुए कहते हैं कि- "बरला गाँव में कुछ मुसलमान त्यागी भी थे। त्यागियों को भी तगा कहते थे। मुसलमान तगाओं का व्यवहार भी हिन्दुओं जैसा ही था। कभी कोई अच्छा साफ-सुथरा कपड़ा पहनकर यदि निकले तो फब्तियाँ सुननी पड़ती थीं। ऐसी फब्तियाँ जो बुझे तीर की तरह भीतर तक उतर जाती थीं। ऐसा हमेशा होता था। साफ-सुथरे कपड़े पहनकर कक्षा में जाओ तो साथ के लड़के कहते, 'अबे चूहड़े का, नए कपड़े पहनकर आया है।' मैले-पुराने कपड़े पहनकर स्कूल

[4] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-12
[5] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-12

जाओ तो कहते, 'अबे चूहड़े के, दूर हट, बदबू आ रही है।"[6] दलित समाज के इस अवस्था का चित्रण सवर्ण साहित्यकारों ने कभी किया ही नहीं। बल्कि उल्टे वे जाति की चर्चा का विरोध करते रहे और जाति उत्पन्न विसंगतियों, भेदभाव, वैमनष्य को नकारते ही रहे। उनका कहना है कि अब जाति का कोई अस्तित्व ही समाज में नहीं रह गया है। जबकि देखा जाय तो देश में दलित उत्पीड़न की घटनायें कम नहीं हुईं हैं, अब भी जारी हैं। जिन्हें कुछ तथाकथित उच्च जाति के विद्वान अब भी अनदेखा करके चुप्पी साध लेते हैं।

5.3 नव्य-इतिहास लेखन की असीम संभावनाएँ- अगर आज की बात करें तो साहित्यिक-विमर्शों के केंद्र में दलित आत्मकथा एक सशक्त विधा के रूप में उभरकर सामने आई है। जिसे दलित साहित्य के केंद्र में भी देखा जा सकता है। इसलिए लेखक और आलोचक दलित साहित्य की विशिष्टताओं और उपलब्धियों की चर्चा करते समय प्रायः वे आत्मकथाओं की ही चर्चा कर रहे होते हैं। इसलिए आत्मकथा एक विशिष्ट विधा के रूप में उभरकर सामने आई है। अगर हम इन आत्मकथाओं के स्वरुप को देखें तो इसका एक हिस्सा साहित्य से जुड़ता है तो दूसरा हिस्सा इतिहास से। इसमें साहित्य की सर्जनात्मक संवेदना होती है तो इतिहास की तथ्यपरकता भी। दरअसल आत्मकथा लेखक के जीवन का एक तरह से इतिहास ही होता है। जिसमें वह अपने जीवन, परिवेश के साथ-साथ अपने परिवार और समाज के सुख-दुःख, संघर्ष, रहन-सहन, जीवन-शैली आदि घटनाओं का पूरा ब्यौरा प्रस्तुत करता है। अर्थात् आत्मकथाएं संवेदना और परिवेश के स्तर पर यथार्थ का दावा तो करती ही हैं, व्यक्तियों और घटनाओं की तथ्यपरक सच्चाई का भी दावा करती हैं। इसी विशेषता के चलते ही आत्मकथाएं दलित साहित्य की रीढ़ बन चुकी हैं। दलित आत्मकथाओं ने पाठकों को यह विश्वास दिलाया है कि वे जिस घृणा और भयावह जीवन को पढ़ रहे हैं वह कोई काल्पनिक समाज नहीं, बल्कि एक व्यक्ति और उसके समाज की आपबीती है। अतः दलित आत्मकथाएं ऐतिहासिक दस्तावेज की भूमिका भी निभातें हैं और एक फिर से एक नए इतिहास के लेखन की ओर संकेत भी करती हैं। अपनी इसी विशिष्टता के कारण

[6] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-13

दलित आत्मकथाएं दलित समाज के परिवेश, संस्कृति, शोषण और यातना का प्रमाणिक ऐतिहासिक दस्तावेज भी मानी जाती है।

5.4 नामकरण का वैशिष्ट्य – किसी भी साहित्यिक कृति का शीर्षक अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। क्योंकि शीर्षक से ही उसमें अन्तर्निहित कथावस्तु का बहुत कुछ आभास पाठक को हो जाता है। लेखक जो कुछ कहना चाहता है, वह रचना के शीर्षक से ही बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। इसलिए किसी भी कृति के नामकरण के चुनाव में अत्यंत सावधानी बरती जाती है। दलित आत्मकथाओं के नामकरण की बात की जाय तो यह बहुत ही उपयुक्त और सार्थक हैं। दलित आत्मकथाओं में परिवार और समाज की स्थिति क्या है? बहुत कुछ उसके शीर्षक से ही आभास हो जाता है। दलित आत्मकथाओं की कथावस्तु को देखें तो बहुत सारी बातें उसके शीर्षक से स्पष्ट हो जाता है। 'अपने-अपने पिंजरे' की बात करें तो जहाँ एक दलित व्यक्ति और उसके समाज लोगों की जाति-व्यवस्था के पिंजरे से मुक्त होने की छटपटाहट है। तो वहीं 'जूठन' में ऐसे दलित समाज और परिवार का चित्रण है जिनका जीवन दूसरों के जूठन पर आश्रित रहता है। 'दोहरा अभिशाप' में एक स्त्री जो दलित होने के नाते सवर्ण समाज में प्रताड़ित और शोषित तो होती है, स्वयं अपने परिवार में भी उसी पीड़ा का दंश झेलती रहती है। इस तरह वह दोहरे शोषण की शिकार होती है। 'तिरस्कृत' में ऐसे दलित व्यक्ति की कथा है जो सवर्ण समाज द्वारा केवल ग्रामीण क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि शहरी जीवन में भी तिरस्कृत होता रहता है। प्रत्येक क्षेत्र में उसे जातिगत भावना का तिरस्कार झेलना पड़ता रहता है। 'दोहरा अभिशाप' एक ऐसी आत्मकथा है जो दलित स्त्रियों के जीवन की मार्मिक झलक प्रस्तुत करती है| लेखिका ने पितृसत्तात्मक समाज में जहाँ दलित स्त्रियाँ के प्रति हो रहे भेदभाव और उनेक शोषण का चित्रण करती हैं, वहीं स्वयं के पारिवारिक जीवन में स्त्री होने की प्रताड़ना झेलती रहती हैं| 'झोपड़ी से राजभवन' में एक ऐसे दलित व्यक्ति के जीवन की कथा है जो अपने मेहनत और संघर्ष से गाँव की झोपड़ी से निकलकर राज्यपाल के भवन तक का सफ़र तय करता है। 'मेरा सफ़र मेरा मंजिल' एक व्यक्ति की स्वयं के सामाजिक संघर्षों की कथा है जिसमें वह अपनी मेहनत से अपनी मंजिल और मुकाम हासिल करता है।

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आत्मकथा में एक ऐसे दलित बच्चे की कथा है, जिसके बचपन में ही पिता की मृत्यु और गरीबी के कारण जीवन का भार स्वयं के कंधों पर ही आ जाती है। और अपने कंधों पर ही अपने जीवन को ढोता हुआ एक सफल व्यक्ति बनता है। 'शिकंजे का दर्द' में एक स्त्री की पारिवारिक जीवन की कथा है। जो सामाजिक और पारिवारिक रीति-रिवाजों और परम्पराओं के शिकंजे में जकड़ी हुई मुक्ति की कामना की छटपटाहट लिए संघर्षरत रहती है। 'मुर्दहिया' एक ऐसे गाँव की कथा है, जहाँ के लोगों का जीवन मुर्दहिया के बिना अधूरा है। मुर्दहिया वह स्थल है जहाँ मरने के बाद लोगों को दफनाया जाता है| सवर्ण हो या दलित सभी का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में मुर्दहिया से अवश्य जुड़ा हुआ है। 'मेरी पत्नी और भेड़िया' एक ऐसे व्यक्ति की कथा है जो अपनी ही पत्नी और परिवार के प्रतिरोध का शिकार होता रहता है। 'नागफनी' उस दलित समाज के लोगों की कथा है, जो वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था रूपी नागफनी के काटों का शिकार हमेशा होता रहता है।

अतः हम कह सकते हैं कि प्रत्येक आत्मकथा अपने नाम के अनुसार अपनी कथावस्तु को प्रस्तुत करने में सफल हुआ है।

5.5 परम्परागत धार्मिक पूर्वाग्रह की भर्त्सना- समाज में मौजूद हिन्दू धर्म की समस्त मान्यताओं जैसे- भाग्य, भगवान, पुनर्जन्म, अवतारवाद, आत्मा, परमात्मा, देवी-देवताओं के अस्तित्व का वर्णन करना इन आत्मकथाओं की विशेषता रही है। क्योंकि इसी धर्म और मान्यताओं का सहारा लेकर ब्राह्मणवादी समाज ने दलितों का सदियों से शोषण किया है। समाज में फैली धार्मिक बुराइयों के कारण ही दलित समाज पिछड़ेपन का शिकार रहा है। इन्हीं धार्मिक बुराइयों का ज़िक्र करती हुई डॉ. सुशीला टाकभौरे कहती हैं कि- "गाँव में रीति-परम्पराओं का निर्वाह ज्यादा किया जाता है। गाँव के पंडित शास्त्रों का हवाला देकर कठिन और खर्चीली पूजा-पद्धति करने का निर्देश देते हैं। लोग पूजा करके कष्टों और समस्याओं से मुक्ति की कामना करते थे। इन बातों पर विश्वास करते हुए परम्पराओं का निर्वाह अभी भी किया जाता है।"[7] धार्मिक बुराइयां केवल समाज तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि शिक्षण-

[7] शिकंजे का दर्द, पृष्ठ सं.-91

संस्थानों में भी पूरी तरह अपनी जड़े फैलाएँ हुईं थीं। आत्मकथाओं में देखा जा सकता है कि किस तरह छात्रों में ब्राह्मणवादी संस्कृति को अपनाने और उसका विस्तार करने का पाठ पढ़ाया जाता था। आत्मकथाकर रमाशंकर आर्य बक्सर जिले में स्थित 'महर्षि विश्वामित्र कालेज' के बारे में कहते हैं कि- "इस कालेज में रामचरितमानस का एक अलग वर्ग चलता था। इसके प्रयोजन को समझना उस समय मेरे मस्तिष्क से बाहर की चीज थी। इस प्रयोजन के पीछे का रहस्य अब मेरी समझ में आ गया है। धर्म और उसके विविध रूपों को समाज में जिन्दा रखना, यथास्थितिवाद को अक्षुण्ण बनाए रखना, ब्राह्मण संस्कृति को पुष्पित और पल्लवित करते रहना ही मानस-पाठ का मुख्य उद्देश्य था। इसके माध्यम से विद्यार्थियों को धर्म की जन्मघुट्टी पिलाई जाती।"[8] ऐसी कई सारे धार्मिक पाखण्ड का चित्रण दलित आत्मकथाओं में देखा जा सकता है।

5.6 आम-आदमी का चित्रण- भारतीय समाज में उत्पीड़ित-उपेक्षित मनुष्यों को साहित्यिक-विमर्श के केंद्र में लाने का काम दलित आत्मकथाओं ने ही किया है। दलित लेखकों ने अपनी कथा के माध्यम से सम्पूर्ण दलितों की ब्राह्मणवादी समाज में दयनीय स्थिति का चित्रण किया है। जिनकी हिस्सेदारी या उपस्थिति समाज में कहीं नहीं थी। न ही उनका कोई इतिहास था। शायद इसीलिए अपनी आत्मकथा में दलित समाज की ऐतिहासिक स्थिति का चित्रण करते हुए आत्मकथाकर डॉ. डी. आर. जाटव कहते हैं कि- "मानवजाति के वृहत इतिहास में मेरे पूर्वज नाचीज एवं नगण्य थे।....जिन्हें घृणित, तिरस्कृत माना गया और परतंत्र भारत में उन्हें अछूतों की संज्ञा दी जाती थी। अछूतों के रूप में मेरे पूर्वज निर्धनतम लोगों में भी निर्धन थे। उनके स्पर्श, छाया तथा दृश्यता से समाज के तथाकथित उच्च जातियों के स्त्री-पुरुष अपवित्र हो जाते थे। उनके लिए वे सभी मार्ग बंद थे जो शिक्षा और ज्ञानोदय की दिशा की ओर जाते थे।"[9] दलितों को शिक्षा से दूर रखना, उनका शोषण करना आदि की परम्परा का निर्वाह अब भी उसी तरह से किया जा रहा है। दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त जिस समाज का चित्रण

[8] घुटन, पृष्ठ सं.-39
[9] मेरा सफ़र मेरी मंजिल, पृष्ठ सं.-1

किया गया है वह कोई विशेष वर्ग के लोगों का नहीं हैं बल्कि एक ऐसे वर्ग से हैं, जिनकी हैसियत समाज में एक आम आदमी से ज्यादा कुछ भी नहीं है।

5.7 सोद्देश्यपरक-लेखन - दलितों में आत्मसम्मान तथा अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने और संघर्ष करने की प्रेरणा का चित्रण करना दलित आत्मकथाओं का उद्देश्य रहा है। किस प्रकार सवर्ण समाज उनके अधिकारों का हनन कर रहा है, उन्हें धोखे में रखकर अपने स्वार्थों की पूर्ति कर रहा है। आरक्षण का विरोध और शिक्षा का निजीकरण करने की साजिश लगातार ब्राह्मणवादी मानसिकता वाली सरकारें करती आ रही हैं। यह एक सच्चाई है कि अब भी सरकारी स्कूलों में दलितों के बच्चे ही अधिक संख्या में पढ़ते हैं। लेकिन सरकारें उन स्कूलों को इस स्थिति में पंहुचा देना चाहती हैं कि वहाँ पर शिक्षा की उचित व्यवस्था न हो पाए। इसलिए हम गाँवों के प्राइमरी स्कूलों की हालत देख सकते हैं कि कहीं पूरे अध्यापक नहीं हैं, तो कहीं भवन ही नहीं हैं, तो कहीं टाट-पट्टी, श्यामपट्ट, चाक नहीं है। जिसका सबसे अधिक खामियाजा दलित और निर्धन वर्ग के छात्रों को ही भुगतना पड़ रहा है। और यह सब शिक्षा के निजीकरण के तहत हो रहा है। वरिष्ठ दलित लेखक माता प्रसाद कहते हैं कि- "शिक्षा का निजीकरण दलितों और गरीबों पर सबसे बड़ा वज्रपात है। इससे निजी शिक्षा संस्थाओं को फीस बढ़ाने की छूट मिल जायेगी। मेडिकल, इंजीनियरिंग, व्यावसायिक, तकनिकी और औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए निजी शिक्षा संस्थाओं में डोनेशन के रूप में कई-कई लाख रुपए देने पड़ेंगे।.....इसलिए गरीबों और दलितों के बच्चों के रोजगार के अवसर ही बंद हो जायेंगे।"[10] अतः हम देख सकते हैं कि दलित आत्मकथाओं का लेखन बिना वजह नहीं होता। बल्कि उसके पीछे एक सामाजिक उद्देश्य होता है।

दलित आत्मकथाओं की विशेषता है कि वह समता, स्वतंत्रता और बंधुता का पक्षधर है। समाज में किसी प्रकार का उत्पीड़न चाहे सामाजिक हो, धार्मिक हो, आर्थिक हो या राजनीतिक हो का घोर विरोध करना उसका उद्देश्य है। दलित समाज का उत्पीड़न एक सामाजिक सच्चाई है जिसका उल्लेख दलित आत्मकथाओं में किया गया है।

[10] दलित साहित्य के प्रतिमान, पृष्ठ सं.-214

5.8 साहित्य और समाज के अन्त:सम्बन्ध - भारतीय साहित्यिक परंपरा में समाज और साहित्य का सम्बन्ध अविच्छिन्न रहा है। जहाँ साहित्य कहते ही हमारे दिमाग में ख्याल आता है कि किताब, ग्रंथ आदि का भंडार और समाज के सन्दर्भ में मनुष्य, प्राणी एवं वस्तुओं का समूह । साहित्य शब्द स+हित से बना है अथवा साहित्य में हित का भाव रहता है। असल में साहित्य का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति और समाज का हित करना होता है। जिस साहित्य से समाज का हित नहीं साधा जाता उसे साहित्य नहीं कहा जा सकता, और वह साहित्यकार भी खरा नहीं उतरता ।

साहित्य की परिभाषाओं को देखें तो हम पायेंगे कि साहित्य और समाज परस्पर अन्योन्याश्रित है। निबंधकार बालकृष्ण भट्ट ने साहित्य को जहाँ 'जन समूह के हृदय का विकास' माना है तो वहीं संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य को 'ज्ञानराशि का संचित कोश' माना है। अर्थात् सामाजिक जीवन और सामाजिक ज्ञान ही साहित्य के एक मात्र साधन हैं। साहित्य का आधार जीवन है इसलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य को 'जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब' माना है। साहित्य समाज में होने वाली घटनाओं और समस्याओं को केवल हू-ब-हू प्रस्तुत नहीं करता बल्कि उन समस्याओं से निकलने की राह भी दिखाता है। शायद इसीलिए प्रेमचंद ने 'साहित्य को समाज के आगे चलने वाली मशाल' कहा है। इसके साथ ही वह साहित्य का उद्देश्य सिर्फ मनोरंजन करना नहीं मानते हैं बल्कि साहित्य को व्यक्ति के 'विवेक को जाग्रत करने वाला' तथा 'आत्मा को तेजोदीप्त' बनाने वाला मानते हैं। कहने का अर्थ यह है कि सभी विद्वान साहित्य से समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते हैं । लेकिन " भारतीय साहित्य की दुनिया पिछले तीन-चार दशकों में बहुत बदल गई है, क्योंकि इस साहित्य की दुनिया जिस समाज से जुड़ी है वह समाज भी इस बीच बहुत बदल गया है। वैसे तो किसी भी युग में साहित्य की रचना और उसके बोध की प्रक्रिया सामाजिक सन्दर्भ से अप्रभावित नहीं रही है, लेकिन आधुनिक युग में सामाजिक-सन्दर्भ और राजनीतिक-परिवेश का जितना व्यापक और निर्णायक प्रभाव साहित्य पर पड़ रहा है उतना पहले कभी नहीं पड़ा ।"[11] आज का साहित्य कल्पना के बजाय यथार्थ को

[11] मनुष्यता के आईने में दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-77

ज्यादा महत्ता दे रहा है। इसलिए आज दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श, आदिवासी-विमर्श जैसे विषय आज साहित्य के क्षेत्र में चर्चा का विषय बने हुए हैं।

इसलिए दलित साहित्यकार दलित साहित्य को सामाजिक क्रांति से जोड़ते हैं। उनका मानना है कि अन्य साहित्यिक परम्पराओं की अपेक्षा दलित साहित्य का सीधा सम्बन्ध जीवन के यथार्थ से जुड़ता है। हिन्दू समाज ने वर्णाश्रम धर्म के हजारों सालों से दलितों को उत्पीड़ित और शोषित बनाए रखा है। हिन्दू वर्णाश्रम व्यवस्था में जो मान्यताएं प्रचलित हैं और उन मान्यताओं में दलितों के प्रति जो अपमान , तिरस्कार और घृणा का भाव है उसे हिन्दू धर्मग्रंथों में जगह-जगह देखा जा सकता है। व्यास स्मृति के अनुसार-

" वर्द्ध कि नापितो गोपः आशापः कुंभकारकः

वनीक्किंत कायस्थ मालाकार कुटुंबिनः

वेरटो भेद चांडालः दासो श्वपच कोलकाः

एषां संभाषणात्स्नानम दर्शनादर्कनीक्षणम्"[12]

अर्थात् बढ़ई, नाई, ग्वाला, कुम्हार, बनिया, किरात, कायस्थ, भंगी, कोल, चांडाल, ये सब 'अन्त्यज' कहलाते हैं। इनसे बात करने पर स्नान और देखने पर सूर्य के दर्शन से शुद्धि होती है। वर्णाश्रम व्यवस्था में ब्राह्मण की श्रेष्ठता निर्विवाद है। यहाँ तक कि ब्राह्मणों ने अपनी सर्वोच्च सत्ता बनाए रखने के लिए अपने आपको देवताओं से भी श्रेष्ठ घोषित कर दिया। जिसका वर्णन मनुस्मृति जैसे ग्रंथों में देखा जा सकता है। इस प्रकार हिन्दू वर्णव्यवस्था कि सारी मान्यताएँ दलितों के विरोध में खड़ी है। वर्णाश्रम व्यवस्था ने दलितों पर द्विजों का इतना निर्णायक सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक वर्चस्व कायम कर दिया कि उसे दंड शक्ति कि उतनी जरुरत ही नहीं रह गई। उल्लेखनीय है कि वर्णाश्रम और जाति-व्यवस्था पुनर्जन्म और कर्मफल के तर्क पर आधारित है। इसके तर्कों के अनुसार पूर्व जन्म में किये गए कर्म के अनुसार ही ऊँची-

[12] मनुष्यता के आईने में दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-80

नीची जातियों का जन्म होता है। यानी जाति स्वयं भगवान की निर्मिति है। इसलिए दलितों को सच्चे भाव से सवर्णों की सेवा करना आवश्यक बनाया गया है। और यही उनकी मुक्ति का मार्ग भी है। ऐसे यह समझना कोई मुश्किल नहीं रह जाता कि यह मुक्ति का मार्ग था या गुलामी का।

ऐसा नहीं है कि साहित्य का सामाजिक सम्बन्ध दलित साहित्य के आने से पहले नहीं रहा, बेशक रहा लेकिन उन साहित्यों में दलित समाज की स्थिति न के बराबर रही अगर रही भी तो केवल दयाभाव तक। उन साहित्यों में दलितों की स्थिति बस दयायाचक तक ही सीमित रही। न उनमें कोई आक्रोश था न ही अपने अधिकारों के प्रति लड़ने का संघर्ष। लेकिन आज के साहित्य में दलित अपने सामाजिक अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहा है, लड़ रहा है और ब्राह्मणवादी व्यवस्था का विरोध भी कर रहा है। और यह सब दलित साहित्य के आगमन के कारण से है।

दलित साहित्य की जिस विधा ने दलित समाज को साहित्य से सीधे-सीधे जोड़ा उनमें दलित आत्मकथाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। दलित आत्मकथाएं जिनका मूल स्वर विद्रोह और संघर्ष है और यह संघर्ष दलित समाज को सदियों से अंधेरे में रखने वाले ब्राह्मणवादी व्यवस्था के पोषकों से है। इस विद्रोह और संघर्ष की संवेदना का आधार वर्णभेद, जातिभेद और धार्मिक असमानताबोधक स्थितियाँ रही हैं। महाराष्ट्र में 'सत्यशोधक समाज' के संस्थापक महात्मा ज्योतिबा फुले , छत्रपति साहूजी महाराज आदि गैर ब्राह्मण विचारकों ने इस विद्रोह की शुरुआत की। जिसका प्रतिफलन हम आज दलित आत्मकथाकारों की रचनाओं में देख सकते हैं। मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, कौसल्या वैसंत्री, सूरजपाल चौहान, श्यौराज सिंह 'बेचैन', तुलसीराम, सुशीला टाकभौरे, माता प्रसाद, डी. आर. जाटव, रूपनारायण सोनकर, रमाशंकर आर्य आदि जैसे लेखकों की आत्मकथाओं में इस विद्रोह के स्वर को देखा जा सकता है।

5.9 रचना की संरचना में समाज अन्तर्निहित- दलित आत्मकथाओं का सम्बन्ध अन्य (गैर-दलित) साहित्यों की अपेक्षा समाज से सीधे-सीधे जुड़ता है। वह समाज की अभिव्यक्ति में कल्पना या सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं को केंद्र में नहीं रखता। बल्कि उसके केंद्र में समाज का यथार्थ

होता है। इसलिए दलित आत्मकथाओं की रचना के संरचना में समाज पूरी तरह अन्तर्निहित होता है, जो इसकी प्रमुख विशेषता है। गैर-दलित रचनाओं में जहाँ आभिजात्य वर्ग की चर्चा रहती हैं वहीं दलित आत्मकथाओं में दलित और आभिजात्य दोनों की चर्चा होती है। इस दृष्टिकोण से दलित आत्मकथाएं समाज से ज्यादा गहराई के साथ जुड़ी होती हैं। इस आधार पर दलित आत्मकथाओं का सम्बन्ध समाज से व्यापक रूप में जुड़ता है।

दलित आत्मकथाओं का समाज से सम्बन्ध इस रूप में है कि उसका जन्म ही दलित समाज के प्रतिनिधित्त्व के रूप में हुआ है। दलित समाज के प्रति सवर्ण समाज का छुआछूत, भेदभाव, घृणा और शोषित का व्यवहार हमेशा से रहा है। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक हर क्षेत्र में उन्हें निम्न श्रेणी में रखा गया है। उनके धन-संपत्ति को छिनकर दूसरों पर आश्रित रहने को मजबूर किया गया। पुनर्जन्म और भाग्यवाद के चक्कर में फँसाकर उनका मानसिक और शारीरिक शोषण किया गया है। दलित समाज के इसी सच को आत्मकथाओं के माध्यम से लोगों के सामने प्रस्तुत किया गया है। प्रोफेसर तुलसीराम कहते हैं कि- "मेरे दादा-परदादा गाँव के ब्राह्मण जमींदारों के खेतों पर बंधुवा मजदूर थे।...गाँव के अन्य दलित भी उन्हीं जमींदारों के यहाँ हरवाही (हल चलाने का काम) करते थे। यह हरवाही पुश्त-दर-पुश्त चली आ रही थी।... वे (पिता) अक्सर कहा करते थे कि यदि हरवाही छोड़ दूंगा तो 'ब्रह्महत्या' का पाप लगेगा।"[13] इस तरह के न जाने कितने अन्धविश्वास दलित समाज में फैले हुए हैं। जिसका शिकार दलित समाज अब भी हो रहा है।

ऐसा नहीं है कि दलित समाज के प्रति होने वाले भेदभाव से गैर-दलित लेखक परिचित न हो। लेकिन अपनी ब्राह्मणवादी मानसिकता के कारण उन्होंने भी दलित समाज को साहित्य में वरीयता नहीं दी। इसी कमी को पूरा करने में दलित साहित्य अपनी भूमिका निभा रहा है। दलित आत्मकथाएं का उद्देश्य केवल जातिभेद तक सीमित नहीं है बल्कि दलित समाज की तमाम समस्याओं को लोगों के सामने उजागर करना अपना लक्ष्य मानती है। जैसे- दलित समाज में शिक्षा की समस्या, रोजगार की

[13] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-14

समस्या, स्त्रियों के प्रति होनेवाले अत्याचार की समस्या, दलितो में फैली अन्धविश्वास की समस्या, अब भी नियतिवादी होकर गंदे कामों को करना, बाल-विवाह की समस्या, स्वयं दलितों के बीच फैले जातिवाद की समस्या आदि। क्योंकि स्वतंत्रता के बाद आरक्षण के अधिकार के तहत भी ये समस्याएँ अब तक खत्म नहीं हुई हैं। इस सन्दर्भ में प्रोफेसर विमल थोरात कहती हैं कि- "दलित आत्मकथन दलित समाज के विविध आयामों को अपने में समेटकर, उसके हर एक पहलू पर एक समाजशास्त्री की दृष्टि से विचार करके सामाजिक अंतःसंबंधों की पड़ताल करता हुआ नजर आता है। इसलिए वे केवल व्यक्तिगत अनुभवों की अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि दमित, दलित समाज के अनुभवों की अभिव्यक्ति हैं।"[14] अतः देखा जा सकता है कि दलित आत्मकथाओं के लेखक दलित समाज के नाते उनके रचना का सम्बन्ध सीधे दलित समाज से जुड़ जाता है। दरअसल आत्मकथा एक ऐसी विधा है जो समाज से जुड़े बिना उसकी रचना ही नहीं हो सकती।

5.10 प्रस्तुति या कथा कहने की शैली- दलित आत्मकथाओं में दलित समाज का चित्रण कथा की मुख्य अंतर्वस्तु है। चूँकि आत्मकथा 'मैं' अर्थात् लेखक स्वयं को केंद्र में रखकर रचना कर रहा होता है लेकिन वह इसके साथ-साथ अपने समाज और परिवेश की भी बात करता रहता है। दलित आत्मकथाओं का स्वर नकार और विद्रोह का है। इसलिए लेखक उन लोगों का विरोध करता है जो दलित समाज के शोषण के कारक हैं। हजारों सालों से सवर्ण समाज का दलितों के प्रति व्यवहार को आत्मकथाकर अपनी आत्मकथा में शब्दबद्ध करता है। इस क्रम में वह 'पूर्वदीप्ति' पद्धति यानि 'फ्लेश बैक' की शैली का इस्तेमाल करता है। कई दलित आत्मकथाकारों ने आत्मकथाओं को कई भागों में विभक्त भी किया है। जैसे कि- 'मेराबचपन मेरे कंधों पर' में बेवक्त गुजर गया माली, रामलाल : तेज धूप में जर्जर साया, घर?, बगुला भगति, कौम के ठेकेदार, बहन माँ का ब्याह, जीवित बचा स्वराज, दो रोटी-भर चुन की चोरी पेशी प्रधान के, विरासत, दिल्ली : बड़ी दुनिया में छोटे कदम, यहाँ एक मोची रहता था और भाई साब : एक प्रेरक पाठ। इनके अतिरिक्त इन भागों के अंतर्गत भी कई अध्याय हैं। ठीक इसी

[14] हिंदी दलित साहित्य, पृष्ठ सं.-195

तरह तुलसीराम ने भी 'मुर्दहिया' को कई भागों में विभक्त किया है जिसमें भुतही पारिवारिक पृष्ठभूमि, मुर्दहिया तथा स्कूली जीवन, अकाल में अन्धविश्वास, मुर्दहिया के गिद्ध तथा लोकजीवन, भूतनिया नागिन, चले बुद्ध की राह, आजमगढ़ में फाकाकशी। वहीं माता प्रसाद ने अपनी आत्मकथा में पत्रात्मक शैली को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। लेकिन इन विभक्तियों के बावजूद भी आत्मकथा कमजोर नहीं बल्कि सशक्त बनी है और दलित समाज की कथा कहने में सफल हुई है। इनके अतिरिक्त आत्मकथाओं में अनुभव शैली, वर्णनात्मक शैली और मनोवैज्ञानिक शैली के प्रयोगों को भी देखा जा सकता है।

5.11 भाषिक स्तर पर सामाजिक प्रयुक्तियाँ- भाषा वह माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचारों को दूसरों तक संप्रेषित करता है और यही बात साहित्य के साथ भी लागू होती है। जिसके माध्यम से लेखक अपनी बातों को पाठकों तक पहुँचाने में सफल होता है। भाषा की सामाजिक महत्ता के बारे में डॉ. निरंजन कुमार लिखते हैं कि- "संस्कृति का मुख्य आधार भाषा है। भाषा का मानव समाज एवं संस्कृति से गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि भाषा मानवीय परम्पराओं का वाहन है, अर्थात् भाषा न केवल संस्कृति का हिस्सा माना जाता है बल्कि संस्कृति को समझने के लिए उसकी भाषा को भी समझना जरुरी है।"[15]

इस क्रम में अगर दलित आत्मकथाओं की भाषा की बात करें तो उसकी भाषा-शैली के माध्यम से सम्पूर्ण समाज की पूरी जीवन्तता झलकती है। इन आत्मकथाओं की भाषा अभिजात वर्ग की न होकर सहज, सरल तथा आम बोलचाल की भाषा लगती है। हम देखते हैं कि जब किसी वर्ग विशेष से कोई रचनात्मक व्यक्ति साहित्य में प्रवेश करता है, तो वह अकेला ही प्रवेश नहीं करता, बल्कि उसके साथ उसका पूरा परिवेश, संस्कार और समाज साहित्य में प्रवेश करता है। इसलिए जब दलित साहित्यकारों ने हिन्दी साहित्य में प्रवेश किया तो उनके साथ दलित बस्तियों कि सारी सड़ांध और गालियाँ जिसे ब्राह्मणवादी समाज ने दिया था का भी साहित्य में प्रवेश हुआ। जिस प्रकार के दग्ध

[15] मनुष्यता के आईने में दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-132

अनुभव दलित साहित्यकारों को हुए, उनकी अभिव्यक्ति के लिए वैसी ही दग्ध भाषा का भी प्रयोग दलित साहित्यकारों ने अपनी आत्मकथाओं में किया है।

दलित आत्मकथाओं ने परंपरागत संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक-भाषा, काव्य-शैली, प्रस्तुतीकरण को नकार कर सर्वग्राही भाषा का प्रयोग किया है। ऐसी भाषा जो दलितों की पीड़ा,अपमान, व्यथा की सही और यथार्थवादी अभिव्यक्ति बन सके । इसलिए दलित आत्मकथाओं में कुछ ऐसे अश्लील शब्दों का भी प्रयोग हो जाता है जो साहित्य में वर्जित माना जाता रहा है। दरअसल इन शब्दों का प्रयोग आत्मकथाओं में अकारण नहीं हुआ है। दलित व्यक्ति सदियों से ब्राह्मणवादी समाज द्वारा अपने प्रति इस तरह के शब्दों को सुनने के लिए मजबूर रहा है। जीवन भर इसी तरह की गालियों को सुनते हुए वह बड़ा हुआ। अतः ऐसे में उसकी रचना में इस तरह शब्दों का आना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आत्मकथाकर मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा में अपने समाज का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि-उनका घर कसाइयों की बस्ती से सटा हुआ था। जहाँ नूर मौहम्मद नाम का एक कसाई रहता था। वह रोज अपनी दूकान के बाहर खाट डालकर आती-जाती दलित महिलाओं के ऊपर फिकरे बाजी करता था। और कोठे पर भी जाया करता था। उसकी बीवी तंग आकर कभी-कभी कोठे पर उसकी तलाश में चली जाती थी । इसकी प्रतिक्रिया में उसका पति घर आकर अपनी बीवी को बुरी तरह मारता-पिटता था। और कहता है कि-" 'बता भोसड़े मरानी ,क्यूं गई थी कोठे पर?' 'तू भी जाता है रोज अपने फलान को उठाये।' अज्जन भी चीखते हुए उत्तर में कहती। तभी उसकी कमर पर एक लाठी और पड़ती । बच्चे भीतर से चीखते-'हाय आपा, हाय अम्मी, मार डाला, अम्मी को बचाओ।' पर बचाए कौन? घर के दरवाजे के भीतर कुंडी लगी होती। और नूर मौहम्मद चीखते हुए और गालियाँ देता- 'अबकी अगर कोठे पर गई, ससुरी तुझे वाई नंगा कर दूंगा। तेरी सुतानिया खोलकर कुत्तों से नुचवाऊंगा।"[16] भाषा की यह स्थिति केवल मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा में नहीं है बल्कि अन्य दलित आत्मकथाकारों की आत्मकथाओं में भी ऐसी ही भाषा का प्रयोग देखने को मिलता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में अपने स्कूली वातावरण की घटना बताते हैं कि- "तीसरे दिन मैं कक्षा में जाकर

[16] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-21

चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी (कलीराम हेडमास्टर) दहाड़ सुनाई पड़ी, 'अबे, ओ चूहड़े के, मादर.... कहाँ घुस गया...अपनी माँ...'। उनकी दहाड़ सुनकर मैं थर-थर कापने लगा था। एक त्यागी लडके ने चिल्लाकर कहा, 'मास्साब, वो बैठा है कोणे में।' हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उँगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा से खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले, 'जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू ....नहीं तो गांड में मिर्ची डाल के स्कूल से बाहर काढ़(निकाल) दूँगा।"[17] इन उद्धरणों को देखने से पता चलता है कि दलित आत्मकथाओं की भाषा दलित समाज में प्रचलित भाषा को कलात्मक सौन्दर्य न देकर उसे यथार्थ रूप में लेखक ने प्रस्तुत किया है। जिसमें किसी प्रकार का बनावटीपन नहीं है। दलितों के प्रति सवर्ण समाज ने गालियों और भद्दी भाषा का ही अधिकतर प्रयोग किया। चाहे उन्हें बुलाने के क्रम में या फिर प्रताड़ित करने के क्रम में। यह एक सामाजिक सच्चाई है। लेकिन कुछ साहित्यिक विद्वान दलित आत्मकथाओं में इस तरह की भाषा को गन्दा और अश्लील बताकर साहित्य की कोटि से खारिज करते हुए नजर आते हैं। "उन्हें लगता है कि साहित्य का पाठ 'पवित्र' होना चाहिए। भले ही उसमें बनावटी भाषा, जो आभिजात्य संस्कारों में रची-बसी हो, का प्रयोग करना पड़े।"[18] किन्तु वे भूल जाते हैं कि साहित्य का सम्बन्ध समाज से ही होता है और दलित साहित्य समाजिक यथार्थ की बात करता है न कि कल्पना की इसलिए उसमें बनावटीपन कैसे आ सकता है?

दलित आत्मकथाकारों ने अपनी आत्मकथाओं में अपमान, संघर्ष और पीड़ा को अभिव्यक्त करने वाली भाषा का प्रयोग किया है। जो दलितों की संवेदना को पूरी तरह व्यक्त कर सके। इसलिए इसमें ऐसे अनेक शब्द आते हैं जिससे कई पाठकों का सामना पहली बार होता है। इसलिए कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं- "दलित समाज की बोली-बानी के ऐसे अनेक शब्द प्रकट होते हैं जिनसे साहित्य अनभिज्ञ था।"[16] दलित आत्मकथाओं में ऐसे अनेक बोलचाल की शब्दों को देख सकते हैं। जैसे – चमरकिट, लम्बरदार, लाठिया पकरिवान, बम्पुलिस, जाकत, चूहड़ा, मुसहरवा, तिरगुनी,

[17] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-15
[18] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ सं.-81

दुखोड़ा फेड़ना, रवाई, ढेलाई, डांगर, पुजैया, हिकना, पसकराई, बिस्टौरिया, आदि। लेखक जब सीधे-सीधे समाज को रचना के केंद्र में रखता है तो ऐसे लोक में प्रचलित शब्द अपने आप चले आते हैं।

दलित आत्मकथाएं सांस्कृतिक- साहित्यिक परम्परा को तोड़ते हुए आमजन के बीच बोली जाने वाली देशज भाषा का इस्तेमाल करती है। जिसे गंवारू और देहाती भाषा की संज्ञा भी दी जाती है। इसलिए कई बार गैर-दलित आलोचक द्वारा उसकी भाषा की गुणवत्ता को लेकर भी तरह-तरह के प्रश्न खड़े किये जाते रहे हैं। देखा जाय तो ये सारे प्रश्न बेबुनियाद ठहरते हैं। दलित समाज में प्रयोग होने वाली भाषा ही प्रायः देशज होती है तो फिर उसकी अभिव्यक्ति साहित्यिक भाषा में कैसे हो सकती है? जब उसे शिक्षा से दूर रखा गया, हमेशा उसके साथ पशुवत आचरण व्यवहार किया गया, उसके साथ गालियों से बात की गई तो फिर हम उससे किस सौन्दर्यशास्त्रीय भाषा की अपेक्षा रखे। दलित आत्मकथाओं में देशज वाक्यों का प्रयोग निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है -

1. "सुन सौराज, कान खोल के सुन! तेरो बाप मरि चुको है। वो तेरी सुन्न कूं अब कबऊ लौटिके के नाँय आवैगौ समझे। मैं तेरी कोई जिद पूरी नाँय कर पाउँगी। अब तो अपनी जिंदगी अपनी कमाई में गुजारनी है। जिद्द छोड़, कछु काम सीख ले।"[19]

2. " ईस्कूले न जईबा त चिठिया के पढ़ी?"[20]

"अब हम कहिओ हरवाही करै के न कहब । तूं जेतना पढ़ल चाहत हउवा, ओतना पढ़ा, अब केहू न बोली।"[21]

3. " 'अयं भैना यू किसका लौंडा है?'

'फलाने का है।' दूसरी तत्परता से जवाब में कहती।

'अरी यू तो पूरा किशन कनहैय्या ई बन रा है।"[22]

[19] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृष्ठ सं.-11
[20] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-24-25
[21] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-111

4. "अबे सोहरो, म्हारे जाकत दो अच्छर सीख लेंगे तो थारा क्या बिगड़ जागा..."[23]

इस तरह के ग्रामीण बोलियों का प्रयोग अन्य आत्मकथाओं में भी देखने को मिलता है जो आत्मकथाओं की विशेषता है। इन देशज वाक्यों के प्रयोग से ही आत्मकथाओं में जीवन्तता प्रदान हुई है। जिसके कारण ये सामाजिक यथार्थ से काफी गहरे रुप से जुड़ी हुई प्रतीत होती हैं।

भाषा के स्तर पर इन आत्मकथाओं में ग्रामीण-लोकगीतों के प्रयोग को भी देखा जा सकता है। गाँव-देहात में लोकगीत का अपना ही महत्त्व होता है जीवन-मरण से लेकर, हर तरह के त्यौहार, रीति-रिवाजों में इन गीतों की अपनी विशेषता होती है। दलित आत्मकथाओं में कहीं-कहीं इन गीतों को देखा जा सकता है। जो दलितों के जीवन में संघर्ष की प्रेरणा देती है। कथाकार सूरजपाल चौहान अपने पिता के जीवन के क्षणों को याद करते हुए कहते हैं कि- "ऑफिस से जब लंच-टाइम में जब घर आया तो वह ऊँचे स्वर में बिस्तर पर लेटे-लेटे प्रेम की लड़ियाँ गा रहे थे-

'भीम कहूँ भगवान कहूँ या भारत का अवतार

दिनों कि नैया डूब रही थी कर दी परली पार तनें

बम्बई प्रांत महू खड़े में जन्म सुफल परिवार किया

पिता रामजी राव के घर में, भीम जन्म अवतार लिया

देश-धर्म और जाति-वतन पर कर दी जान कुर्बान तनें'।"[24]

लोकगीतों की झलक प्रोफेसर श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा में भी देखने को मिलती है। उनकी बहन मायावती के शादी में विदाई के दौरान गाये गए मार्मिक गीतों को देखा जा सकता है-

"भैया को दिने महल अटरिया रे/ हम को दिया परदेस, अरे बाबुल मेरे!

---

[22] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-54

[23] जूठन (भाग-1), पृष्ठ सं.-41

[24] संतप्त, पृष्ठ सं.-127

हम तो बाबुल तेरे आँगन को कुडों रे/भोर भए फिंक जाएँ बाबुल मेरे!

हम तो बाबुल तेरे कोठे कि चिड़िया रे दूर देश उड़ी जायें बाबुल मेरे!"[25]

'मुर्दहिया' में प्रोफेसर तुलसीराम ने लोकगीतों के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों पर होने वाले व्यंग्यों का और पत्नी द्वारा पति की शिकायतों का वर्णन भी करते हैं। जैसे-

व्यंग्य- "हरिजन जाति सहै दुख भारी हो।

हरिजन जाति सहै, दुख भारी ॥

जेकर खेतवा दिनभर जोतली, ऊहै देला गारी हो, दुख भारी ॥

हरिजन जाति सहै, दुख भारी।"[26]

शिकायत- " कईसे सपरी हो भैया कईसे सपरी

मीलल हमके बूढ़वा भतार,

भैया कईसे सपरी,

होईहैं कईसे बेड़ा पार

भैया कईसे सपरी ॥"[27]

आत्मकथाओं में इन लोकगीतों का आना अकारण नहीं है बल्कि ये दलित समाज की जीवन-शैली का एक हिस्सा है। जिसके माध्यम से वे अपने सुख-दुःख को एक-दूसरे से बांटते हैं।

5.12 शिल्प- किसी भी रचना का शिल्प उसकी कथा का मेरुदंड के सदृश्य होता है जिसके अभाव में वह सजीवता के आधार को प्राप्त नहीं कर पाती है। और न ही पाठकों को अपने तरफ

[25] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पृष्ठ सं.-111
[26] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-106
[27] मुर्दहिया, पृष्ठ सं.-107

आकर्षित कर पाती है। शिल्प का साहित्य में बड़ा महत्त्व है। लेकिन जरुरी नहीं कि सभी साहित्यिक विधाओं का शिल्प एक ही तरह का हो। हरेक रचना कि अपनी अंतर्वस्तु के अनुसार शिल्प भिन्न-भिन्न होता है। चूँकि दलित आत्मकथा अपने प्रकार का में अलग है इसलिए उसका शिल्प भी अलग और विशेष है। लेकिन गैर-दलित आलोचक और लेखक दलित रचनाओं को शिल्प की अनगढ़ता का आरोप लगाकर कठघरे में खड़ा करते हैं। इसलिए दलित रचना के सन्दर्भ में शिल्प के बारे में दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं- "सवर्ण आलोचकों को दलित लेखन में कलात्मक अभिव्यक्ति की कमी दिखाई देती है। दलितों के कष्टमय जीवन की अभिव्यक्ति अभिजात भाषा में लपेटकर नहीं रखी जा सकती।"[28]

दलित कथा-साहित्य की भाषा को लेकर दलित चिंतक कंवल भारती कहते हैं कि- "मैं यहाँ स्पष्ट करना चाहूँगा कि बलात्कार की शिकार कोई भी स्त्री श्रृंगार की मोहक भाषा नहीं बोलेगी, गुलामी का जुआ ढो रहे व्यक्ति और अत्याचार से पीड़ित व्यक्ति की भाषा साहित्यिक नहीं होगी। वह बगावत की भाषा होगी।"[29]

हिदी के दलित लेखक श्यौराज सिंह 'बेचैन' शिल्प के बारे में कहते हैं कि- "परम्परागत शिल्प शास्त्री दलित साहित्य में सन्निहित वैसा ही शिल्प चाहते हैं, जैसा शिल्प देखने के वे अभ्यस्त हो गए हैं। वे नए विषय, नए सन्दर्भ और नए शिल्प जो दलित समाज, साहित्य और संस्कृति की पृथक संरचना के कारण अलग स्वरुप में हैं, गैर- दलित विद्वान इसे समझने की क्षमता नहीं रखते। इसलिए अपनी अयोग्यता को स्वीकार करने के बजाय वे अनधिकार दखलंदाजी करते हैं।"[30]

अतः हम कह सकते हैं कि दलित कथा-साहित्य शिल्पविहीन नहीं है। बल्कि वह पारम्परिक साहित्यिक शिल्प से अलग जरुर है। दलित आत्मकथाकार का जीवन-परिवेश जैसा होता है, वे जैसा अपमान और संघर्ष अपने जीवन में झेलते हैं, वैसा ही शिल्प उनकी रचनाओं में निर्मित हुआ है।

---

[28] हिंदी दलित कथा-साहित्य अवधारणाएं और विधाएं, पृष्ठ सं.-247
[29] हिंदी दलित कथा-साहित्य अवधारणाएं और विधाएं, पृष्ठ सं.-247
[30] हिंदी दलित कथा-साहित्य अवधारणाएं और विधाएं, पृष्ठ सं.-248

अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए आत्मकथाकारों ने कई जगह प्रतीकों और बिम्बों का भी सहारा लिया है। जैसे कि- "हमारे लिए रंगों का कोई मूल्य नहीं था। हमारे तो अपने रंग अलग थे जिनके संग जीने-मरने का नाता था। वे रंग थे गरीबी और अभाव के।"[31] जीवन में रंगों का होना खुशी का प्रतीक माना जाता है। लेकिन उसे लेखक ने 'गरीबी' अर्थात् दुःख के रूप में प्रयोग किया है। 'नागफनी' के लेखक ने पानी की बूंदों को दलित समाज के लिए कष्टों का प्रतीक माना है। वे कहते हैं कि- "जीवन में गरीबी, लाचारी, विपदाएँ, शोषण सभी पानी की बूंदों बन कर के गरीबों के घरों में प्रवेश करती हैं।"[32] इसके अतिरिक्त आत्मकथाकारों ने कई जगह दलित समाज को प्रेरित करने के लिए डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर को प्रतीक के रूप में इस्तेमाल किया है। और उन्हें अपना और अपने समाज के आदर्श के प्रतीक के रूप में भी रखा है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि दलित आत्मकथाओं में दलित समाज की यथार्थ की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। इस अभिव्यक्ति में वह पारंपरिक मान्यताओं एवं आदर्शों से भिन्न एक नयी सौन्दर्यशास्त्र की शैली को गढ़ते हैं। जिसमें कल्पना नहीं बल्कि सामाजिक सच है। इसकी भाषा वेदना और विद्रोह की भाषा है जिसमें समाज के बदलाव की चेतना साफ झलकती है।

[31] अपने-अपने पिंजरे (भाग-1), पृष्ठ सं.-42

[32] नागफनी, पृष्ठ सं.-110

उपसंहार

उपसंहार

जिस समाज में विचार-स्वातंत्र्य के लिए जगह नहीं होती, वह समाज और उसके व्यक्ति मानसिक तथा शारीरिक रूप से गुलाम होते हैं। भारतीय समाज के अंतर्गत हिन्दू समाज-व्यवस्था में व्यक्ति की ऐसी ही स्थितियाँ हैं। इसीलिए डॉ. अम्बेडकर को कहना पड़ा कि 'हर हिन्दू व्यक्ति अपने आप में गुलाम है और उसे किसी-न-किसी की गुलामी अनिवार्यता स्वीकार करनी ही पड़ती है'। चाहे उसे वेदों की गुलामी या फिर हिन्दू धर्म के तमाम धर्म-ग्रंथ हो, उसकी दासता को अपने सिर पर रखना ही पड़ता है, तभी वह हिन्दू कहला सकता है। इसीलिए डॉ. अम्बेडकर ने दलित वर्गों को सचेत करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था कि- अगर आपको वेदों सहित हिन्दू धर्म-ग्रंथों की गुलामी से और उसके विचारों से मुक्ति चाहिए तो इस तथाकथित हिन्दू धर्म को त्यागना पड़ेगा क्योंकि "जब तक आप हिन्दू धर्म में हैं और इस हिन्दू समाज-व्यवस्था के इस अंग के रूप में हैं तब तक आपको किसी भी प्रकार के विचार-स्वातंत्र्य की प्राप्ति असंभव है।" दलित साहित्य का आगमन इसी विचार-स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति और हिन्दू धर्म से मुक्ति है। यह कोई अचानक पैदा नहीं हुआ है। बल्कि इसके पीछे एक पूरा लम्बा इतिहास रहा है। यह इतिहास उन लोगों का रहा जो हिन्दू समाज में दलित, दमित, उपेक्षित और शोषित रहें, न केवल सामाजिक स्तर पर बल्कि आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्तर पर भी।

हिन्दी दलित आत्मकथाओं में अब तक कुल 14 आत्मकथाओं का लेखन हुआ है। जिनका समय 1995 ई. से लेकर 2015 ई. तक का है। जिनमें मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' का पहला भाग सन् 1995 ई. में तथा दूसरा भाग सन् 2000 ई. में प्रकाशित हुआ। इसी क्रम में ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' (भाग-1, 1997 ई. और भाग-2, 2015 ई.), कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप'(1999 ई.), कैलाशनाथ की 'तिरस्कार'(1999 ई.), डॉ. डी. आर. जाटव की 'मेरा सफ़र मेरी मंजिल' (सन् 2000 ई.), सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' (सन् 2002 ई.) और 'सन्तप्त'(सन् 2006 ई.), माता प्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन' (सन् 2002 ई.), नवेन्दु महर्षि की क्रमशः 'इंसान से ईश्वर तक'(भाग-1, 2006 ई.), 'मेरे मन की बाइबिल' (भाग-2, 2007 ई.) और 'रुकी हुई रोशनी'

(भाग-3, 2009 ई.), रूपनारायण सोनकर की 'नागफनी' (सन् 2007), डॉ. रमाशंकर आर्य की 'घुटन' (सन् 2007 ई.), प्रो० श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' (सन् 2009 ई.), डॉ० धर्मवीर की 'मेरी पत्नी और भेड़िया' (सन् 2009 ई.), डॉ. सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' (सन् 2011 ई.), प्रो० तुलसीराम की 'मुर्दहिया'(सन् 2012 ई.) और 'मणिकर्णिका' (सन् 2014 ई.) आदि को प्रमुख रूप से देखा जा सकता है। इन आत्मकथाओं का समय सन् 1995 से लेकर 2014 ई. तक का है। इन आत्मकथाओं में आजादी से पहले अर्थात् 1926 ई. से लेकर आजादी के बाद अब तक अद्यतन है। भारतीय समाज में कई दलित जातियाँ मौजूद हैं। लेकिन इन आत्मकथाओं में कुछ ही दलित जातियों के परिवार और समाज की घटनाओं का वर्णन हुआ है, जैसे कि- भंगी, खटिक, महार, चमार, दुसाध आदि। इसलिए इन आत्मकथाओं को सम्पूर्ण दलित जातियों का प्रतिनिधित्व तो नहीं कहा जा सकता। लेकिन इन आत्मकथाओं में यह संकेत मिलता है कि अन्य दलित जातियों की स्थिति भी लगभग इन्हीं दलित जातियों के समान है। साथ ही इन आत्मकथाओं में हिन्दू सवर्ण और मुस्लिम समुदायों के पारिवारिक और सामाजिक जीवन की स्थितियों का चित्रण भी मिलता है। इन आत्मकथाओं का भौगोलिक क्षेत्र उत्तर प्रदेश के पश्चिम तथा पूर्वी भाग, दिल्ली, नागपुर, कलकत्ता, आरा, पटना, महाराष्ट्र के चंद्रपुर, बम्बई, जबलपुर, देहरादून आदि हैं।

इन सभी दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त परिवार के पारिवारिक एवं सामाजिक स्थिति के अच्छी और बुरी दोनों स्वरूप दिखाई देते हैं। परिवारों की बात करें इनका स्वरूप संयुक्त और एकल दोनों मौजूद हैं तथा उनमें पितृसत्तात्मक समाज का स्वरुप ही दिखाई देता है।

भारतीय समाज की प्रधानता हिन्दू धर्म पर आधारित होने के कारण यह वर्ण-व्यवस्था और उसके अंतर्गत जाति-व्यवस्था पर टिका हुआ है। वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत सबसे ऊपर क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त है। इन चारों वर्णों की प्रत्येक श्रेणी में कई जातियों और उपजातियों का समूह है। इन समूहों का व्यवहार एक-दूसरे के साथ भिन्न-भिन्न है। 'अन्त्यज', 'पंचम वर्ण', 'अति शूद्र' या 'नाम शूद्र', 'अछूत' जो इस समाज-व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर आते हैं

दरअसल इन्हें ही 'दलित' की संज्ञा से नवाजा जाता है। सदियों से दलित समाज हिन्दू समाज व्यवस्था के अंतर्गत शोषित, उत्पीड़ित, दमित रहा है। जिसका स्वरुप आज भी हिन्दू समाज में देखा जा सकता है। वैदिक काल से लेकर आज के आधुनिक काल तक दलितों की स्थिति में आर्थिक स्तर पर बदलाव तो हुआ है, जिसका श्रेय संविधान आधारित भारतीय शासन-व्यवस्था को जाता है। लेकिन सामाजिक स्तर पर भेदभाव, छुआछूत अब भी पूरी तरह से खत्म नहीं हुआ है।

दलित साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से पहली बार दलितों के जीवन को यथार्थ रूप में लोगों के सामने रखा। दलित साहित्य के अंतर्गत कविता, कहानी, उपन्यास जैसी कई विधाओं का सूत्रपात हुआ। सभी ने दलित समाज की दशा का खुलकर चित्रण किया। लेकिन जिस विधा ने हिन्दी साहित्य को सबसे ज्यादा प्रभावित किया और लोगों का ध्यान दलित साहित्य की तरफ आकर्षित किया, वह दलित आत्मकथाएँ ही थीं। दलितों के जीवन की सशक्त अभिव्यक्ति पहली बार इन्हीं दलित आत्मकथाओं में उभरकर आई। दलित लेखकों ने अपने जीवन की पारिवारिक और सामाजिक अनुभूति को पहली बार बेहिचक लोगों के सामने रखा। उन्होंने यह बताया कि भारतीय समाज-व्यवस्था में एक ऐसा भी समाज है जो सदियों से ब्राह्मणवादी व्यवस्था का शिकार रहा है। जिसके साथ सवर्ण समाज ने पशुओं से भी बदतर व्यवहार किया है। जिन्हें हमेशा गुलाम बनने को मजबूर किया गया। धर्म, ईश्वर और पुनर्जन्म का सहारा लेकर हमेशा इनका शोषण किया गया।

दलित आत्मकथाओं में दलित परिवार और समाज के ग्रामीण और शहरी दोनों रूप देखने को मिलते हैं। जहाँ एकल और संयुक्त दोनों तरह के परिवार मौजूद है। किसी परिवार में आपसी सम्बन्ध मजबूत हैं तो कहीं बिखरे हुए हैं। आर्थिक कमजोरी और गरीबी के कारण परिवार में कई तरह के मतभेद और कलह भी हैं। पारिवारिक रिश्तों में विघटन और पलायन की स्थिति भी नजर आती है। पारिवारिक स्थिति ऐसी है कि कई बार लोगों को भूखे पेट ही सोना पड़ता है। बच्चों को कम उम्र में ही आर्थिक मजबूरी के वजह से शारीरिक श्रम करना पड़ता है। उदाहरण के रूप में श्यौराज सिंह 'बेचैन', सूरजपाल चौहान की आत्मकथाओं में देखा जा सकता है। दलित परिवारों में लोगों का कम उम्र में ही विवाह हो

जाता है। विवाह के संदर्भ में सवर्णों के यहाँ वैवाहिक सम्बन्ध में जहाँ गोत्रीय प्रणाली को देखा जाता है वहीं दलित परिवारों में ऐसी कोई गोत्रीय प्रणाली नहीं है। परिवार में विधवा विवाह का प्रचलन है। सामाजिक रूप से बहिष्कृत होने के कारण सवर्ण परिवारों का व्यवहार दलितों के साथ अच्छा नहीं रहता है। लगभग 80 % दलितों की पारिवारिक स्थिति अब भी गरीबी में जिन्दगी जीने को मजबूर है। आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण परिवार की हालत बहुत ही ख़राब होती है। इन आत्मकथाओं में दलित परिवार का जो चित्रण है वह कुछ ऐसा ही है। गरीबी के कारण ही परिवार के लोग गाँव के सवर्णों के यहाँ हरवाही या मजदूरी करने को विवश रहते हैं। दलित स्त्रियों की हालत तो और भी ख़राब है। सामाजिक रूप से स्वतंत्र माने जाने वाली दलित स्त्रियाँ घर के बाहर सवर्णों द्वारा प्रताड़ित तो होती ही है अपने परिवार में भी पुरुषों के द्वारा प्रताड़ित होने को मजबूर रहती है। उनकी स्थिति परिवार में दोयम दर्जे की रहती है। लेकिन दूसरी तरफ दलित परिवार का दूसरा रूप भी दिखाई देता है। जो दलित परिवार शिक्षा के द्वारा नौकरी पा गए हैं और शहरों में रह रहे हैं। उनकी आर्थिक स्थिति अन्य दलित परिवारों से काफी बेहतर है। लेकिन ऐसी संख्या बहुत ही कम है।

ग्रामीण क्षेत्र में रहने वाले कुछ ही दलितों के पास उनकी अपनी जमीनें हैं। लेकिन वे इतनी कम हैं कि उनसे उनका गुजारा हो पाना संभव नहीं हो पाता है। जिसके कारण गाँव के सवर्ण जमींदारों के यहाँ हरवाही तथा मजदूरी करने को विवश रहते हैं। दिनभर काम करने के बावजूद भी मजदूरी इतनी कम मिलती है कि उनसे उनके परिवार का गुजारा नहीं हो पाता। इसलिए आजीविका की तलाश में वे शहरों की तरफ भी पलायन करते हैं।

दलित आत्मकथाओं में अगर दलितों की सामाजिक स्थितियों को देखें तो स्पष्ट नजर आता है कि सवर्णों का व्यवहार दलितों के प्रति अच्छा नहीं है। उनके साथ जातिगत भेदभाव और छुआछूत का व्यवहार अब भी हो रहा है। आजादी के बाद भी परिस्थितियाँ में ज्यादा सुधार नहीं हुआ है। दलित अब भी सवर्णों के खेतों में उनकी हरवाही करने को मजबूर हैं। अगर वह इससे पलायन कर शहरों के तरफ जा भी रहा है तो पढ़े-लिखे न होने के कारण वहाँ भी मजदूरी ही कर रहा है। गाँवों में सरकारी स्कूलों की

स्थिति ऐसी है कि पढ़-लिख लेने के बाद भी ज्ञान का स्तर नीचा रहता है। ऊपर से सवर्ण शिक्षकों का व्यवहार दलित बच्चों के मानसिक स्तर को और गिरा देता है। अगर कोई युवक किसी तरह उच्च शिक्षा प्राप्त भी कर ले तो उसे आसानी से नौकरी नहीं मिलती है। जागरूकता के अभाव के कारण संवैधानिक अधिकारों का लाभ भी नहीं ले पाते हैं। पुलिस और क़ानून के भय से वे किसी तरह का प्रतिरोध भी नहीं कर पाते। दलित स्त्रियों की हालत तो और भी गंभीर है। क्योंकि एक तो वह दलित होती है और अपने पुरुषों द्वारा और भी प्रताड़ित होती हैं।

आर्थिक रूप से कमजोर होने के नाते दलित वर्ग के लोगों को कई तरह की समस्याओं से भी जूझना पड़ता है। उनके पास कृषि के लिए जमीन न होने के कारण हमेशा खाने की समस्या रहती है। स्थिति यहाँ तक रहती है कि उन्हें सवर्णों के जूठन तक पर निर्भर रहना पड़ता है। इन आत्मकथाओं में यह भली-भाँति देखा जा सकता है। पैसों के अभाव में वे अपना इलाज भी नहीं करवा पाते हैं जिसके चलते वे समय से पहले ही मृत्यु के ग्रास में चले जाते हैं। आजादी के इतने साल बीत जाने के बाद भी उनके आर्थिक हालात में कोई विशेष बदलाव नहीं हुआ है। अब भी भूख की समस्या से दलित तबका जूझता रहता है। सरकार द्वारा दलितों के लिए खाद्यान्न सम्बन्धी कई योजनाएँ चलाई जाती हैं। भूख की समस्या से कोई भी न मरे, इसके लिए कई अतिरिक्त कारगर योजनाएँ भी चलाई जाती हैं। फिर भी इससे दलितों की समस्याओं का पूर्ण समाधान नहीं हो पाता है। तो इसका कारण उच्च पदों पर आसीन अधिकारी और नेता हैं जो आपस में मिलकर इनके (दलित) लिए आवंटित सरकारी राशि को डकार जाते हैं। इन आर्थिक समस्याओं को यथार्थ रूप में इन आत्मकथाओं में देखा जा सकता है। आर्थिक कमजोरी के कारण ही दलित प्रायः अनपढ़ और अशिक्षित रह जाते हैं। क्योंकि उनके पास पैसों का सदा अभाव रहता है। व्यक्ति की प्रथम समस्या पेट की होती है, वह चाहे दलित हो या सवर्ण। इसीलिए दलितों को और उनके बच्चों को कम उम्र में ही मजदूरी या हरवाही करनी पड़ती है। बहुत कम ऐसे दलित होते हैं जो मजदूरी के साथ अपनी पढ़ाई भी कर पाते हैं। इस संदर्भ में प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' को प्रेरक के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन ऐसे दलित बच्चे बहुत कम हैं। श्यौराज जी बताते हैं कि 'अब भी उनके

साथी-मित्र और उनके समाज के दलित बच्चे मजदूरी का काम करते हैं। आज भी आर्थिक तंगी के कारण बहुत से दलित, मजदूरी के लिए रोजाना दिल्ली, कोलकाता, मुंबई, पंजाब, बंगलौर जैसे शहरों में जाने को विवश हैं।' इसके अतिरिक्त दलितों में यह पलायन शिक्षा तथा जातिगत अपमानों से मुक्ति के संदर्भ में भी दिखाई देता है। मोहनदास नैमिशराय कहते हैं कि बंबई शहर में गरीबी थी लेकिन जाति की समस्या वहाँ नहीं थी। वहीं शिक्षा और रोजगार के संदर्भ में गाँवों से शहरों की तरफ पलायन की प्रवृत्ति 'जूठन', 'मेरा सफ़र मेरी मंजिल', 'घुटन', नागफनी', झोपड़ी से राजभवन' आदि में देखी जा सकती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले देश की राजनीतिक व्यवस्था पर पूरा अधिकार सवर्ण समुदाय का ही था, लेकिन आजादी के बाद इसमें परिवर्तन देखने को मिलता है। आजादी से पहले एकमात्र दलित नेता डॉ. अम्बेडकर ही थे। जिन्होंने दलितों के हक और अधिकार के लिए राजनीतिक लड़ाई लड़ी। इनके विचारों से प्रभावित होकर दलितों के बीच कुछ और भी दलित नेता उभरकर आए, जैसे- बी. पी. मौर्य और जगजीवन राम आदि। इन लोगों ने दलितों के हक की बात तो की, लेकिन बीच-बीच में अपने मुद्दों से भटकते भी रहे। राजनीति के क्षेत्र में भी इन दलित नेताओं के साथ जातिगत भेदभाव का व्यवहार किया जाता था। जिसकी आलोचना माता प्रसाद की आत्मकथा में देखी जा सकती है। लेकिन समय के साथ राजनीति में दलितों की भागीदारी से दलित समुदाय के लोगों में व्यापक परिवर्तन भी दिखाई देते हैं।

धर्म के तहत दलितों का शोषण करना, उन्हें मानवीय अधिकारों से वंचित करना आदि का चित्रण करना दलित आत्मकथाओं का प्रमुख लक्ष्य रहा है। हिन्दू धर्म में दलितों का विश्वास होने के बावजूद भी वे हिन्दू मंदिरों में प्रवेश नहीं कर सकता था। अगर करता तो सवर्णों द्वारा उसकी पिटाई कर दी जाती थी। इन आत्मकथाओं में ऐसे उदाहरण देखे जा सकते हैं। इसी के फलस्वरूप दलितों के स्वयं के कई देवी-देवता पैदा हो गए थे। आज भी गाँवों में दलितों के घरों में ऐसे देवी-देवता हैं जो केवल उनके ही घरों में मिलते हैं। अनपढ़ होने के कारण पंडितों और साधुओं द्वारा उनका धार्मिक शोषण भी खूब किया जाता है। अशिक्षा के कारण वे जल्द ही भाग्य और ईश्वर पर विश्वास कर लेते हैं। और वे मानते हैं कि आज जो वे गरीबी और गुलामी का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वे सब उनके पिछले जन्मों के कर्मों का

फल है। इसके अलावा कई सारे धार्मिक और सांस्कृतिक रीति-रिवाज जो पहले मौजूद थें, जैसा कि इन दलित आत्मकथाओं में वर्णन किया गया है, वे अब भी उसी तरह मौजूद हैं।

हम कह सकते हैं कि दलित आत्मकथाएँ दलित समाज की वास्तविकता को लोगों के सामने रखती हैं। ये केवल साहित्यिक कृतियाँ भर नहीं हैं, बल्कि ऐतिहासिक दस्तावेज भी हैं। ये आत्मकथाएँ केवल दूसरों या सामने वाले की कमियों को ही उजागर नहीं करती, बल्कि स्वयं की सामाजिक कमियों को भी उजागर करती हैं। दलित अब भी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक अस्मिता की तलाश में है। अतः जब तक इस तरह की समस्याएँ समाज में मौजूद रहेंगी, ये आत्मकथाएँ प्रासंगिक रहेंगी।

सन्दर्भ-ग्रंथ सूची

सन्दर्भ-ग्रंथ सूची

1. आधार-ग्रंथ

1. अपने-अपने पिंजरे (भाग-1 एवं 2) – मोहनदास नैमिशराय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2009 एवं 2006
2. घुटन – डॉ. रमाशंकर आर्य, नेहा प्रकाशन, दिल्ली, सं.- 2007
3. जूठन (भाग-1 एवं 2) – ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, सं.-2011 एवं अगस्त 2015
4. झोपड़ी से राजभवन – माता प्रसाद, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2011
5. तिरस्कृत – सूरजपाल चौहान, अनुभव प्रकाशन, गाजियाबाद (उ.प्र.), सं.- 2005
6. दोहरा अभिशाप – कौसल्या बैसंत्री, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, सं.1999
7. नागफनी – रूपनारायण सोनकर, शिल्पायन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, सं.- 2011
8. मणिकर्णिका – प्रो. तुलसीराम, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, सं.- 2014
9. मुर्दहिया – प्रो. तुलसीराम, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, सं.- 2012
10. मेरा सफ़र, मेरी मंजिल - डॉ. डी. आर. जाटव, समता साहित्य सदन, जयपुर (राजस्थान), सं.- 2015
11. मेरा बचपन मेरे कंधों पर – प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन',वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2009
12. मेरी पत्नी और भेड़िया – डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2009
13. शिकंजे का दर्द- डॉ. सुशीला टाकभौरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2011
14. संतप्त – सूरजपाल चौहान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2006
15. इंसान से ईश्वर तक (प्रथम भाग) – नवेन्दु महर्षि, मेधा बुक्स, दिल्ली, सं.- 2009
16. मेरे मन की बाइबिल (दूसरा भाग) – नवेन्दु महर्षि, मेधा बुक्स, दिल्ली, सं.- 2007
17. रुकी हुई रोशनी (तीसरा भाग) – नवेन्दु महर्षि, प्रखर प्रकाशन, दिल्ली, सं.-2011

2. सहायक-ग्रंथ

18. अम्बेडकरवादी साहित्य की अवधारणा – तेज सिंह, प्रकाशक लोकमित्र, दिल्ली, सं.- 2012

19. अम्बेडकरवादी स्त्री-चिंतन – संपा.-तेज सिंह, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2011

20. अछूत कौन और कैसे – डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर, गौतम बुक सेण्टर, दिल्ली, सं.- 2011

21. आत्मकथा की संस्कृति – पंकज चतुर्वेदी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. – 2011

22. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन – एम. एन. श्रीनिवास, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, सं.- 2011

23. आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श – देवेन्द्र चौबे, ओरियंट ब्लैकस्वान प्रा. लि., नई दिल्ली, सं.- 2009

24. काव्य के रूप- गुलाब राय, आत्मराम एंड सन्स, नई दिल्ली, सं.-1987

25. ग्रामीण समाजशास्त्र – वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, सं.- 1999

26. ग्रामीण सामाजिक संरचना और परिवर्तन – डॉ. सुधीर कुमार राय, नीलकमल प्रकाशन, गोरखपुर (यू.पी.), सं.- 2006

27. डॉ. अम्बेडकर के भाषण – संपा. एस.एस गौतम, गौतम बुक सेण्टर, दिल्ली, सं.-2009

28. डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर - डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, सं.- 2012

29. डॉ. अम्बेडकर के भाषण - भगवान दास, गौतम बुक सेन्टर, नई दिल्ली, सं.-2010

30. दलित दृष्टि – गेल ओमवेट (अनु.- रमणिका गुप्ता एवं अकिल कैस), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2011

31. दलित और प्रजातान्त्रिक क्रान्ति- गेल ओमवेट (अनु.- नरेश भार्गव), रावत पब्लिकेशन, जयपुर, सं.-2009

32. दलित नारी : एक विमर्श – संपादन ज्ञानेन्द्र रावत, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.-2014

33.दलित साहित्य का समाजशास्त्र – हरिनारायण ठाकुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, सं.- 2010

34.दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र – ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, सं.- 2011

35.दलित विमर्श की भूमिका – कँवल भारती, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, सं.- 2007

36.दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर – डॉ. विमल थोरात, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, सं.- 2010

37.दलित साहित्य के प्रतिमान – डॉ. एन. सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2012

38.दलितों का इतिहास (अतीत एवं वर्तमान के आईने में) – डॉ. मुकेश भूषण, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, सं.- 2010

39. दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार- डॉ. रमणिका गुप्ता, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.-2011

40.दलित साहित्य समग्र परिदृश्य - सं.- डॉ. मनोहर भंडारे, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2013

41. दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम- डॉ. एन. सिंह,हिन्दी बुक सेन्टर, नईदिल्ली, सं.- 2009

42.दलित मुक्ति आन्दोलन सीमाएं और संभावनाएं - डॉ. सुभाष चन्द्र, आधार प्रकाशन प्रा. लि., पंचकूला (हरियाणा), सं.- 2010

43.दलित विमर्श के विविध आयाम - डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, सं.- 2010

44. दलित वैचारिकी की दिशाएं- संपा.- बद्री नारायण, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.-2008

45. दलित साहित्य एक मूल्यांकन – प्रो. चमनलाल, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, सं.- 2009

46.दलित साहित्य : बुनियादी सरोकार – डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2009

47.दलित आत्मकथाएं : अनुभव से चिंतन - सुभाष चन्द्र, साहित्य उपक्रम, दिल्ली, सं.- 2012

48. दलित हस्तक्षेप (रमणिका गुप्ता) – संपा.-ओमप्रकाश वाल्मीकि, अक्षर शिल्पी, दिल्ली, सं.- 2008

49.धर्म बनाम अंधविश्वास - मुद्राराक्षस, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, सं.- 2011

50. नातेदारी एवं विवाह – रॉबिन फॉक्स (अनु.- डॉ. रामकृष्ण वाजपेयी), हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सं.- 1992

51. परिवार में सौहार्द्र – क्षमा गोस्वामी, ज्ञान भारती प्रकाशक, दिल्ली, सं.- 2005

52. प्रसार एवं ग्राम – डॉ. ओमप्रकाश दाहमा, रामप्रसाद एण्ड संस, आगरा, सं.-1967

53. प्राचीन भारत का इतिहास – डॉ. अमर कान्त सिंह, मेखला प्रकाशन, दिल्ली, सं.-2012

54. प्राचीन भारतीय धर्म : उद्भव एवं स्वरुप – डॉ. आनन्द सिंह, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सं.- 2010

55. प्राचीन भारत का परिचय – रामशरण शर्मा, ओरियंट ब्लैकस्वान प्रा. लि., नई दिल्ली, सं.- 2009

56.पेरियार ई.वी. रामास्वामी नायकर जीवन-दर्शन - अजय कुमार, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, सं.- 2009

57.बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय (खंड-1 से 21 तक) - प्रकाशन-डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, सं. –अक्टूबर 2013

58. भारत में समाज – डॉ. अभिषेक शर्मा, डी. पी. एस. पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं.- 2012

59. भारत में परिवार, विवाह और नातेदारी – शोभिता जैन, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, सं.- 2010

60. भारत की सामाजिक समस्याएँ – प्रकाश नारायण नाटाणी, प्रज्ञा शर्मा, पोइंटर पब्लिशर्स, जयपुर, सं.- 2000

61. भारत की सांस्कृतिक विरासत – डॉ. दिनेश मांडोत, अंकित पब्लिकेशन्स, जयपुर, सं.- 2010

62. भारत की प्रारम्भिक संस्कृतियाँ एवं सभ्यताएँ – डॉ. हरिनारायण दुबे, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, सं.- 2003

63. भारतीय इतिहास- अबदुस्सलाम, डी. पी. एस. पब्लिकेशन, नई दिल्ली, सं.-2013

64. भारतीय ग्रामीण-समाजशास्त्र – ए. आर. देसाई (अनु.- हरिकृष्ण रावत), रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, सं.-1997

65. भारतीय सामाजिक-व्यवस्था – राम आहूजा, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, सं.- 2015

66. भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ - डी.आर. जाटव, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, सं.- 1997

67. भारतीय समाज : संरचना और परिवर्तन – शम्भूलाल दोषी और प्रकाश चन्द्र जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, सं.-2007

68. भारतीय संस्कृति की रूप रेखा - पृथ्वीकुमार अग्रवाल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं.- 2000

69. भारतीय संस्कृति - शिवदत्त ज्ञानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं.- 2003

70. भूगोल – अजय कुमार, उपकार प्रकाशन, आगरा, यू.पी., सं.-2013

71. मध्यकालीन भारत- संपादक- इरफ़ान हबीब, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.-1993

72. मानव समाज – राहुल सांकृत्यायन (संशोधनकर्ता- महादेव साहा), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं.- 1986

73. महात्मा जोतिबा फुले रचनावली (भाग- 1 और 2) – अनु. एवं संपा.- डॉ. एल. जी. मेश्राम 'विमलकीर्ति', राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, सं.- 2009

74. मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्रकाश वाल्मीकि, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.- 2010

75. मनुष्यता के आईने में दलित साहित्य का समाजशास्त्र - निरंजन कुमार, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, सं.- 2010

76. मेरी आत्मकथा- रवीन्द्रनाथ टैगोर, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, सं.-2002

77. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत- गोविन्द त्रिगुणायत, भारत साहित्य प्रकाशन मन्दिर, सं.-1962

78. शूद्रों का प्राचीन इतिहास – रामशरण शर्मा, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, सं.- 2009

79. समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध – अनिता भारती, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.-2013

80. सामाजिक विचारधारा कॉम्ट से मुकर्जी तक – रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, सं.- 1999

81.समाजशास्त्र (समस्याओं और साहित्य का अध्ययन) - टी. बी. बॉटमोर (अनु.-गोपाल प्रधान), ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्रा. लि., दिल्ली, सं.- 2004

82.समाजशास्त्र - डॉ. जी.एल. शर्मा, उपकार प्रकाशन, आगरा (यू.पी.), सं.-2014

83.समाजशास्त्र : अवधारणाएँ एवं सिद्धांत - जे.पी. सिंह, पी.एच.आई. लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, सं.-2013

84.समाजशास्त्र के मूलतत्व - जे.पी. सिंह, पी.एच.आई. लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, सं.-2014

85.संस्कृति के चार अध्याय- रामधारी सिंह 'दिनकर', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. -2008

86. सांस्कृतिक इतिहास एक तुलनात्मक सर्वेक्षण – देवेश विजय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सं.- 2009

87. हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य (खण्ड एक) - भगवान सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, सं.- 1987

88. हाशिये की वैचारिकी- संपा.- उमाशंकर चौधरी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्युटर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, सं.-2008

89.हिन्दी दलित साहित्य - मोहनदास नैमिशराय, साहित्य अकादेमी नई दिल्ली, सं. – 2011

90.हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं.- 2006

91. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली- डॉ. अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.-2009

92.हिन्दी आत्मकथा : स्वरूप-विवेचन और विकासक्रम – डॉ. सविता सिंह, शैलजा प्रकाशन, कानपुर, सं.-2009

93. हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा- माता प्रसाद, गौतम बुक सेन्टर, नई दिल्ली, सं.-2010

94.हिंदी दलित कथा-साहित्य : अवधारणाएँ और विधाएं - डॉ. रजत रानी 'मीनू', अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, सं.- 2011

95.हिन्दी का गद्य-साहित्य - डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं.- 2006

96.हिन्दी साहित्य का इतिहास – संपा.- डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, सं.- 2005

97.हिन्दू बनाम हिन्दू - एम. राममनोहर लोहिया, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं.- 2012

3. पत्र-पत्रिकाएँ

1. अपेक्षा – संपा.-तेज सिंह, वर्ष 10, अंक 36-37, जुलाई-दिसंबर 2011
2. अपेक्षा – संपा. तेज सिंह, वर्ष 11, संयुक्तांक 42-43, जनवरी-जून 2013
3. उत्तर प्रदेश (दलित साहित्य विशेषांक) – संपा.- विजय राय, वर्ष : 30, अंक-1,सितम्बर-अक्टूबर 2002

4. कथाक्रम- दलित विशेषांक, नवम्बर- 2002
5. जनसत्ता (दैनिक), दिल्ली, 25 नवम्बर-2001
6. दलित अस्मिता – संपा. विमल थोरात, वर्ष-3, अंक-11, अप्रैल- जून 2013, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ दलित स्टडीज, नई दिल्ली
7. दलित साहित्य (वार्षिकी) 2012 – संपा.- डॉ. जयप्रकाश कर्दम, वर्ष :14, अंक : 12, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद
8. दलित साहित्य (वार्षिकी) 2007-2008 – संपा.- डॉ. जयप्रकाश कर्दम, वर्ष : 9, अंक : 9, अकादमिक प्रतिभा, दिल्ली
9. बया – संपा.- गौरीनाथ, वर्ष : 9, जनवरी-मार्च, 2014, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद
10. वसुधा- संपा.- कमला प्रसाद, अंक-58, जुलाई-सितम्बर-2003

4. वेब-सामग्री

1. www.sahitykunj.net/pustak/samaj aur sanskriti-amrit/03-paarivarik-jivan.
2. https://hi.wikipedia.org/s/eo1
3. http://www.sahityakunj.net/Pustak/SamajAurSanskriti_Amrit/saaNskrit_evam_saamajik_jeevan.htm
4. bharatdiscovery.org/india/मानव_प्रजातियाँ
5. https://hi.wikipedia.org/wiki/जाति
6. http://www.hindikiduniya.com/india/social-issues/gender-inequality/